घनानंद-कवित्त

(भाष्येंदुशेखर)

—प्रथम आनन—

(प्रथम शतक)

भूमिका-लेखक

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

भाष्यकार

साहित्याचार्य चंद्रशेखर मिश्र शास्त्री,

एम्० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

घनानंद—कवित्त

(भाष्येंदुशेखर)

—प्रथम आनन—

(प्रथम शतक)

भूमिका-लेखक

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

भाष्यकार

साहित्याचार्य चंद्रशेखर मिश्र शास्त्री,

एम० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

वाणी वितान प्रकाशन

ब्रह्मनाल, वाराणसी-१

प्रकाशक
चंद्रप्रकाश
वाणी-वितान प्रकाशन
ब्रह्मनाल, वाराणसी-१

प्रथम संस्करण : २०१७
द्वितीय संस्करण : २०२२
तृतीय संस्करण : २०२८
चतुर्थ संस्करण : २०२९
पंचम संस्करण : २०३२

मूल्य : आठ रुपये

मुद्रक
हरनंदन दफ्तरी
विनायक प्रेस
साक्षीविनायक, वाराणसी ।

निवेदन

हिंदी साहित्य की लगभग एक सहस्र वर्षों की दीर्घकालीन परंपरा में जिन कवियों की देन महत्वपूर्ण है उनमें स्वच्छंदमार्गी घनानंद का नाम अनन्य-साधारण है। भारतीय साहित्य में सबसे विशेष प्रकार का गुण यह है कि यह किसी अन्य साहित्य के स्वकीय प्रवाह को ग्रहण करते हुए भी अपने गुण का लोप नहीं करता। दूसरे शब्दों में अपने ही प्रवाह में उसे मिला लेता है। प्रधान और सहायक की-सी स्थिति रहती है। सहायक नदी अपने अस्तित्व का प्रधान नदी में लोप कर देती है। इस प्रकार सहायक नदी का सारा जल प्रधान नदी के रूप में ही अभिहित होता है। घनानंद इस विशेषता से परिचित थे। इसी से उन्होंने भारतीय साहित्य-प्रवाह में अपनी शक्ति द्वारा विदेशी प्रवाह को मिला दिया है। ऐसा करना सरल कार्य नहीं है। जो दोनों साहित्य प्रवाहों में नदीष्ण हो वही ऐसा कर सकता है। निश्चय ही भारतीय साहित्य की धारा प्राचीन और पुष्ट है। जो इसमें दूसरी धारा मिलाने का प्रयास करेगा उसके स्वतः बह जाने की संभावना है। घनानंद ने काव्यप्रवाह का ऐसा मेल किया है कि सहसा मेल की प्रतीति हो ही नहीं सकती। उनका सबसे बड़ा प्रयास यही है। फारसी या उर्दू की ओर से जो हिंदी-काव्य में प्रवृत्त होते हैं वे एक तो वहाँ की शब्दावली लाकर घोषणा करते हैं कि हम कहाँ से बहते चले आ रहे हैं। घनानंद की रचना में फारसी या अरबी के शब्दों का प्रयोग नहीं है। हिंदी के मध्यकाल में फारसी के साहित्य प्रवाह द्वारा अनेक कवि बहे, उन्होंने पड़े प्रभाव को अंतर्लीन नहीं किया, परकीय छाप शब्दों की छाप से तुरंत व्यक्त हो जाती है।

फारसी-भाषा मुहावरों पर सर्वाधिक केंद्रित रहती है। वहाँ मुहावरों के आधार पर ही काव्योक्तियाँ खड़ी हो जाती हैं। उर्दू ने उसकी इस विशेषता को भरपूर ग्रहण किया। घनानंद ने मुहावरों के प्रयोग की पद्धति पर फारसी से ली, पर मुहावरे हिंदी के ही प्रयुक्त किए। उर्दू में बहुत से मुहावरे फारसी [illegible]

कर सकना उसी के लिए संभव है जो हिंदी भाषा पर पूरा अधिकार रखता हो। इनका व्रजी पर पूरा अधिकार स्पष्ट दिखाई देता है। ये 'व्रजभाषा-प्रवीण' निश्चय ही थे।

फारसी में प्रेम का वैषम्य और उस वैषम्य को व्यक्त होनेवाले जुगुप्सा-व्यंजक धर्मव्यापार का भी ग्रहण होता है। भारतीय काव्यशास्त्र भी जुगुप्सा-व्यंजक स्थिति का संयोग में निषेध करता है, पर वियोग में नहीं। फिर भी भारतीय परंपरा ने वियोग में जुगुप्साव्यंजक स्थितियों का उल्लेख करने का अभ्यास नहीं डाला। घनानंद ने शास्त्र की चिंता नहीं की, परंपरा का ध्यान रखा और वियोगप्रधान रचना करते हुए भी जुगुप्साव्यंजक स्थितियों का विनियोग नहीं किया।

घनानंद में भारतीय आशावाद भी सुरक्षित है। फारसी का प्रेम-वैषम्य आने पर भी आशावाद कहीं कम नहीं हुआ। इसमें भी इनकी दूर-दर्शिता लक्षित होती है। इन्होंने अपनी रचना में रहस्यात्मक संकेत यथास्थान दिए हैं, किंतु प्रेम के आलंबन के रूप में हिंदी साहित्यप्रवाह के अनुकूल राधाकृष्ण को ही लिया है। निर्गुण को न लेकर सगुण को ग्रहण करने से रहस्यात्मकता की वैसी स्थिति कहीं नहीं है जैसी हिंदी के ही अन्य प्रमुख सूफी कवियों में पाई जाती है। इस प्रकार घनानंद की स्वच्छ और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है।

ऐसे सूक्ष्मेक्षिकासंपन्न कवि की रचना की ओर ध्यान यद्यपि आधुनिक युग में भारतेंदु बाबू के समय से ही गया, पर पठन-पाठन में इसको सबसे पहले स्थान आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने ही दिया। फिर भी आचार्यजी जैसा चाहते थे वैसा उद्योग इनकी रचना के संपादन का नहीं कर सके। इस कार्य को उन्हीं की परंपरा के प्रतीक पूज्य पिताजी ने संपन्न किया। 'घनानंद-कवित्त' का संपादन करने के अनंतर इनकी वृहद् ग्रंथावली का भी संपादन करके इस अत्यंत समर्थ पर उपेक्षित कवि को हिंदी-जगत के सामने प्रतिष्ठित कर दिया। जहाँ भी हिंदी की उच्च स्तर की पढ़ाई होती है वहाँ अब घनानंद की रचना अनिवार्य रूप में रखी जाती है। जितना अधिक श्रम पूज्य पिताजी ने इस कार्य के निष्पादित करने में किया है उसे

उनके निकट रहनेवाले ही जानते हैं। पर जब घनानंद की रचना पढ़ाई में सर्वत्र हो गई तो कुछ अर्थलिप्सुओं ने 'घनानंद-कवित्त' के अपेक्षित अंश ज्यों के त्यों मुद्रित कराकर और उक्त पुस्तक की पादटिप्पणी से शब्दार्थ भी प्रायः ज्यों का त्यों लेकर अपनी पुस्तकें प्रकाशित करा दीं। इनमें उन्होंने अपनी ओर से कवित्तों का अर्थ देने का जहाँ-जहाँ प्रयास किया वहाँ-वहाँ भयंकर भूलें हो गई हैं। उनके कुछ हितेच्छुओं ने भूमिका लिखकर उनके प्रयास को सर्वोत्तम कहा। कोई प्रयास सर्वोत्तम हो तो उसे वैसा कहना ठीक ही है, पर अर्थ के दास भला घनानंद की रचना का अर्थ ठीक-ठीक कैसे कर सकते। उनके द्वारा प्रस्तुत अर्थ से हिंदी के जिज्ञासु-जगत में होनेवाले अनर्थ ने मुझे चिंतित कर दिया। इस चिंता की मुक्ति के उद्योग में यह भाष्येंदुशेखर लिखा गया है।

घनानंद की कृति में अर्थ-संपत्ति बिहारी आदि की रचना की अपेक्षा पर्याप्त-पुष्कल है। फिर भी साहित्य की परंपरा ने बिहारी की सतसैया पर जितनी टीकाएँ, पल्लवन, उपबृंहण आदि का प्रयास किया, उतना क्या, कोई प्रयास घनानंद के संबंध में नहीं हुआ। इसका कारण क्या है? घनानंद के कुछ चुने हुए छंद ही परंपरा को मिले, उनकी कृतियाँ फैल ही नहीं सकीं। व्रजनाथ ने उनके कवित्तों का संग्रह विशेष कठिनाई से किया था जिसका उन्होंने उल्लेख किया है। एक कारण तो यह है। दूसरा कारण यह है कि इनकी रचना की शैली इतनी गूढ़ है कि रत्नाकरजी ऐसे व्रजभाषा-मर्मज्ञ व्यक्ति ने जब 'घनानंद-कवित्त' का 'सुजानसागर' के नाम से सर्वप्रथम संपादन किया तो सैकड़ों स्थानों पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाए। जब रत्नाकरजी के लिए घनानंद की रचना के पर्याप्त अंश गूढ़ थे तो भला अन्य उस पर टीका-टिप्पणी का साहस करता तो कौन करता।

तीसरी कठिनाई यह भी थी कि इसके लिए श्रोता का स्तर भी कुछ ऊँचा होना चाहिए। ऊँचे स्तर के श्रोता या पाठक संख्या में बहुत कम मिलते हैं। घनानंद की रचना हिंदी की उच्च परीक्षाओं में ही रखी गई है और नीचे की कक्षाओं में उनके कुछ चुने हुए ही छंद संगृहीत किए गए हैं।

यदि परीक्षा का प्रपंच न होता तो इनकी रचना की टीका-टिप्पणी की ओर बहुतों के हाथ न बढ़ते।

मैंने टीका से संतोष न करके भाष्य लिखने का प्रयास किया है। मेरी धारणा है कि थोथी टीका से घनानंद की गूढ़ रचना का रहस्य नहीं जाना जा सकता। टीका में तत्त्वतः अर्थ की स्थूल रूपरेखा मात्र आ सकती है। टीका तिलक की भाँति बाहर से भड़कीली होती है अर्थात् टीका कृति के बहिरंग का ही अधिक स्पर्श करती है। उसके अंतर में प्रवेश का प्रयास भाष्य के माध्यम से ही हो सकता है। दूसरा स्पष्ट भेद यह है कि टीका में विस्तार नहीं हो सकता। जहाँ किसी शब्द का कुछ अर्थ खोलना है वहीं वह कुछ सूक्ष्मता की ओर प्रवृत्त होती है। पर भाष्य में एक तो प्रत्येक शब्द का विचार किया जाता है दूसरे उसमें विस्तार पर्याप्त होता है। टीका और भाष्य में पौधे और वृक्ष का-सा अंतर है। भाष्य के लिए कहा ही गया है—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥—पराशरपुराण।

मूल के प्रत्येक पद के क्रम से जहाँ वर्णन हो और साथ ही भाष्य लिखने-वाला अपने शब्दों में भी उन सबका रहस्य खोलता चले वही भाष्य हो सकता है। माघ ने शिशुपालवध में लिखा है—

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्येव वाक्यस्यार्थगरीयसः।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे॥

प्रकरण के अनंतर इसमें चूर्णिका के अंतर्गत शब्दों का अर्थ दिया गया है। पद्य की गद्य में सरल टिप्पणी का नाम 'चूर्णिका' है। टीका के लिए हिंदी का 'तिलक' शब्द रखा गया है। फिर 'व्याख्या' के अंतर्गत शब्दशः भाष्य दिया गया है। व्याकरण, अलंकार तथा अन्य ज्ञातव्य विषयों का कहीं पृथक् विचार है और कहीं भाष्य (व्याख्या) के भीतर ही। अंत में 'पाठांतर' भी दिए गए हैं। इतना विस्तार करने पर भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि अब भी बहुत-सी गूढ़ताओं का स्पष्टीकरण पर्याप्त विस्तार से नहीं किया जा सका है। इसमें पाठ प्रायः वही स्वीकृत किया गया है जो 'घनानंद-कवित्त' में है। 'चूर्णिका' में

शब्दार्थ देते समय पूज्य पिताजी द्वारा दी गई टिप्पणियों का आधार लिया गया है। कहीं-कहीं तो टिप्पणी की शब्दावली ऐसी है कि उससे अच्छा कुछ सोचा ही नहीं जा सकता। इसलिए ऐसे स्थलों में विवशतापूर्वक वही पद्यावली ज्यों की त्यों रख दी गई है।

यह भाष्येंदुशेखर पाँच आननों में समाप्त होगा। 'घनानंद-कवित्त' में ५०५ छंद हैं। प्रथम आनन में आरंभिक १०० छंदों का भाष्य दिया जा रहा है। द्वितीय आनन का लेखन चल रहा है। इस प्रथम आनन का आरंभ सं० २०१२ की प्रबोधनी को हुआ था और सं० २०१६ की प्रबोधनी को पूरे चार वर्ष हो गए। इसका मुख्य कारण यही था कि अपने शोधप्रबंध के निमित्त महाराज जसवंतसिंह के काव्यविषयक अनुसंधान में मुझे समय-समय पर बाहर रहना पड़ा, जिससे मैं इस कार्य को इससे पूर्व समाप्त नहीं कर सका। इस कार्य के लिए मैं पूज्य पिताजी का ही सर्वाधिक अनुगृहीत हूँ, जिनसे अंतेवासी के रूप में अध्ययन करके अनेक तथ्यों का ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, जिनकी लिखित संपत्ति का आधार मैंने निःसंकोच लिया और जिन्होंने इसके आरंभ में घनानंद-संबंधी अपनी लिखित आलोचना और शोध-सामग्री के उद्धृत करने की आज्ञा भी दे दी है। इसके प्रस्तुत करने में जिन ग्रंथों से किसी प्रकार की सहायता मिली है उनके कर्ताओं का कृतज्ञ हूँ। सबसे अंत में सुजान घनानंद का स्मरण करता हूं जिनकी कृति की गुत्थियाँ बिना उनके अनुग्रह के मेरे ऐसे अज्ञ के द्वारा किसी प्रकार खुल नहीं सकती थीं।

प्रबोधनी, २०१६
ब्रह्मनाल, वाराणी-१ —चंद्रशेखर मिश्र

प्रकाशन के प्रमुख ग्रंथ

हिंदी का सामयिक साहित्य (आधुनिक काल)	१२·००
हिंदी साहित्य का अतीत—१ (आदिकाल, भक्तिकाल)	१०·००
हिंदी-साहित्य का अतीत—२ (शृंगारकाल)	१५ ००
घनानंद-ग्रंथावली (४१ ग्रंथ)	६·००
भूषण ग्रंथावली (आलोचना-सहित)	८·००
बिहारी (आलोचना और सतसैया)	६·००
बिहारी की वाग्विभूति (समालोचना)	३·००
रसखानि (रचनावली और आलोचना)	३·००
जगद्विनोद (टिप्पणी और आलोचना)	४·००
पद्माभरण (टिप्पणी और आलोचना)	२·००
गंगालहरी (टिप्पणी और आलोचना)	०·८०
सुदामाचरित (टिप्पणी और आलोचना)	०·७०
रामचंद्र शुक्ल (जीवन और कर्तृत्व)	८·००
घनानंद-कवित्त (प्रथम शतक)	६·००
साहित्य के रूप (विविध रूपों का परिचय)	२·००
नीला कंठ उजले बोल (कहानियाँ)	३·००
उभरती आकृतियाँ (कहानियाँ)	२·००
कवि निराला—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी	१०·००
गोसाइँ तुलसीदास—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र	१२·५०
गोसाइँचरित—डा० किशोरीलाल गुप्त	६·००
साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष—डा० राममूर्ति त्रिपाठी	११·००
घनानंद कवित्त (द्वितीय शतक)	५·००
शिवाबावनी (टिप्पणी और आलोचना)	१·२५

भूमिका

हिंदी-साहित्य की लगभग एक सहस्र वर्षों की दीर्घकालीन परंपरा का विभाजन करते हुए ऐतिहासिकों ने उसे प्रायः तीन वृहत् खंडों में विभाजित किया है—आदि, मध्य और आधुनिक। आदिकाल की ऐसी साहित्यिक सामग्री जिसे निर्भ्रांत रूप से हिंदी-साहित्य के आभोग में गृहीत किया जा सके एक तो प्रभूत परिमाण में उपलब्ध नहीं, दूसरे जो उपलब्ध भी है उसकी प्रामाणिक छानबीन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उसमें से बहुत कुछ परवर्ती रचना है, उसमें का संवृद्ध अंश अधिकतर मध्यकाल में निर्मित हुआ। तात्पर्य यह है कि यदि राजनीतिक साहित्य-सेवियों के वहकावे में न आकर जैनों की सांप्रदायिक और अपभ्रंश की रचनाओं का मोह छोड़ दिया जाए तो आदिकाल में हिंदी-साहित्य की रचनाओं का मोह छोड़ दिया जाए तो आदिकाल में हिंदी-साहित्य की उपलब्ध सामग्री बहुत थोड़ी है और साहित्य के निर्विकृत आभोग के भीतर आनेवाले कर्ताओं के नाम भी इने-गिने ही हैं। जितने कर्ताओं की गणना की जायगी उनमें विद्यापति को छोड़कर शेष में साहित्य का उत्कर्ष उत्तम-कोटि का नहीं मिलेगा। अपना मानदंड चाहे शिथिल भी कर दिया जाए तो भी तीन चार से अधिक उच्चकोटि के कर्ता उस युग में नहीं दिखाए जा सकते।

आधुनिककाल में हिंदी-साहित्य का विस्तार बहुत अधिक हो गया। केवल पद्यबद्ध रचनाएँ ही उसमें नहीं रहीं, गद्य में भी बहुत कुछ लिखा जाने लगा। नाटक लिखे और खेले भी जाने लगे। पद्यबद्ध रचना अर्थात् कविता के क्षेत्र में ही इतने प्रकार की और इतने परिमाण में रचनाएं होने लगीं कि भारत की किसी भी भाषा का साहित्य हिंदी में हुई रचना के परिमाण में आधुनिक युग में भी उसकी तुलना नहीं कर सकता। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि का जितना वाङ्मय आधुनिक युग में प्रस्तुत हुआ उसमें तथा कविता में भी जितनी कृतियाँ लिखी गईं उनमें भी, अधिकांश-अधिकतर नहीं तो भी पर्याप्त परिमाण में, ऐसी रचनाएँ हुई हैं जिनके कर्ता शुद्ध साहित्य की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपना कर्तृत्व

दिखाने नहीं बैठे हैं, अनेक प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक विचारधाराओं से प्रेरित होकर उन्होंने उस प्रकार की रचनाएँ की हैं। आज शुद्ध साहित्य की रचना को पृथक् करने का कोई मानदंड तक हिंदीवालों के पास नहीं रह गया है। फल यह है कि साहित्य के नाम पर ऐसी रचनाएँ भी गृहीत हो रही हैं जो निर्विकारात्मक चित्त से उसमें कथमपि संगृहीत नहीं की जा सकतीं। आलोचना के शास्त्री या पारंपरिक या साहित्यिक मानदंडों को त्यागकर बहुत से राजनीतिक साहित्यसेवी अपना प्रातिभ मानदंड लेकर साहित्य में साहित्य के अतिरिक्त कला यहाँ तक कि विज्ञान को भी समेट लेने की उदारता दिखाकर अपने प्रचार के हथकंडे निकाल रहे हैं और रस की सात्त्विक सरणि का उद्घोष छोड़ मानवता का चाकचिक्य सामने कर सबसे बड़े पंडित बनने की लिप्सा से उछलकूद मचा रहे हैं। इतना होने पर भी यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की सूची बनाई जाय तो ऐसों की संख्या १५-२० से किसी प्रकार अधिक न होगी।

अब मध्यकाल में आइए। उसके दो टुकड़े किए गए हैं—पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल। पूर्व मध्यकाल का नाम भक्तिकाल रखा गया है। उसमें अधिक परिमाण में भक्ति की रचनाएँ हुई हैं, इसी से उसको यह नाम दिया गया है। पर भक्तिकाल की वे रचनाएँ जो इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना के गोरखधंधे में ही सामाजिकता को फँसा रखनेवाली हों शुद्ध साहित्य में गृहीत नहीं हो सकतीं। साहित्य के भीतर संनिविष्ट होने के लिए किसी रचना में सर्वसामान्य भावसत्ता का आधार अनिवार्य है। फिर भी यदि ऐतिहासिकों के सम्मान की दृष्टि से इन्हें भी साहित्य के आभोग में माना ही जाय तो भी इन्हें मिलाकर भक्तिकाल में यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की गणना की जाएगी तो २५-३० से अधिक संख्या फिर भी नहीं हो सकती।

अब उत्तर मध्यकाल को लीजिए। इसे रीतिकाल या शृंगारकाल नाम दिया गया है। सच पूछा जाय तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करनेवाले कर्ता इस युग में जितने अधिक हुए हिंदी-साहित्य के सहस्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करनेवाले कभी नहीं हुए। आधुनिककाल में भी नहीं। इन कर्ताओं में से यदि

उत्तमोत्तम कर्ताओं को छाँटा जाय और बहुत अनुदार होकर छाँटा जाय तो भी उनकी संख्या ७५-८० से किसी प्रकार कम न होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदी-साहित्य के इतिहास में अन्य कालों में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से काव्य का निर्माण करनेवालों की संख्या रीतिकाल में इसी दृष्टि से निर्माण करनेवालों की संख्या की अपेक्षा निश्चय ही न्यून-न्यूनतर है। एक ही युग में एक से एक उत्तम कर्ता संख्या में सबसे अधिक इसी उत्तर मध्यकाल या शृंगारकाल या रीतिकाल में हुए। हिंदी का सच्चा साहित्य-युग यदि कोई था तो वस्तुतः यही था। मेरे गुरुदेव लाला भगवानदीनजी कहा करते थे कि जिसे इस युग के रीतिकाव्य का ज्ञान नहीं वह हिंदी का साहित्यज्ञ नहीं। जिसे इसका ज्ञान है उसे अन्य का ज्ञान अल्प प्रयास से ही हो जा सकता है। रीति-साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महत्प्रयास की अपेक्षा होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लालाजी की कसौटी पर यदि कसा जाय तो संप्रति हिंदी-साहित्य की गद्दियों पर बैठे कुछ महंत अपने दरबारियों-सहित उसके अनधिकारी ही सिद्ध होंगे।

हिंदी-साहित्य के मध्यकाल में सभी इतिहासकारों ने किसी न किसी रूप में भक्ति और रीति का नामोल्लेख तो किया है पर उस युग में प्रवाहित होनेवाली एक साहित्यधारा को एकदम भूल ही गए हैं। मध्यकाल में तत्त्वतः तीन प्रकार की काव्यधाराएँ प्रवाहित थीं—एक थी भक्ति की, दूसरी थी रीति की और तीसरी थी स्वच्छंद वृत्ति की। भक्ति की धारा का हिंदी-साहित्य में कितना ही महत्त्व क्यों न हो यह मानना ही पड़ेगा कि भक्ति ही उसका साध्य थी, कविता उसके लिए साधनमात्र थी। पर रीति की धारावालों का साध्य काव्य ही था, साधन भी काव्य ही था। काव्य की साधना में भी साध्य और साधन दोनों पर सम्यक् दृष्टि रखनी होती है। रीतिधारा के कर्ताओं ने साधनपक्ष पर जितना अधिक ध्यान दिया उतना अधिक उसके साध्य पक्ष पर नहीं। रीतिधारा का अर्थ ही है काव्यरीति की धारा अर्थात् काव्य-साधन की धारा। ये लोग काव्य की रीति अर्थात् उसके साधन पर विशेष ध्यान रखनेवाले थे। काव्य का साध्य उसका अंतरंग पक्ष होता है और साधन उसका बहिरंग पक्ष। इस प्रकार ये जितना अधिक ध्यान काव्य के बहिरंग पर रखते थे उतना अधिक उसके अंतरंग पर नहीं। काव्य का बहिरंग पक्ष नाना प्रकार के नियमों के आधार पर चलता है।

उन नियमों और विधियों में किसी प्रकार की त्रुटि हुई तो रीति के कर्त्ता सारा खेल बिगड़ा समझते हैं। इन नियमों और विधियों को ध्यान में रखना और उनके अनुसार सारा संभार करना पुरुषार्थ का कार्य होता है। रचना करनेवाले को अपनी बुद्धि चारों ओर से समेटकर उसमें लगानी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि काव्यशक्ति के अतिरिक्त उसके उत्पाद्य पक्ष पर निपुणता और अभ्यास पर, इनकी सबसे अधिक दृष्टि रहती है। यहाँ तक कि यदि किसी में काव्यशक्ति न्यून भी हो तो वह निपुणता और अभ्यास के बल पर कविराज बन जा सकता है या ठोंक पीट कर वैद्यराज (अपर पर्याय 'कविराज') बनाया जा सकता है। ये लोग कभी-कभी कुछ बातें सीखकर कविता करने में लग जाया करते थे। ठाकुर कवि ऐसों के ही लिए कह गए हैं—

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीनो मेरे औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है॥

स्वच्छंद धारा का साध्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था। पर इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया। साधन पर ये ध्यान न देते हों सो नहीं, उस पर भी ध्यान रहता था। पर स्थिति यह है कि जो साध्य पर ध्यान रखकर साधन पर ध्यान रखता है उसका साध्य-साधन का समन्वय बना रहता है, किंतु जो साधन पर ध्यान अधिक रखता है धीरे-धीरे साध्य उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। साध्य चुपचाप खिसक जाता है, हाथ में केवल साधन बच रहता है। इसे यों समझें कि एक का अंगी साध्य और अंग साधन, दूसरे का अंगी साधन और अंग साध्य। पहले को इसी से साधन के लिए पृथक् प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं रहती, साध्य ठीक है तो दंडापूपिका न्याय से साधन भी उसके साथ आप से आप आ जाएगा। बहुत आधुनिक ढंग से सोचें तो कहेंगे

कि इनके यहाँ साध्य-साधन में परमार्थतया भेद नहीं है, अभेद है। रीतिधारा-वाले जिस साज-सज्जा में लगते हैं उसमें बुद्धि का योग अधिक करना पड़ता है, उनकी रचना बुद्धि-बोधित होती है, इसी से काव्य का साध्य भाव उससे धीरे-धीरे हटने लगता है। रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर। पर स्वच्छंद काव्य की रानी है अनुभूति। उसकी दासी है बुद्धि—

रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।

स्वच्छंद काव्य भाव-भावित होता है, बुद्धि-बोधित नहीं। इसलिए आंतरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आंतरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छंद काव्य की सारी साधन-संपत्ति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कर्ताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है। बहुत आधुनिक ढंग से कहें तो कहेंगे कि स्वच्छंद वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है. उसी के सहारे उनकी सारी कृति की छानबीन की जा सकती है। रीतिकाव्य के कर्ताओं का मूल आधारभूत तत्त्व है भंगिमा। स्वच्छंद कर्ता में भंगिमा कहीं कदाचित् न भी हो पर अनुभूतिशून्य उसकी रचना नहीं हो सकती। रीतिकर्ता में अनुभूति चाहे न भी हो पर भंगिमा अवश्य रहेगी। बिहारी ऐसे कवियों में भंगिमा चाहे अनुभूतिपूर्ण हो चाहे शुद्ध भंगिमा ही हो, पर उसमें साहित्यिक चारुत्व अपने चरम उत्कर्ष पर ही दिखाई देता है, इसी से उनकी रचना सर्वत्र आकर्षक है। पर बहुत से ऐसे भी हैं जिनकी भंगिमा केवल वर्णसौंदर्य तक ही रुक गई। वह ऐसी पेशलता न ला सकी जिससे उसमें सहृदयों के लिए वांछित आकर्षण होता। अनुभूति में बाहरी आकर्षण न भी हो तो भी वह हृदय खींच लेती है। अनुभूति हृदय से उठती है, हृदय को आकृष्ट करती है। उसके लिए किसी अन्य माध्यम की अपेक्षा नहीं। भंगिमा हृदय से ईरित भी हो सकती है और बुद्धि से प्रेरित भी। हृदय से ईरित भंगिमा आकर्षक होती है, पर वह सीधे हृदय में नहीं पहुँचती, उसके लिए माध्यम की अपेक्षा होती है। यह बुद्धि के नियम-विधान के, शास्त्र के, माध्यम से हृदय में पहुँचती है। उसके लिए कर्ता को जैसे शास्त्रविधिनिष्णात होना चाहिए वैसे ही ग्राहक को भी शास्त्र-चिंतन-नदीष्ण। अनुभूति के लिए न कर्ता को उसकी (शास्त्रविधि की) विशेष आवश्यकता है और न ग्राहक को।

तो क्या शास्त्राभ्यासशून्य होना चाहिए संवेदनशील स्वच्छंद कवि को। नहीं, शास्त्र का अभ्यास तो समुचित मात्रा में सभी को करना चाहिए। स्वच्छंद कर्ता को भी और उसके ग्राहक को भी। पर शास्त्र के सहारे अपना कर्तृत्व दिखाने में लगना अनुभूति या संवेदना का लक्ष्य नहीं होता। संवेदना संवेदना की स्थिति के संपादन में लगती है, शास्त्र की स्थिति के संपादन में नहीं। दोष शास्त्रस्थिति का संपादन है। शास्त्राभ्यास या शास्त्रज्ञान नहीं। रीतिकाव्य के लिए जिस दोष की संभावना रहती है वह यही है। इसी से प्रायः रीति-कर्ता इस दोष से जकड़ जाते हैं।

स्वच्छंद वृत्तिवालों की संवेदना अनेक प्रकार की हो सकती है। पर मध्यकाल के इन स्वच्छंद कर्ताओं की संवेदना केवल प्रेम की संवेदना थी, ये 'प्रेम की पीर' के पक्षी थे। हिंदी-साहित्य में आदिकाल में विद्यापति 'प्रेम-संवेदना' के कवि दिखाई देते हैं। पर प्रेम की संवेदना पारंपरिक रूप में मध्यकाल के स्वच्छंद गायकों को नहीं मिली है। प्रेम की यह संवेदना फारसी-साहित्य और सूफी-साधना के प्रवाह से संबद्ध है। भारतीय प्रेम-संवेदना और फारसी प्रणयसंवेदना का और चाहे जो पार्थक्य हो, पर यह पार्थक्य बहुत स्पष्ट है कि फारसी प्रणय-संवेदना रहस्यात्मक वृत्ति को भी लेकर चलती है। भारतीय साहित्य में प्रेम की संवेदना चाहे जितनी तीव्र हो वह रहस्यात्मक स्वरूप नहीं धारण करती। पर फारसी-साहित्य और सूफी-साधना के संपर्क में आने के अनंतर भारतीय साहित्य और भारतीय भक्ति-प्रवाह पर भी इसका प्रभाव पड़ा। हमारे मुसलमान-बंधुओं के आगमन के अनंतर भी जब तक इस 'प्रेम की पीर' के संपर्क में हमारा साहित्य और हमारी भक्ति नहीं आई थी तब तक उसका अपना नैसर्गिक रूप बना हुआ था। नाथसिद्ध भक्ति की सहज धारा को प्रभावित करते-करते भी बहुत अल्पांश में प्रभावित कर सके और साहित्य को तो उन्होंने कुछ भी प्रभावित नहीं किया। इसी से जयदेव और विद्यापति की रचना रहस्यात्मक रूप नहीं पकड़ सकी। जो लोग इनमें अध्यात्म अर्थात् रहस्य की खोज करते हैं वे सत्ययुग में कलयुग ढूँढ़ निकालना चाहते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्यात्मक प्रवृत्ति का मेल जितना अधिक निर्गुण-साधना से बैठता है उतना अधिक सगुण-साधना से नहीं। भक्ति के कुछ सगुण-संप्रदायों या प्रवाहों में जो रहस्यात्मकता ... प्रभाव है

और भक्ति की संप्रदायों की भाव-साधना में वह अपना आरोपित रूप सहज ही स्पष्ट कर देता है। सगुण-भक्ति की साधना में अधिक गुह्य साधना चल नहीं पाती और यदि उसमें कुछ थोड़ी बहुत चलती भी हो तो भी भारतीय साहित्य की व्यक्त शब्दसाधना इसका बोझ बहुत दिनों तब नहीं सँभाल सकती। इसी से मध्यकाल के स्वच्छंद प्रवाह में रहस्य की झलक भर मिलती है, आधुनिक युग में भी छायावाद के साथ जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति प्रबल हुई वह बहुत दिनों तक टिक न सकी। केवल महादेवी वर्मा अभी तक उसे ढोए चल रही हैं। पर वहाँ भी परिणाम अत्यंत क्षीण हो गया है।

स्वच्छंद प्रवाह के प्रमुख कर्ताओं में रसखानि, आलम, ठाकुर, घनानंद, बोधा और द्विजदेव का नाम लिया जा सकता है। छानबीन करने पर इस प्रवाह के छुटभैये भी कई मिल सकते हैं। इन सबमें श्रेष्ठ घनानंद ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि इनकी संवेदना सर्वाधिक साहित्यिक है। रसखानि में साहित्यिक निखार न होकर संवेदना की सहज अभिव्यक्ति मात्र है। श्रेष्ठता का वास्तविक कारण घनानंद की साहित्य-श्रुतता है। उक्त छहों कर्ताओं में सबसे अधिक साहित्यश्रुत घनानंद ही प्रतीत होते हैं। इस साहित्यश्रुति का प्रभाव उनकी रचना के प्रत्येक अवयव पर पड़ा है। उनकी रचना के दो प्रकार हैं—एक प्रेमसंवेदना की अभिव्यक्ति, दूसरी भक्तिसंवेदना की व्यक्ति। इनकी भक्ति-संवेदना की व्यक्ति रसखानि के बहुत निकट है। प्रेमसंवेदना की अभिव्यक्ति साहित्यिक भंगिमा गवलित है और भक्तिसंवेदना की व्यक्ति में उस भंगिमा की कमी या अभाव लक्ष्यभेद के कारण हैं। एक की रचना सहृदयों के लिए है दूसरी की कोरे भक्तों के लिए। एक सम्यक् अनुभूति के लिए है दूसरी संकीर्तन के लिए। घनानंद की कृति में केवल रसखानि की ही रचना नहीं मिलती। उसमें आलम, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव की उत्कृष्ट विशेषताओं का समावेश हो गया है। पर घनानंद की कुछ विशेषता ऐसी है जो न रसखानि में है, न आलम में, न ठाकुर में, न बोधा में, न द्विजदेव में। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त स्वच्छंद गायकों से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् [illegible] और प्रवृ-

त्तियों के कारण निश्चय ही पृथक्तर और श्रेष्ठतर है। इसका अनुभव स्वयं घनानद ने भी किया था जिसे उन्होंने अपनी इस पंक्ति में व्यक्त कर रखा है—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत।

उनकी रचना अर्थात् उनकी प्रेमसंवेदना की कविता के संग्रहकर्ता श्री व्रजनाथ ने भी उनकी इस पृथक्ता को लक्षित किया था—

जग की कविताई के धोखें रहै ह्यां प्रबीनन को मति जाति जकी।

कविता में लगकर उसका निर्माण करनेवाले रीतिवेत्ता ही थे और 'जग की कविता' साहित्य-संसार में बहुप्रचलित रचना उस समय रीतिकविता ही थी। पर घनानंद की रचना में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी सूक्ष्मता सबके लिए सुलभ नहीं थी। काव्यमार्ग के प्रवीण पथिक भी उसे देखकर चकपकाते थे। यह कठिनाई न रसखानि की कविता में थी, न आलम की कविता में, न ठाकुर की कविता में, न बोधा की कविता में और न द्विजदेव की कविता में। उनकी प्रेमसंवेदना चाहे जितनी गहरी, चाहे जितनी मार्मिक हो, पर उसके संबंध में यह कठिनाई थी ही नहीं।

घनानंद की कविताई में प्रवीणों की मति को जगानेवली कई विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उनकी रचना में बहुत-सी स्थितियाँ मौन हैं। अर्थात् उनकी रचना अभिधा के वाच्य रूप में कम लक्षणा के लक्ष्य और व्यंजना के व्यंग रूप में अधिक है। जो लक्षणा-व्यंजना के इन लक्ष्य-व्यग्य अर्थों तक पहुँचने की क्षमता रखनेवाला न होगा उसके लिए इनकी रचना नीरस नहीं तो सरस भी न होगी। अपनी कृति के भावक का रूप स्वयं घनानंद ने इस सवैये में व्यक्त कर दिया है—

उर भौन मैं मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात-बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रस-रूप मनी।
रसना-अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनंद बूझनि-अक बसै बिलसै रिझवार सुजान-धनी।।

इनकी कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाले अपने को छिपाए बैठी है। रही संसार की बात। सो सारे शास्त्रीय संभार इसमें हैं, पदार्थ हैं,

पर कोमल, चुने हुए मंजुल। उसमें पद अर्थात् शब्द ही नहीं हैं अर्थ भी हैं, वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य एक से एक मृदु, एक से एक मंजु। कोई कहे कि इसमें अवर अंश वाच्यार्थ मात्र विशिष्ट अलंकार न हो, सो बात भी नहीं है, इसमें अलंकार भी हैं, गहने भी हैं, पर वे आभूषण, वे अलंकार रत्नजटित हैं, चमचमानेवाले हैं, दीप्ति करनेवाले हैं। रत्न या मणि है क्या ?–'रस'। अलंकार की सारी योजना रस को दीप्ति के लिए है, केवल शरीर पर लदाव के लिए नहीं। यह वाणी, यह कविता, यह बनी या दूल्हन रसना-सखी के साथ-साथ जाती है। रसना-सखी के संग, जीभ के संग नहीं—रस की ओर ले जानेवाली रसना—रसाश्रय हृदय तक ले जानेवाली रसना। कान की गली में यह अटकी नहीं रह जाती, चित्त-हृदय की शय्या पर, सुसज्ज शय्या पर, सहृदयता की सजी सेज पर उसे पहुँचाती है। इस कविता-दूल्हन का रसिक (बना, धनी, स्वामी) कोई साधारण व्यक्ति कैसे हो सकता है। वह सुजान है, प्रवीण है, सहृदय है, साहित्य के विधि-विधानों से अभिज्ञ है। वही इस पर रीझता है, इसकी सूक्ष्म भाव-भंगिमा को समझता है। बूझनि-प्रतीति, रस-प्रतीति, की गोद में काव्य-प्रतीति के अंक में उसे लेकर विलसता है। घनानंद की रचना का सौंदर्य आवृत है, वह शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है। हृदय ही, सहृदय ही उसके मर्म को समझ सकता है।

पर इस मौन को अमौन या बखान में परिणत कौन कर सकता है। वाणी जिस प्रकार मौन में अनेक बखानों को समेटे सिमटी पड़ी रहती है उसी प्रकार वाणी उस मौन में छिपे तत्वों को प्रकाशित भी कर सकती है। जिसकी वाणी में मौन के भीतर अनेक अमौन तत्वों को छिपा रखने की क्षमता नहीं वह कर्ता, समर्थ कर्ता नहीं; और जिसकी वाणी में उनको प्रकाशित कर सकने की शक्ति नहीं वह सक्षम ग्रहीता नहीं, सहृदय नहीं; घनानंद को इस विषय में नैराश्य नहीं है। नैराश्य भारतीय परंपरा में नहीं, अँगरेजी की अनुकृति पर नैराश्य की नदी छायावादी बंधु भले ही प्रवाहित कर चुके हों और अपनी रचना की गूढ़ता के समझने के संबंध में भी चाहे उन्हें नैराश्य ही रहा हो, पर न भवभूति को नैराश्य था न घनानंद को। वे वाणी की, सहृदय की वाणी की प्रशस्ति यों करते हैं—

आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
बात-सरूप अनूप अरूप है, भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।
बात की बात सुबात बिचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि बीच बसे घनआनंद मौन बखान सु देखि लै।।

वाणी की गति अत्यंत सूक्ष्म है जो अन्य विधि से असंभव या दुःसंभव है उसे अपनी सूक्ष्मेक्षिका से वाणी संभव कर दे सकती है और बात की बात में संभव कर देती है। किसी आँख के मूँदने में कितने रहस्य हैं इसका उद्‌घाटन वाणी कर सकती है। एक साथ सोना और जागना वाणी ही से देखा जा सकता है। वाणी या काव्य स्वयं एक दर्शन है, दृष्टि है। उसकी रूपरेखा सूक्ष्म है, वह अलेख का, निराकार का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत कर सकती है। ब्रह्म का, निर्गुण ब्रह्म का, साक्षात्कार वाणी ही से संभव है। वह निराकार अनुभूति का विषय हो चाहे न हो, पर वाणी का विषय तो हो ही सकता है, हुआ ही है। जगत भले ही अनिर्वचनीय हो, पर वह (ब्रह्म) अनिर्वचनीय नहीं है। वह अज्ञेय चाहे हो, पर अवाच्य नहीं है। अच्छी से अच्छी, ऊँची से ऊँची स्थिति को सर्वत्र वाणी ही बात की बात में बतला सकती है। कोई ऐसा स्थान नहीं हैं जहाँ वाणी अपनी विशेषता न दिखला दे। जो और प्रकार से इगित नहीं किया जा सकता, वाणी इंगित करता है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' को अज्ञेय अपरिमेय का इन शब्दों से इगित करनेवाला कौन है, वाणी ही न! जो मन का, चित्त का, बुद्धि का विषय न बन सके उसे भी वाणी का विषय बनना ही पड़ता है। वह मन, चित्त, बुद्धि का विषय नहीं है इसे वाणी ही तो बतलाती है। वह नेत्रों में कान लगा सकती है और उन कानों को मौन की पुकार वाणी ही सुना सकती है, मौन के बखान को वाणी ही दिखा सकती है। वाणी क्या नहीं कर सकती।

घनानंद की आवृत अर्थ-संपत्ति की, उनके मौन की विशेषता बताते हुए वाणी को विशेषता तक पहुँचना पड़ा। इसका कारण यह है कि उनकी विरह-साधना और काव्य-साधना में समरसता है। 'बिरही बिचारन की मौन में पुकार है' यहीं तक उनकी वाणी नहीं है, वह स्वयं 'मौन की पुकार' में लीन है, या उस मौन में, मौन के घूँघट में अपने को छिपाए हुए है।

ठीक इसी प्रकार विरही विषम प्रेम की साधना में विषम परिस्थितियों का सामना करता है। तो कवि भी विषम प्रेम की अभिव्यक्ति में विषम-शब्द-साधना करता है। घनानंद की रचना की यह वैषम्यमूलकता या विरोध-वृत्ति केवल शब्द-साधना नहीं है। प्रेम की विषमता और इस विरोधवृत्ति में साम्य है। हिंदी के अन्य मध्यकालीन स्वच्छंद कवियों में विरोध-वृत्ति सार्वत्रिक न होकर क्वाचित्क है। घनानंद की रचना में यह सार्वत्रिक है, यहाँ तक कि उनके कीर्तन के कोरे भक्ति-भावित पदों पर भी यह बहुधा मिल जाती है। इस विरोधवृत्ति के लिए उन्होंने लक्षणा का सहारा लिया है और लक्षणा के जैसे चमत्कार इन्होंने दिखलाए हैं, हिंदी साहित्य के प्राचीन काल के किसी कवि में इतने लाक्षणिक वैलक्षण्य तो हैं ही नहीं, आधुनिक काल के जिन छायावादी कवियों में इस विलक्षणता के दर्शन प्रभूत परिणाम में होते हैं उनमें भी वह विशेषता नहीं है जो घनानंद के प्रयोगों में मिलती है।

पहली ध्यान देने की बात है कि घनानंद की कविता भले ही फारसी काव्य और सूफी-साधना की प्रेरणा से हिंदी में निर्मित हुई हो, पर उन्होंने ज्यों की त्यों अनुभूति नहीं की। फारसी के मुहावरे उठाकर उन्होंने हिंदी में नहीं धर दिए। वे फारसी-प्रवीण थे, उन्होंने फारसी में एक मसनवी भी लिखी है, पर वे व्रजभाषाप्रवीण भी थे। व्रजभाषा के प्रयोगों के आधार पर नूतन वाग्योग संघटित करने के लिए भाषाप्रवीण भी थे। घनानंद के प्रयोग व्रजभाषा के प्रयोग तो हैं ही, नवीन प्रयोग भी एकदम नए नहीं हैं, व्रजी के प्रवाह के अनुकूल गढ़े गए हैं। उनका अंतःकरण भारतीय था, वेश-भूषा भी भारतीय थी। ढंग-ढर्रा कुछ बाहरी रहा हो तो हो, पर वह भी कृष्ण-राधा के प्रेमतत्त्व में सर्वात्मना भारतीय बन बैठा।

इस भारतीयता के भाषागत सौंदर्य के लिए लाक्षणिक प्रयोगों का भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। फारसी में और उनकी अनुकृति पर उर्दू में जिस प्रकार की लाक्षणिकता दिखाई देती है वह भारतीय लाक्षणिकता से भिन्न है। फारसी-उर्दू में जिस लाक्षणिकता का विकास हुआ वह मुहावरों को आधार बनाती है। मुहावरों में प्रयोजनवती और रूढ़ि दोनों प्रकार की लक्षणाएं हो सकती हैं, पर अधिकतर लक्षणाएं रूढ़ि के खाते में आती हैं। जिस प्रकार का प्रयोग बहुत दिनों से होता चला आ रहा हो उसी को

अनेक प्रकार के मिश्रण द्वारा नवीन रूप में लाना फारसी-उर्दू की विशेषता है। मुहावरों के अधिक प्रयोग से यह स्पष्ट है कि फारसी-उर्दू में रचना लक्षण-प्रधान होती है। लक्षण-प्रधान होने पर भी परंपरा के आश्रय में रहने के कारण व्यंजना में अर्थात् उन लाक्षणिक प्रयोगों से निकलनेवाले व्यंग्यार्थ में संलक्ष्यक्रमता स्पष्ट रहती है और एक साथ अनेक व्यंग्यार्थों के उपस्थित होने पर भी संदेह के लिए स्थान नहीं रहता। हिंदी में आधुनिक युग में अँगरेजी-साहित्य के संपर्क के कारण जिस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किए जाने लगे उनमें रूढ़ि के बदले प्रयोजनवती पर अधिक ध्यान है। प्रत्येक कवि अपने नए-नए प्रयोजन के लिए नई-नई लक्षणाएँ करता है। परंपरा का साथ न होने से ऐसे स्थल प्रायः सामने आ जाते हैं, जिनके व्यंग्यार्थों में संदेह बना रहता है। अँगरेजी भाषा लक्षण प्रधान है, फारसी से भी अधिक। वह परंपरा के निर्वाह का आग्रह नहीं करती। फल यह है कि किसी आधुनिक छायावादी कवि के प्रयोगों के संबंध में ऐसे स्थल प्रायः आ जाया करते हैं जहाँ व्यंग्यार्थों में से किसी एक का निश्चय करना कठिन हो जाता है। भारतीय भाषा लक्षणप्रधान न होकर व्यंजनाप्रधान है। इसका अर्थ यह है कि उसके लाक्षणिक प्रयोगों का व्यंग्य बहुत कुछ नियत है। लक्षणा से एक व्यंग्य निकलने पर दूसरा व्यंग्य, फिर तीसरा व्यंग्य, इस प्रकार अनेक व्यंग्य निकलते जाते हैं। एक साथ कई व्यंग्यार्थ सामने आकर प्रायः संदेह नहीं खड़ा करते।

घनानंद ने मुहावरों के प्रयोग की पद्धति निश्चय ही फारसी की प्रेरणा से ग्रहण की है। पर फारसी के मुहावरों की योजना नहीं की, जैसा उर्दूवालों ने किया, फारसी के बहुत से मुहावरे चुपचाप देशी भाषा के रूप में उलथा करके रख दिए। उन्हीं की कृतियों की छानबीन करके उर्दू का कोश प्रस्तुत करनेवाले फरहंगे आसफिया के संपादक इसी से उर्दू के मुहावरों को फारसी के मुहावरों का उलथा कहते हैं, यद्यपि उर्दू में भी सबके सब फारसी से ही उड़ाए हुए मुहावरे नहीं हैं। आजमगढ़ में ही यह सब होते देख स्वर्गीय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिंदी-ज्ञान तिलमिला उठा और उन्होंने 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' से ही संतोष न कर 'बोल-चाल' नाम की पुस्तक ही लिख डाली, जिसमें हिंदी के मुहावरों का संग्रह ही नहीं,

उनके प्रयोग द्वारा मार्मिक रचना भी की गई है। घनानंद ने हिंदी के मुहावरों का प्रयोग करके, उसके चलते मुहावरों का विनियोग करके जो चमत्कार उत्पन्न किया है और साथ ही जिस भावना तक सहृदय को पहुँचाया है वह स्थान-स्थान पर दर्शनीय है—

रावरे पेट की बूझि परै नहीं रीझि पचाय कै डोलत भूखे।

इस एक ही उदाहरण से उनके प्रयोग की विशेषता स्पष्ट हो जायगी। पेट की न बूझ पड़ना, पचाना और भूखे डोलना, तीनों प्रयोग लाक्षणिक हैं। किसी के पेट की बात समझ में तभी नहीं आ सकती जब उसके पेट में अन्य पेटों से विलक्षणता हो। यदि कोई निरंतर खाता हो और खाए को पचाकर भूखा फिरता हो तो अचरज होने की बात ही है। निरंतर खानेवाला यदि भूखा फिरता है तो उसकी पाचनशक्ति या तो बहुत अधिक है या उसे कोई रोग है। रोग होने पर उसका प्रभाव बाहरी अंगों पर स्पष्ट दिखाई देता है। वे पीले पड़ जाते हैं, रक्त नहीं बनता, मोटा होने के बदले वह दिन-दिन दुबला होता है, उसे भस्मक रोग से ग्रस्त समझना पड़ता है। प्रिय में लक्षण व्यक्त नहीं हैं, इससे स्पष्ट है कि पाचन-शक्ति ही बढ़कर है। प्रिय रीझ पचाता चला जा रहा है। एक रीझ, दूसरी रीझ, तीसरी, चौथी रीझों की परंपरा उसके सामने आती है, वह पचाता जा रहा है फिर भी उसकी बुभुक्षा शांत नहीं, नए-नए प्रेमियों को खोजता फिरता है, एक की रीझें पचा गया, दूसरे की पचा गया, तीसरे की पचा गया। रीझ पचाने की चीज नहीं है। कोई खाद्य नहीं है, अभिधेयार्थ बैठता नहीं, इसलिए पचाने का अर्थ (रीझ से) 'प्रभावित न होना' करना पड़ता है। एक प्रेमी के रीझने से प्रभावित नहीं, दूसरे के रीझने से प्रभावित नहीं। रीझ उसके मन पर कोई प्रभाव ही नहीं डालती। इसलिए 'पेट' का अर्थ 'मन' करना पड़ता है। भूखे डोलने का अर्थ 'नए नए प्रेमियों की रीझ की खोज में प्रवृत्त रहना' मानना पड़ता है। घनानंद ने चलते मुहावरों से, नित्य व्यवहार के प्रयोगों से, साधारण वाग्योगों से असाधारण कार्य-साधन किया है। यहाँ अर्थ-परंपरा एक के अनंतर दूसरी आप-से-आप निकलती है। आपके पेट अर्थात् मन की बात समझ में नहीं आती। क्यों नहीं समझ में आती? इसी से कि इस प्रकार का प्रभावग्रहणपराङ्मुख कदाचित ही कोई मिले। इससे आप सहृदय नहीं हैं, असहृदय हैं, क्रूरस्वभाव हैं, वज्रकठोर हैं। ऐसे निर्दय से प्रेम! अपना

अभाग्य ! अपने पास रीझ ही संपत्ति थी, उससे कुछ सिद्धि नहीं, अतः जीवन भर दुखः भोगना ही हाथ ! इसी क्रम से अनेक अर्थ—एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा—निकलते रहते हैं ।

प्रिय को बुभुक्षा का तो यह हाल, प्रेमी की बुभुक्षा का इससे भी विकट हाल ! पूरा भस्मक रोग ही हो गया है 'देखिए दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की भसमी बिथा पै नित लघन करति हैं' । भस्मक रोग वह है जिसमें रोगी सामान्य भोजन का कई गुना करने लगता है । पर उसकी भूख शांत नहीं होती । वह नित्य दुबला होता जाता है । उसके शरीर में रक्त नहीं बनता । ऐसे रोगी को लंघन नहीं कराया जाता । भोजन देते हैं, औषध करते हैं । क्रमशः उसका रोग शांत होता है । लंघन करने से तो रोग असाध्य हो जाता है । यदि ऐसे को यह रोग हो जो बड़ा चटोर हो, पेटू हो, तो रोग दुःसाध्य रहता है । पेटू भी कई प्रकार के होते हैं—साधारण और असाधारण । असारण पेटू के लिए तो भारी कठिनाई होती है । यहाँ आँखें केवल पेटनी, पेटू नहीं हैं, निपेटनी हैं, नितराम पेटू हैं । फिर भी कभी-कभी नहीं नित्य लंघन और रोग भस्मक । असाध्य स्थिति स्पष्ट है । 'भसमी' शब्द से ही भस्मक रोग का संकेत कर दिया गया है । कई शब्दों के अर्थ वाच्य से लक्ष्य, व्यंग्य, आप से आप हो जाते हैं । आँखें प्रिय-दर्शनेप्सु अतिदर्शनेप्सा हैं उनमें पर प्रिय के दर्शन कभी नहीं होते, विरह की दाहक स्थिति, भीषण जलन आँखों में, प्रिय के दर्शन के अंजन से कुछ लाभ हो सकता है, पर वह अप्राप्य । इसलिए अब आँखें रहें, बचें, इसमें संदेह है । प्रियदर्शन ही संतोष हो सकता है, पर वह भी दुर्लभ । प्रिय के रूप पर रीझा है प्रेमी, प्रेम का कारण रूपलिप्सा है । आँखों को हुए अधिक कष्ट से यह संकेत मिलता है । यहाँ 'भसमी' शब्द से सहसा भस्मक रोग पर सबका ध्यान नहीं जा सकता, पर ध्यान न भी जाए तो पेट की भस्मी व्यथा, बुभुक्षा, भीषण बुभुक्षा अर्थ पर पहुँचने में कोई बाधा नहीं है । जहाँ तीखी बुभुक्षा पर ध्यान गया सारी योजना स्पष्ट है । केशवदास में कोई शब्द पारिभाषिक अर्थ से संवद्ध हुआ तो उस शास्त्र का ज्ञान बिना हुए अर्थ ही नहीं खुलेगा । घनानंद में यह बात नहीं है : घनानंद में जहाँ कोई पारिभाषिक शब्द भी आ पड़ा है वहाँ भी प्रसंगप्राप्त अर्थ बलात्कृत नहीं होता ।

वाणी का प्रयोग जैसा यह कवि कर गया, कोई क्या करेगा ! अपनी विरहवेदना की असीमता को न जाने कितने प्रकार से इन्होंने व्यक्त किया है। कहते हैं –

जो दुख देखति हौं घनआनंद रैनि-दिना बिन जान सुतंतर।
जानैं वेई दिनरात बखाने तें जाय परै दिन राति को अंतर॥

प्रिय के वियोग में जो कष्ट हो रहा है वह कष्ट, वह वेदना कालावच्छिन्न है। जिस समय वह पीड़ा सही जा रही है, उस समय जैसी व्यथा हो रही है, उसके अनंतर फिर किसी दिन या किसी रात में जब उसकी अनुभूति की जायगी तो वैसी अनुभूति नहीं हो सकेगी। जिस समय अनुभूति हुई उसी समय अनुभूति का वह प्रकृत रूप अनुभूत था। उसके अनंतर स्वयं अनुभव करनेवाला भी चाहे तो उसका वैसा ही अनुभव नहीं कर सकता। स्मृति के समय उस विरहानुभूति का प्रकृत रूप कथमपि अनुभूत नहीं हो सकता। जिसका अनुभव ही पुनः नहीं किया जा सकता उसे वचनों के द्वारा कहना तो और भी कठिन है। अनुभव करनेवाले को ही कहना हो तो भी वह कुछ कह सके। अनुभव हृदय में और कहना जीभ को। भला जीभ उसे क्या कह सकेगी। फलतः अनुभूत दशा और कथित रूप में दिन और रात का अंतर हो जाता है।

जहाँ अनुभूति की यह स्थिति हो उस मनुष्य के संयोग और वियोग को पतंग और मीन से मिलाना घनानंद को असहृदयता जान पड़ती है। मनुष्य चेतन प्राणी ही नहीं है, वह चेतन सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। सृष्टि के विकास में वह सबसे अंत में अपनी विकसित चेतना लेकर अवतीर्ण हुआ है। वह अपने लिए सुख के साधन एकत्र करने में ही अन्य प्राणियों से विशिष्ट नहीं है, दुःख के सहने में भी वह अन्यों से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। रीतिकाल के शास्त्रपरंपरानुयायी 'बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की' को आदर्श मानते थे। घनानंद ने इसी से इसका खंडन किया है—

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप-छटा न संहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै।
घनआनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरें-मिलें मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति को परसै॥

कहाँ तो 'बिछुरें मिलें मीन-पतंग-दसा' कोई आदर्श दशा, सबसे ऊँची दशा, मान रहा है। आदर्श वही होता है जहाँ तक सामान्यतया पहुँचा न जा सके। मीन और पतंग की साधना दूसरों की दृष्टि में चाहे जितनी ऊँची हो, पर घनानंद की दृष्टि में वह इतनी नीची है कि मनुष्य की संयोग-वियोग साधना का स्पर्श भी नहीं कर सकती, बराबर होना दूर, ऊँची होना तो असंभव! उसके लिए तर्क देते हैं कि मीन तो प्रिय से वियुक्त होते ही मरण में विश्रांति लेता है, पर मनुष्य प्रिय से वियुक्त होने पर उसके लिए बराबर तरसता रहता है। अन्यों ने अंतर यह समझ रखा है कि मीन प्रिय के वियोग में मर जाता है और मनुष्य मरता नहीं, इसलिए उसका विरह घटकर है। स्थिति यह है कि विरही मरण से बढ़कर पीड़ा सहता रहता है और इस आशा में जीता है कि प्रिय से भेंट होगी। पर मीन तो मरा और सारे कष्टों से उसे छुट्टी मिली। उसमें पीड़ा सहने की शक्ति नहीं, वह अशक्त विरही है। उसकी एवम् मनुष्य की क्या बराबरी। रहा पतंग! वह प्रिय के रूप को देखकर उसकी छटा से आकृष्ट होकर अपने को सँभाल नहीं पाता। इसलिए उसमें, दीपशिखा में, जाकर वह गिर पड़ता है। मीन विरह नहीं सँभाल पाता, पतंग रूपछटा नहीं सँभाल पाता। ऐसा उतावला मनुष्य नहीं होता। वह प्रिय के रूपतेज से तपता रहता है। फिर भी उसकी रूपछटा देखता रहता है और साथ ही आँसू बरसाता है। उसके तेज से तपने और आँसू बरसने से यह स्पष्ट है कि वह पीड़ा पा रहा है। उसकी वेदना पतंग की वेदना से, जो उसे दीपशिखा में जलने से होती है. कहीं बढ़कर है। फिर भी वह रूपज्वाला में भस्म होकर शरीर परित्याग नहीं करता। मीन-जल की साधना भारतीय परंपरा का उदाहरण है और पतंग दीप का प्रणय फारसी-परंपरा का दृष्टांत है, शमा-परवाना वहाँ प्रतीक हैं। दोनों को सामने रखकर घनानंद ने मनुष्य की साधना का महत्त्व दिखाया है, परंपरा न भारतीय स्वीकृत की न अभारतीय, अपनी स्वच्छंदता के कारण। पर भारतीय आशावाद का परित्याग नहीं किया। मीन और पतंग की साधना में नैराश्य की झलक है। पर घनानंद ने इस नैराश्य को ग्रहण नहीं किया। वे अन्यत्र कहते हैं—

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै ।
नीर-सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै ।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानि परे को प्रमानै ।
या मन की जु दसा घनआनंद जीव की जीवनि जान ही जानै ।।

जल के अपर्याप्त होने पर मीन विवश हो जाता है । उसकी वह विवशता मनुष्य की आकुलता का क्या किंचिन्मात्र साम्य कर सकती है ? कभी नहीं । प्रेम की साधना में प्राण का परित्याग करना कायरता का चिह्न है । इससे जल (प्रिय) को कलंक लगता है, मीन (प्रेमी) को कलंक लगता है और उसके प्रेम को कलंक लगता है । मनुष्य विरह की साधना में इस प्रकार का कलंक किसी को नहीं लगने देना चाहता । मीन का प्रिय सच पूछिए तो जड़ है, न प्रिय प्रीति की रीति समझता है और न प्रेमी । जड़ की उपासना करने से मीन भी जड़ हो जाता है । परिणाम यह है कि प्रिय के हाथ में ही वह अपने को समर्पित किए रहता है, उसकी चेतना प्रिय के जड़त्व में ही विलीन हो जाती है । इसी से वह केवल प्रिय को पाने में छटपटाता हुआ मर जाता है । उसके छटपटाने में क्या कष्ट है इसे जल न पहले समझता था और न उसके छटपटाकर मर जाने पर ही समझता है । पर मनुष्य के विरहजन्य कष्ट का अनुभव उसका प्रिय करता है । प्रत्युत यह कहना चाहिए कि जैसी वेदना प्रेमी को हो रही है ठीक-ठीक उसका अनुभव और कोई नहीं कर सकता, यदि उसकी ठीक अनुभूति किसी और को हो सकती है तो प्रिय को ही । प्रेम की अनुभूति करनेवाला, समान अनुभूति करनेवाला प्रिय यदि आकृष्ट न हो तो विरही के कष्ट का सहज ही अनुमान किया जा सकता है । मीन-जल और पतंग-दीप में एक पक्ष जड़, दूसरा पक्ष चेतन होने पर भी चेतन-पक्ष वैसी चेतना का धारणकर्ता नहीं है जैसी मनुष्य की होती है । इसलिए मनुष्य की प्रेम-प्रेमसाधना को इनकी प्रेमसाधना से मिलाना मनुष्य का अपमान करना है ।

घनानंद की प्रेमसाधना इसीलिए चरम साधना के रूप में प्रतिष्ठित है । उसकी चरम साधना सामान्य प्रेम-प्रवाह से बहुत आगे है । विरह में मंजिष्ठाराग हो जाता है, प्रेम का पूरा परिपाक हो जाता है या प्रेम का भोग न होने से वह राशीभूत हो जाता है, यह साहित्य-परंपरा कहती चली आ रही है, पर यहाँ

प्रेम की वह चरम साधना नहीं दिखाई देती जहाँ वियोग में हो नही संयोग में भी वियोग का अनुभव होता रहता है—'यह कैसो सँयोग न बूझि परै कि बियोग न क्यों हूँ बिछोहत हैं'। प्रिय के वियोग में ही नहीं संयोग में भी अशांति साथ नहीं छोड़ती। प्रिय के वियोग की आशंका संयोग में भी बनी रहती है संयोग में भी वियोग का अनुभव ! भक्ति संप्रदायों में प्रिय के क्षण भर के लिए कुंज में छिप जाने पर गोपिकाएं जो अत्यंत व्याकुल दिखाई गई हैं वह इसी प्रेम-साधना या विरह-साधना के कारण। लौकिक दृष्टि से उसमें अत्युक्ति, अतिशयोक्ति दिखती है, पर पारलौकिक दृष्टि से वह अनिवार्य है। घनानंद इसी विरह-साधना की गाथा अपनी रचना में गाते रहे हैं। छायावादी रचना में जो 'पीड़ा का साम्राज्य' दिखता है वह किधर का साम्राज्य है यह थोड़ा ध्यान देते ही स्पष्ट हो जाएगा। पर उस 'साम्राज्य' जो जैसा स्वकीय रूप घनआनंद ने दिया वैसा उसे छायावादी रचना में नहीं मिल सका। इसका कारण स्पष्ट है। भक्तिकाल के अनंतर रीतिकाल में सूफियों की निर्गुणभक्ति भारतीय सगुणभक्ति में समा गई। जागतिक प्रेम की चरम सीमा पर पहुँचकर साधक निर्गुण की ओर न जाकर सगुण की ओर लौट पड़ा। पर छायावाद फिर से निर्गुण और अज्ञात के चक्कर में पड़ा। अपने लौकिक प्रेम के चरमोत्कर्ष को वह निर्गुण के प्रेम में वैसे ही छिपाने का प्रयास करने लगा जैसा सूफियों या फारसी-उर्दू के शायरों में था। इसी से आलोचक विवश होकर कहते हैं कि "इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देखा चाहें तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिए 'रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।" घनानंद की रचना में दुराव-छिपाव का प्रश्न ही नहीं है। वे तो जगत् के प्रेम के संबंध में राधा-कृष्ण के प्रेम के महोदधि की चर्चा यों करते हैं -

प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै बिचार बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयो है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैं दोऊ नेही हरि-राधा जिन्हैं देखें सरसायो है।
ताकी कोऊ तरल तरंग-संग छूट्यौ कन पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायो है।
सोई घनआनंद सुजान लागि हेत होत ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायो है॥

प्रेम का महोदधि ऐसा अपार है कि उसका पार पाना तो दूर विचार (ज्ञान)

इसी तट से, वार से ही, लौट आता है। ज्ञान या बुद्धि द्वारा प्रेम के महासागर का पार पाना कठिन है। प्रेमसागर में प्रेम से विवश होकर एकरस राधा और कृष्ण अवगाहन करते हैं। प्रेम का यह समुद्र उन्हें देखकर उसी प्रकार सरसाता है, बढ़ाता है, जिस प्रकार चंद्र को देखकर सागर में तरंगें उठती हैं, ज्वार आता है। उस प्रेमसागर की तरंग का एक-एक कण इतना विशाल है कि अनेक लोकों में जो प्रेम छाया हुआ है वह भी उसके कण मात्र से कम है। वह कण स्वयम् ऐसा विशाल समुद्र है कि सारे लोकों में प्रेम को पूरित करने पर भी वह उफनाता रहता है। उन लोकों की सीमा में न समा सकने के कारण वह उबरता है। भूलोक में उसी कण का एक अंश है। जगत के जितने प्रेम हैं उसी के अंग हैं। घनानंद और सुजान का प्रेम भी उसी कण के स्पर्श से हुआ है। प्रेम के इस स्वरूप की कल्पना मन को मथकर की गई है। यहाँ जिस परमभाव या महाभाव के रूप में प्रेम की चर्चा की गई है वह भक्ति-संप्रदायों की प्रेमसाधना का स्वरूप है। उस परमभाव के अंतर्गत सब प्रकार की सत्ताएँ आ जाती हैं। भक्त भावात्मक या प्रेमात्मक सत्ता को ही परमभाव मानते हैं। इसी से ज्ञान उनकी सीमा में प्रवेश नहीं कर पाता।

यह प्रेय या इस प्रेम की साधना साधारण नहीं—

चंदहि चकोर करै सोऊ ससिदेह धरै मनसाहू ररै एक देखिबे कों रहै द्वै।
ज्ञानहूँ तें आगें जाकी पदवी परम ऊँची रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।
जान घनआनँद अनोखो यह प्रेमपंथ भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै।
बुरो जिन मानौ जौन जानौ कहुँ सीखि लेहु रसना के छाले परैं प्यारेनेहनावें छ्वै॥

ब्रह्म स्वयम् द्विधा होकर इस प्रेमसाधना में अवतीर्ण होता है। वह स्वयम् साधक बन जाता है, प्रेमी बन जाता है और प्रिय की ओर वैसे ही आकृष्ट होता है जैसे चंद्र की ओर चकोर। प्रेम को साधना इतनी ऊँची साधना है कि इसके लिए स्वयम् ब्रह्म को जीव का रूप धरकर उसमें लगना पड़ता है लीला करनी पड़ती है। साध्य रहने में वह सुख या आनंद नहीं जो साधक बनने में है। यह परमभाव ज्ञान से आगे है, उसकी सीमा समाप्त हो जाने पर इसका आरंभ होता है। यह रसात्मक साधना है। इस साधना की विशेषता है कि जो सांसारिक विषयभोग में पड़े हुए हैं यदि कहीं इसकी ओर आकृष्ट हुए तो

उन भोगियों का भोग इस महासागर में डूब जाता है। विषयी अपने विषयभोग का परित्याग इसमें सहज कर देते हैं। यह राग की वह दिव्य भूमि है जहाँ पहुँच कर परमराग का उदय होता है और जगत के साधारण राग उसके सामने नगण्य और तुच्छ दिखाई देते हैं। इसी से इस प्रेममार्ग की साधना विलक्षण बताई जाती है। जो इसमें अपने को सर्वात्मना लीन कर देते हैं वे ही इस मार्ग में चलते हैं। जिन्हें अपनी सुध-बुध बनी हो वे इसमें नहीं चल सकते। सुध-बुध ज्ञान से संबद्ध है। इस मार्ग पर ज्ञान का दखल है ही नहीं। इस प्रेममार्ग का नित्य लक्षण है परम संताप की साधना। इस प्रेम का नाम लेने पर ही जीभ में छाले पड़ जाते हैं। इसलिए कि विरह की वेदना का, परम ज्वालामयी वेदना का, जीभ ने अनुभव किया कि वह संतप्त हुई। जहाँ प्रेम की चर्चा में ही यह स्थिति है वहाँ उसकी साधना करना, उसके मार्ग पर चलना कितना कठिन है, केवल कल्पना से ही जाना जा सकता है। इसी से इस प्रेमसाधना का नित्य लक्षण है विरह। कुंज में गोपियाँ श्रीकृष्ण के छिपने पर जो व्याकुल होती हैं उसमें छिपने में कम से कम आँख से ओझल हो जाना तो स्पष्ट है। यदि यह बताया जाए कि राधा और कृष्ण के प्रेम की चरम सीमा भक्ति संप्रदाय की साधना इस रूप में मानती है कि प्रियाजू के निकट रहते हुए भी संयोग में वे यह अनुभव करने लगते हैं कि प्रिया वहाँ नहीं है और व्याकुल हो जाते हैं। स्वयम् प्रियाजी उन्हें बारंबार समझाकर यह अनुभूति कराने में बहुत देर में समर्थ होती हैं कि मैं यहीं हूँ, स्थानांतर में नहीं। भाव-साधना और रस-साधना सगुण में ही अपने प्रकर्ष में हो सकती है। जो ज्ञान का विषय हो सकता है वह प्रेम का विषय भी हो सकता है यह तर्क भी स्वयम् ज्ञान ही है, प्रेम नहीं। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दो रूपों में मध्यकालीन भक्तों को आपत्ति नहीं है। आपत्ति इस अंश में है कि निर्गुण सबकी साधना का विषय नहीं हो सकता, साधारण जनों की साधना का विषय नहीं हो सकता। भावात्मक सत्ता न होने के कारण वह उनके भावों के टिकाने का समुचित आलंबन नहीं हो सकता। वह विरही की पुकार से द्रवीभूत नहीं हो सकता—

तोहि सब गावैं एक तोही कों बतावैं बेद पावैं फल ध्यावैं जैसी भावनानि भरि रे।
जल-थलब्यापी सदा अंतरजामी उदार जगत में नावँ जानराय रह्यौ परि रे।

एतें गुन पाय हाय छाय घनआनँद यौं कैधौं मोहिं दीस्यौ निरगुनहो उघरि रे ।
जरौं बिरहागिनि मैं करौं हौं पुकार कासों दई गयो तू हू निरदई ओर ढरि रे ।।

उस प्रेम की साधना के लिए ज्ञान की दृष्टि अपेक्षित नहीं है। प्रेम की साधना से पीड़ा भी मधुर हो जाती है। माधुर्य का कारण यह है कि प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचने पर जगत के द्वंद्वभाव का विनाश हो जाता है। ज्ञान भेद करानेवाला हैं प्रेम या राग अभेद उत्पन्न करनेवाला। रागद्वेष जगत के द्वंद्व हैं। परमराग या महाराग की भूमिका में प्रवेश करने पर केवल राग रह जाता है। हर्ष और विषाद तो केवल स्वादवाद मात्र रहते हैं। हर्ष का अर्थात् आनंद का पूर्ण अनुभव बिना विषाद की अनुभूति के नहीं हो सकता। इसलिए विषाद भी आनंद की साधना का अंग बन जाया करता है। प्रेम की ऐसी परमदृष्टि जिसे हो उसी की दृष्टि दृष्टि है अन्यथा अन्य आँखें मोरपंख में बनी आँखों की भाँति जड़ हैं— •

मोरचंद्रिका सो सब देखन कों धरे रहैं सूछम अगाध-रूप साध उर आनहीं ।
जाहि सूझ तिनहूँ सो देखि भूलि ऐसी दशा ताहि ते बिचारे जड़ कैसें पहचानहीं ।
जान प्रानप्यारे के बिलोकें अबिलोकिबे कों हरष बिषाद स्वादवाद अनुमानहीं ।
चाहमीठी पीर जिन्हें उठति आनंदघन तेई आँखैं साखैं और पाखैं कहा जानहीं ।।

प्रेम का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म और उसकी गंभीरता अगाध है। वह रूप जिन्हें दिखना है, जब वे भी अपने को भूल जाया करते हैं तब जड़ उस प्रेम को क्या पहचान सकेंगे। प्रिय के दर्शन पर उसके संयोग में भी, उसको आगे भी देखते रहने की लालसा के कारण हर्ष और विषाद स्वादवाद के रूप में होते हैं। संयोग में भी वियोग की स्थिति संयोग की परम साधना के लिए ही होती है। इस प्रकार की मीठी पोड़ा जिनकी आँखों में हो, जिनके हृदय में यह मधुर वेदना हो वे ही नयनवंत हैं, अन्यथा और कुछ। घनानंद की इस 'मधुर वेदना' की महादेवी वर्मा की 'परम पीड़ा' से मिला देखिए, दोनो में वही अंतर हैं जो ब्रह्म की सगुण और निर्गुण धारणा के कारण संभाव्य है।

घनआनंद 'बिरही बिचारन की मौन में पुकार है' क्यों कहते हैं, यह कदाचित् कुछ स्पष्ट हो गया होगा। यही कारण है कि वे संसार के

प्राणियों से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। उनकी वेदना को केवल 'हरि' ही जान सकते हैं—

मो से अनपहिचान कों पहिचानै हरि कौन।
कृपाकान मधि नैन ज्यों त्यों पुकार मधि मौन॥

संसार के व्यक्ति विरही की पुकार इसलिए नहीं सुन पाते कि उसकी पुकार मौन में रहती है। विरही स्वयम् तो कुछ कहता नहीं, जो उसकी विरहावस्था से देख समझकर जान ले वही उसकी वेदना को हृदयंगम कर सकता है पर मौन की पुकार सुनने के लिए संसारियों के पास कान कहाँ जब नेत्रों से देखकर विरही की अवस्था को जानना है, उसकी मौन की पुकार सुननी है तो फिर नेत्रों में ही कान हों तभी कोई उसे सुने। ऐसी दृष्टि जगत् के किसी व्यक्ति के पास नहीं। होगी तो भी काम सर नहीं सकता। इसलिए कि यदि किसी ने नेत्रों के कान से पुकार सुन भी ली तो वह उस वेदना के परिमार्जन का उपाय करने को शक्ति कहाँ पाएगा! उसके जान लेने से तो काम चलेगा नहीं। किसी ने जान लिया कि अमुक विरही है इतने से ही तो विरही का कष्ट दूर नहीं हो सकता। जब जानकार में समानुभूति हो तो कदाचित् ऐसा कुछ हो सके, पर विरही की-सी वेदना का अनुभव करनेवाला शीघ्र जगत में मिलता नहीं। यदि ऐसा भी मिल जाय तो भी कठिनाई है। इसलिए कि यदि कोई समानुभूति करनेवाला मिला तो वह समानुभूति करके रह जायेगा। पहले तो विरही कुछ कहता नहीं। 'इस वेदना में पड़े हम कष्ट झेल रहे हैं, इससे हमें उबारो' यह भला कोई विरही क्यों कहने लगा जबकि उसकी साधना मौन साधना है। अपनी ओर से उसके कष्ट-निवारण का कोई प्रयास करे तो भी क्या! उस कष्ट के निवारण का सामर्थ्य उसमें कहाँ से आएगा। पर हरि के नेत्रों में 'कृपा के कान लगे होते हैं। वे पुकार सुनते ही नहीं, कष्ट दूर करने के लिए कृपा भी करते हैं। कृपा किसी आपन्न के प्रति की जानेवाली वह अनुकूलता है जो अयाचित हो। याचित अनुकूलता का नाम 'अनुग्रह' है। भरत राम से दोनों प्रकार की अनुकूलता पाने का उद्घोष तुलसीदास के मानस में यों करते हैं—

कृपा अनुग्रह अंबु अघाई।

राम ने याचित अनुकूलता ही नहीं दिखाई, जिसकी अपेक्षा थी उसे स्वयम् अयाचित भी कर दिया। कृपा की वारिधारा और अनुग्रह के वारिप्रवाह दोनों से भरत तृप्त हो गए। परिपूर्ण अनुग्रह और कृपा दोनों की प्राप्ति हुई। पहले 'ग्रह--ग्रहण'--'याचना' तब 'अनुग्रहण'—अनुकूलताप्रदशन।

घनआनंद में रहस्यात्मक प्रवृत्ति की झलक सूफी-भावना और फारसी-साहित्य की प्रेरणा से उनकी रचना के प्रस्तुत होने का प्रमाण उपस्थित करती है। पर रहस्य किस प्रकार सगुणसाधना में विलीन हो गया है इसका पता भी उनकी रचना स्थान-स्थान पर देती है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जौ घनआनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं॥

प्रिय के प्रति प्रेमी के ऐसे आकर्षण का हेतु क्या है? क्या वह परम-प्रिय स्वयम् इतना आकर्षक है जिसके कारण प्रेमी सदा आकृष्ट रहता है अथवा प्रेमी की वृत्ति ही इस प्रकार की है। आकर्षण विषयविशिष्ट है या विषयिविशिष्ट। इस जिज्ञासा का हेतु यह है कि परम वेदना होने पर भी प्रिय की ओर से उदासीन होने का नाम नहीं। प्रिय का रूप न तो धुँधला ही पड़ता है न हट हो जाता है। वेदना नाना प्रकार की वृत्तियों का विनाश कर डालती है, पर प्रेम की रेखा ज्यों की त्यों रहती है, उसमें अतर नहीं पड़ता—

लिखि राख्यौ चित्र यौं प्रबाहरूपी नैननि मैं लहो न परति गति ऊलट अनेरे की।
रूप की चरित्र है अनंदघन जान प्यारो अकि धौं बिचित्रताई मो चितचितेरे की॥

नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह निरंतर बह रहा है और उसी प्रवाह में बिना फोका पड़े तथा बिना धुले प्रिय का चित्र भी ज्यों का त्यों बना है। यह विचित्रता किसकी? चित्र की या चित्रकार की, प्रिय की या प्रेमी की, आलंबन की या आश्रय की।

कवि ने इसका उत्तर अन्यत्र दे दिया है—

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।

रूप में भी अनोखापन है अनुपमता है। ज्यों-ज्यों उसे ध्यान से देखा जाता है वह नया दिखाई देता है, सौंदर्य की परिभाषा भी तो यही है—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताः। आँखों की वृत्ति भी अनोखी है कि इन्हें अन्यत्र कहीं तृप्ति नहीं मिलती। उभयपक्षविशिष्ट नूतनता है। अनोखा=सं० नवक>नोक>नोख 'अ' का आगम होकर अनोख>अनोखा>अनोखी मूल शब्द 'नोखा' ही है नोखे की नायन को नहरनी।

प्रेमी और प्रिय दोनों ही असाधारण हैं। इसी से प्रेमी (विरही) का विषाद भी असाधारण है। उसके विषाद पर, परम विषाद पर सारी सृष्टि समानुभूति व्यक्त करती है—

बिकल बिषाद भरे ताही की तरफ तकि दामिनी हूँ लहकि बहकि यौं जरयौ करै।
जीवनअधार पनपूरित पुकारनि सों आरत पपीहा नित कूकनि करयौ करै।
अथिर उदेगगति देखिकै अनंदघन पौन बिडरयौ सो बन बीथिन ररयौ करै।
बूँदें न परति मेरे जान जान प्यारी तेरे बिरही कों हेरि मेघ आँसुनि झरयौ करे॥

बिजली के लपलपाने और दाहपूर्ण होने का हेतु विरही की व्यथा के कारण उसका सकरुण होना है, अनुकंपन में वह स्वयम् जलने लगती है मारे सहृदयता के। पपीहे की रट विरही की अति पुकार, अव्यक्त मौन पुकार की व्यक्त अनुकृति है। उसी अनुकृति से विरही के विषाद का परम विषाद का अनुमान होता है जिसकी समानुभूति में चातक की इतनी मार्मिक रटन है वह स्वयम् कितनी अधिक मर्मविघातिनी वेदना होगी। पवन में स्थिरता न होने का कारण यही है कि वह भी विरही की अस्थिर उद्वेग की गति से समवेदना प्रकट कर रहा है। उसका अरण्यरोदन भले ही कोई न सुने-समझे, पर वह समझ-बूझ को खोकर स्वयम् जो रोदन कर रहा है वह परहृदयदुःखकातरता के ही कारण। मेघ से गिरनेवाली बूँदें, बूँदें नहीं हैं। वे उसके विगलित हृदय के आँसू हैं। कालिदास का यक्ष मेघ की इसी समानुभूति के संकेत से उसके प्रति यांचा करने को प्रस्तुत हुआ था और उसे दूत, प्रेयसी के निकट जानेवाला दूत बनाकर भेजा था। घनानंद का बिरही भी उससे दूत बनकर जाने की प्रार्थना करता है। मेरे खारे आँसूओं को मधुर बनाकर, अमृत करके बिसासी (विश्वासघाती, विष + आशी) सुजान के आँगन में बरस दो।

कहने का तात्पर्य यह है कि विदेशी प्रेरणा होने पर भी घनानंद का काव्य-विकास भारतीय साहित्यपरंपरा के भीतर ही हुआ है, पर सर्वथा नवीन शैली में। इनकी कविता का बखान करना सहज नहीं है। ब्रजनाथ के इस सवैये से उसके बखान की कठिनाई का अनुभव किया जा सकता है—

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुंदरतानि के भेद कों जानै।
जोग बियोग की रीति मैं कोविद भावनाभेद स्वरूप कों ठानै।
चाह के रंग मैं भीज्यौ हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषाप्रबोन सुछंद सदा रहै सो घनजा के कबित्त बखानै॥

जीवनवृत्त

घनानंद मुगलसम्राट मुहम्मदशाह रँगीले के मुंशी थे। इस बखेड़े को छोड़िए कि ये उनके 'खास कमल' (प्राइवेट सेक्रेटरी) थे या दरबार के 'मीर मुंशी'। कहा जाता है कि सदारँगीले के दरबार की 'सुजान' नामक वेश्या पर ये आसक्त हो गए थे। अन्य दरबारी लोग इस बात के आधार पर षड्यंत्र करके इन्हें दिल्ली से निष्कासित कराने के हेतु बने। दरबारियों ने बादशाह से एक दिन कह दिया कि मुंशीजी गाते बहुत अच्छा हैं। फिर क्या था, बादशाह ने इनका गाना सुनने की हठ पकड़ ली। पर ये नम्रतावश गाना सुनाने में अपनी अशक्ति का ही निवेदन करते रहे। अंत में षड्यंत्रकारियों ने बादशाह से चुपके-चुपके यह कहा कि 'ये यों न गाएँगे। यदि 'सुजान' बुलाई जाय, जिस पर ये आसक्त हैं तभी गाना सुनाएँगे'। 'सुजान' बुलाई गई और इन्होंने उसकी ओर उन्मुख होकर सचमुच गाया और ऐसा गाया कि सारा दरबार मंत्रमुग्ध हो गया। बादशाह ने गान का रस लूटने के अनंतर जो होश सँभाला तो इनकी इस गुस्ताखी पर बहुत अप्रसन्न हुआ कि इन्होंने वेश्या का मान बादशाह से अधिक किया फलस्वरूप उसने इन्हें देश निकाले का दंड दिया। कहा जाता है कि ये 'सुजान' के निकट गए और उससे भी साथ देने को कहा पर उसने साथ चलना अस्वीकार कर दिया। अंत में ये बृंदावन चले गए और वहाँ निंबार्क-संप्रदाय में दीक्षित हो गए। पर 'सुजान' नाम इन्होंने कभ

नहीं त्यागा। भगवद्भक्ति में इस शब्द का व्यवहार श्रीकृष्ण और श्रीराधिका के लिए अपनी रचना में बराबर करते रहे। अंत में कहा जाता है कि मथुरा पर होनेवाले नादिरशाह के हमले में ये मारे गए।

इतिहास में मथुरा पर नादिरशाह के हमले की चर्चा नहीं है। अहमदशाह अब्दाली या दुर्रानी के हमले की बात आई है। सबसे पहले नागरीदासजी के जीवनचरित्र में बाबू राधाकृष्णदासजी ने यह संकेत किया कि हमला दुर्रानी का था। मेरे शिष्य स्वर्गीय विद्याधर पाठक ने बड़े परिश्रम से इस भ्रांति का निराकरण करने की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। उसके अनंतर श्रीज्ञानवती त्रिवेदी ने 'घनानंद' नामक पुस्तक में यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया कि यह हमला अब्दाली का ही हो सकता है। सं० १८४९ के लिखे कृष्णभक्ति-विषयक एक पदसंग्रह में इस हमले का उल्लेख इस प्रकार है—'श्रीकामबन के मंदिर मलेछनि करि जो उतपात भयौ ताको हेत जो रासकानि के विचार में आयौ सो लिख्यौ है' उत्पात का कारण पूजा में त्रुटि बतलाया गया है। रघुराजसिंहजू देव की 'रामरसिकावली' में दी हुई घनानंद की कथा से यह 'वार्ता' कुछ मिलती है। श्रीवृंदावनदासजी ने इसका संकेत अपनी 'श्रीकृष्ण-विवाह उत्कंठावेली' में इस प्रकार किया है—

"जमन कछू संका दई ब्रजजन भए उदास।
ता समयें चलि तहाँ तें कियौ क्रस्नगढ़ बास॥"—
(खोज १९१७—३, एफ्)।

अब इधर जो नवीन सामग्री प्राप्त हुई है उससे इसी की पुष्टि हो जाती है कि घनानंदजी का निधन मथुरा में ही हुआ और ये नादिरशाह के आक्रमण में न मारे जाकर अहमदशाह के आक्रमण में ही मारे गए। अब्दाली ने एक बार सन् १७५७ (सं० १८१३) में और दूसरी बार सन् १७६१ (सं० १८१७) में मथुरा पर आक्रमण किया था।

नादिरशाह के आक्रमण के अनंतर तो ये जीवित थे। यह इन्हीं के कथन द्वारा सिद्ध है। इधर आनंदघनजी के ग्रंथों के जो वृहत् संग्रह प्राप्त हुए हैं उनमें एक 'मुरलिका-मोद' भी है। इसके अंत में स्वयम् लिखते हैं—

गोपमास श्रीकृष्ण-पच्छ सुचि। संवत्सर अठानवे अति रुचि।

यह संवत्सर अठानवे' १७९८ है। नादिरशाह का भारत पर आक्रमण

सं० १७९६ में हुआ और दिल्ली तक ही परिमित रहा। संवत् १७९८ में आनंदघनजी ग्रंथ की रचना कर रहे हैं अर्थात् उसके दो वर्षों के अनंतर भी ये जीवित हैं। इस प्रकार अब यह निश्चित हो गया कि ये सं० १७९६ में नहीं मारे गए। इनकी मृत्यु या हत्या नादिरशाही में कदापि नहीं हुई। पर ये अब्दाली के दोनों आक्रमणों में से पहले में मारे गए या दूसरे में इसका निश्चय कर लेना चाहिए। सं० १८१३ में आनंदघनजी कृष्णगढ़ के महाराज सावतसिंह नागरीदास के साथ दिखाई देते हैं। "जब वृंदावन से महाराज नागरीदासजी और घनानंद कृष्णगढ़ आए थे तब पहले जयपुर आए और श्रीगोविंद के दर्शनों को गए थे। वहाँ श्रीगोविंददेव के सान्निध्य में आनंदघनजी ने कीर्तन गाए। उस समय जयपुर के महाराज जी दर्शनों को आए थे सो जयपुर महाराज ने उनके कवित्तों की बड़ी प्रशंसा की। तब आनंदघनजी ने कहा कि तुम प्रशंसा करनेवाले कौन ? हमारे कीर्तनों की प्रशंसा करें तो श्रीगोवर्धनजी करें। यह कह कर वहाँ से विदा हुए और नागरीदास से कहा हम ऐसे देश में आगे नहीं चलेंगे पीछे ही जायँगे सो पीछे ही मथुरा चले गए और यह भी सुना जाता है कि मथुरा में कत्लेआम करनेवालों से कहा कि मेरे तलवार के घाव बहुत थोड़े थोड़े बहुत देर तक दो। इनको ज्यों-ज्यों तलवार के घाव लगते गए त्यों-त्यों वह व्रज-रज में लोटते रहे, ऐसे देह त्याग किया।" (राधाकृष्णदास-ग्रंथावली, पृष्ठ १७३)।

व्रज से नागरीदास और घनानंद के प्रस्थान का संवत् 'नागरसमुच्चय में कवीश्वर जयलाल ने यह दिया है—

अट्ठारह सै ऊपरै संवत तेरह जान।
चैत्र कृष्ण तिथि द्वादशी व्रज तें कियो पयान।।

चैत्र कृष्ण अमावस्या को संवत् १८१३ समाप्त हो जाता है और चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से संवत् १८१४ का आरंभ होता है। अब्दाली का सन् १७५७ में कत्लेआम १ मार्च से ६ मार्च तक हुआ था। 'इंडियन एफिमरीज' के अनुसार यह समय फाल्गुन शुक्ल दशमी से चैत्र कृष्ण प्रतिपदा तक पड़ता है। अब्दाली का हमला सं० १८१३ में ही हुआ था, सं० १८१४ में नहीं, इसका प्रमाण 'खोज' के एक विवरण में मिलता है।

चाचा हितवृंदावनदासजी की 'हरिकलाबेलि' के विवरण में लिखा है—"काबुल वा कंधार का रहनेवाला एक कलंदरशाह मुसलमानों की एक फौज लेकर पहली बार सं० १८१३ में और दूसरी बार संवत् १८१७ में व्रज पर चढ़ आया था।"—(त्रैवार्षिक खोज-विवरण १६१२ १४, १६६ के) इस 'हरिकलाबेलि' के आरंभ में ही लिखा है—

ठारह सै तेरहों बरस हरि यह करी।
जमन बिगोयो देस बिपति गाढ़ी परी।
तब मन चिंता बाढ़ी साधु पतन करे।
हरहीं मनहु सिष्टि-संघार-काल आयुध धरे।। १ ।।
दोहा—भाजि भाजि कोउ छूटे तब मन उपज्यो सोच।
अहो नाथ तुम जन हते भए कौन विधि पोच।। २ ।।
बार बार सोचत यही गए प्रान बौराइ।
संत करे बध जमन नै यह दुख सह्यो न जाइ।। ३ ।।
सहर फरूखाबाद जहँ गए सुरधुनी पास।
चैत्रसुदी एकादसी तहाँ भयौ इक रास।। ४ ।।
तीन पहर रजनी गई ये कवि कीयो गान।
तहाँ एक कौतुक भयौ जाको करौं बखान।। ५ ।।
आनँदघन को ख्याल इक गायौ खुलि गए नैन।
सुनत महा बिह्वल भयौ मन नहिं पायौ चैन।। ६ ।।
ऐसेहूं हरि-संत-जन मारे जमननि आइ।
यह अति देखि हियो भयो लीनो सोच दबाइ।। ७ ।।

आनंदघनजी का ख्याल किसी 'इक' ने गाया। सुनकर वृंदावनदासजी विह्वल हो गए, उनके चित्त में स्थिरता नहीं रही। ऐसे ख्याल के निर्माता आनंदघनजी के समान हरि-संत-जनों को यवनों ने मार डाला।

बिरह सौं तायौ तन निबाह्यौ मन साँचौ पन,
धन्य आनंदघन मुख गाई सोई करी है।
एही व्रजराज कुँवर धन्य धन्य तुमहूँ कौं,
कहा नीकी प्रभु यह जग में बिस्तरी है।

गाढ़ी बृजउपासी जिन देह अंत पूरी पारी,
रज की अभिलाष सो तहाँ ही देह धरो है ।।
बृंदाबन हित रूप तुमहू हरि उड़ाई धूरि,
ऐ पै साँची निष्ठा जन ही की लखि परी है ।। १७७ ।।

हरि तो 'धूल ही उड़ाते रहे' पर भक्त की निष्ठा ही सत्य निकली कि शरीर व्रजरज में ही मिला, खंड-खंड कण-कण होकर।

मुहम्मदशाह रँगीले और उसके अमीर-उमरावों ने पतन की किस सीमा तक मुगलवंश को पहुँचा दिया था इसका भी स्पष्ट उल्लेख है—

नीत पातसाहैऊ क्यौ सूबनि मनसूब चूक्यौ
बहुत दिन निजाम कूक्यौ काबिल दरेरो कियै।
वेस्या मदपान करि छकि गए अमीर जेते
रजतम की धार काढ़ी बूड़े को बिलोकियै।
दिल्ली भई बिल्ली कटैला कुत्ता देखि डरी,
भूल्यो मुहम्मदशाह पहिले अब काह ढोकियै।
बाबर हिमायुँ को चलाऊ अब बंस भयौ
ताको यह फैल्यौ सोक परजा करन ठोकियै ।।

आनंदघनजी की हत्या का प्रत्यक्षदर्शी यह महात्मा जो कुछ कह रहा है उसे अब सत्य मानकर हिंदीवालों को अपनी 'नादिरशाही' त्याग देनी चाहिए। 'हरिकलाबेलि' का निर्माणकाल यह है—

ठारह सै सत्रहों वर्ष गत जानियै। साढ़ बदी हरिबारस बेलि बखानियै ।।

जयलालली ने सुनी-सुनाई वार्ता लिखी है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने ठीक समय नहीं दिया। हरिकलाबेलि १८१७ में समाप्त हुई। इसके पहले ही इनका बध हो गया था। सं० १८१३ में फरूखाबाद में गंगा के किनारे कबि उनके बध से दुखी है इसलिए दुर्रानी के पहले आक्रमण में ही इनका शरीरपात हुआ। कहते हैं कि लुटेरे इनसे 'जर-जर' (धन-धन) कहते थे और ये उसे उलटकर ब्रजधूलि उठाकर उन्हें 'रज-रज' कहते हुए देते थे।

कृतियाँ

अब घनानंद की कृतियों का विचार कीजिए। 'घनआनंद-आनंदघन' की कृतियों के हस्तलेख नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा की गई 'खोज' में संवत् २००० तक इस प्रकार विवृत किए गए हैं—

१ घनआनंद कवित्त (००–७९)।
२ आनंदघन के कवित्त—(६–१२५, २६–१२ ए)
३ कवित्त—(२६–११६ डी)
४ स्फुट कवित्त—(३२–७ सी)
५ आनंदघनजू के कवित्त (४१–१० ख)
६ सुजानहित—(१२–४ बी)
७ सुजानहित प्रबंध—(२६–११६ बी)
८ कृपाकंद-निबंध—(२–६६)
९ वियोगबेलि—(१७–८ बी, २९–११६ बी)
१० इश्कलता—(१२–४९, ३२–७ ए)
११ जमुनाजस—(४१–१० क)
१२ आनंदघनजू की पदावली—(२६–११ बी, दि० ३१–६)
१३ प्रीतिपावस—(१७–८ ए; २६–११६ ए)
१४ सुजानविनोद—(२३–१४)
१५ कवित्त-संग्रह—(३२–७ बी)
१६ रसकेलिबल्ली—(००–७९)
१७ बृंदाबन-सत—(३२–७ डी)।

इनमें से 'बृंदाबन-सत' तो श्रीहरिदासजी की शिष्य-परंपरा में माधवमुदित के पुत्र भगवतमुदित की रचना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

श्रीमाधोमुदित प्रसंस हंस जिन रति-रस गायौ।
तिनको हौं निज अंस रहसि रस तिन तें पायौ॥

इनकी छाप थी 'भगवंत', पर 'आनंदघन' पद ने जैसे औरों को धोखा दिया वैसे ही 'खोज' के साहित्यान्वेषक को भी। निम्नलिखित दोहे में उसने 'आनंदघन' को पकड़ा, 'भगवंत' को भूल ही गया, उनकी विनती पर भी ध्यान नहीं दिया।

यह बिनती 'भगवंत' को सुनहु रसिक दै चित्त।
अपनो मोको जानि कै दया करहुगे नित्त॥
बृंदाबन आनंदघन प्रति रस सों रसवंत।
जिय डरत हौं यह बिनती 'भगवंत'॥

रचना संवत् १७०७ की है और 'आनंदघन' के काव्यकाल से लगभग पचास वर्ष पहले की है—

'संबत् दस सै सात अरु सात बरख है जानि।'

'रसकेलिबल्ली' का नाम तो सुना सुनाया ही है कवित्त-संग्रह और 'सुजानविनोद' भी परकालीन नूतन संग्रह हैं। इनमें कुछ छंद नए नहीं मिलते हैं जो 'घनानंद-कवित्त' में नहीं हैं। संख्या १ से ४ तक के सभी हस्तलेख 'घनानंद-कवित्त' के ही हैं, जिनका संग्रह 'व्रजनाथ' नाम के सज्जन ने किया था। इन्होंने संग्रह के आदि और अंत में 'घनानंद' और उनकी रचना की प्रशस्ति भी लिखी है। ये 'घनानंद' के ही संप्रदाय के कोई भक्त जान पड़ते हैं। 'शिवसिंहसरोज' में 'रागमाला' के कर्ता व्रजनाथ का उल्लेख है, जिन्होंने राग-रागिनियों के स्वरूप का बोध दोहा में कराया है? रचना देखने से कोई भक्त ही जान पड़ते हैं, इनका कविताकाल सं० १७८० (जन्मकाल नहीं, जैसा 'मिश्रबंधु-विनोद' में माना गया है।) यदि ये वे ही व्रजनाथ हों तो 'घनानंद' के समसामयिक ठहरते हैं। इसलिए घनानंद-कवित्त', जो कवि के ५०० छंदों का संकलन है, सबसे प्राचीन संग्रह ठहरता है। इस संग्रह में कुल ५०५ छंद हैं। बीच मे दो सोरठे और तीन दोहे भी हैं जिनकी सख्या हस्तलेख में पृथक् नहीं गिनी गई है। प्राचीन काल में मनहरण, घनाक्षरी, सवैया-झूलना सबकी संज्ञा कवित्त थी। तुलसीदासजी की कवितावली में भी कवित्त शब्द का ऐसा ही अर्थ किया गया है। इस संग्रह में कवित्त शब्द इसी अर्थ का बोधक है। आरंभ में २ तथा अन्त में ६ कुल ८ छंद व्रजनाथ के हैं और घनानंद की प्रशंसा में लिखे गए हैं।

संख्या ५ का ग्रंथ 'सुजानहित' ही है, जो म्युनिसिपल म्यूजियम, इलाहाबाद में सुरक्षित है। 'सुजानहित' या सुजानहित-प्रबंध' भी कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, कवि के ५०० छंदों का नूतन संग्रह ही है। इसके

हस्तलेख दो प्रकार के मिलते हैं एक प्रकार के हस्तलेखों में ४४८ छंद हैं, दोहों-सोरठों की गणना नहीं की गई है। उन्हें भी गिन लेने से ४५४ छंद होते हैं। दूसरे प्रकार के हस्तलेखों में लगभग ५०० छंदसंख्या मिलती है और दोहों की गिनती कर लेने से ५०५ छंद हैं। ऐसा जान पड़ता है कि पहले प्रकार के हस्तलेखों की परंपरा किसी अधूरी प्रति के आधार पर चल पड़ी है। घनानंद-कवित्त' और 'सुजान-हित' में बहुत थोड़े छंदों का अन्तर है। एक तो 'घनानंद कवित्त' में 'कृपाकंदनिबंध' के बहुत से छंद हैं दूसरे दानलीला का बहुत बड़ा प्रसंग भी जुड़ा हुआ है। दोनों का मिलान करने से पता चलता है कि 'घनानंद-कवित्त' की कोई अस्त-व्यस्त प्रति ही सामने रखकर 'सुजानहित' संकलित हुआ है। इसलिए यह बाद का किया हुआ संग्रह जान पड़ता है। इसके संग्रहकर्ता कौन थे ? पता नहीं। पर पुस्तक के नाम से संकेत मिलता है कि वे श्रीहितहरिवंश के संप्रदाय के हो सकते हैं। राधावल्लभी या हितहरिवंश के संप्रदाय के भक्तों और उनकी रचनाओं के नामों के आदि-अंत में 'हित' शब्द जोड़ने का चलन है—हितगुलाब, हितध्रुवदास, हितशृंगारलीला, सेवकहित, परमानंदहित, चंद्रहित आदि।

'कृपाकंद-निबंध' की पहले केवल एक ही प्रति मिली थी। छतरपुरवाले बृहत् ग्रंथ में भी इनका उल्लेख है। 'ब्रजमाधुरीसार' का 'कृपाकांड' यही है। रोमी अक्षरों की कृपा से 'कृपाकांड' का कांड उपस्थित हुआ है। यह व्यवस्थित ग्रंथ है और 'कृपा के कंद' (बादल—'कहूं ऐसे मन-चातक भए जे कृपाकंद के' छंद ५२) श्रीकृष्ण की कृपा के माहात्म्य पर लिखा गया है। 'वियोगबेलि' की कई हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। इसी का प्रकाशन श्रीकाशीप्रसादजी जायसवाल ने 'विरहलीला' के नाम से काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा कराया था। इसका नाम भी छतरपुरवाले ग्रंथ में है। पर कुछ लोगों का यह समझना भ्रम है कि रचना खड़ी बोली की है। भाषा इसकी ब्रजी ही है, पर छंद है फारसी का।

'आनंदघनजू की पदावली' के दो हस्तलेख मिलते हैं। दोनों एक ही हैं। वह भी संकलन ही है। किसी निश्चित क्रम से 'आरंभिक पद' नहीं रखे गए हैं अन्त में कुछ शीर्षक बांधकर एक प्रकार के पदों को एक स्थल पर अवश्य

एकत्र कर दिया गया है। गान के पद कहीं छोटे कहीं बड़े हैं। कहीं-कहीं पद अधूरे ही हैं। 'व्रजमाधुरीसार' में जिस 'बानी' की चर्चा हुई है वह यही पदावली है। 'इश्कलता' की दो प्रतियाँ हैं और 'खोज' के विवरण-पत्रों का मिलान करने से एक संख्या का अन्तर पड़ता है। दूसरी प्रति नहीं मिली, अतः उसका पता नहीं चला। 'यमुना-यश' की एक ही प्रति मिलती है। 'प्रीति पावस' की एक प्रति श्रीदेवकीनंदनाचार्य पुस्तकालय, कामवन में भी पहले थी, पर संप्रति उसका पता नहीं चला। दोनों प्रतियों में कोई अन्तर नहीं है।

इनके अतिरिक्त अनेक कवित्त-संग्रहों और पद-संग्रहों में भी 'घनानंद' छाप के छंद और 'आनंदघन' छाप के पद मिलते हैं। 'खोज' के अतिरिक्त मिश्रबंधुविनोद में छतरपुर राजपुस्तकालय के बृहत् ग्रंथ का विवरण यों दिया गया है—"इनका ५४२ बड़े पृष्ठों का एक भारी ग्रंथ संवत् १८८२ का लिखा हुआ दरबार छतरपुर के पुस्तकालय में देखने को मिला, जिसमें १८११ विविध छंदों तथा १०४४ पदों द्वारा निम्नलिखित विषय वर्णित हैं :— प्रियाप्रसाद, व्रजव्योवहार वियोगबेली, कृपाकंदनिबंध, गिरिगाथा, भावना-प्रकाश, गोकुलविनोद, व्रजप्रसाद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, बृंदावनमुद्रा, प्रेमपत्रिका, व्रजवर्णन, रसवसंत, अनुभवचंद्रिका, रगबधाई, परमहंसवंशावली और पद।"—(मिश्रबंधुविनोद, द्वितीय संस्करण पृष्ठ ५७४)

'घनआनंद और आनंदघन' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन होने के अनन्तर 'निंबार्क-माधुरी के संपादक श्रीबिहारीशरणजी ने मुझे घनानंद या आनंदघन के एक हस्तलेख का पता दिया और मैं वृंदावन पहुँचा। हस्तलेख की प्रतिलिपि करने पर निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चला—

१ प्रेमसरोवर	८ वृषभानुपुर-सुषमा
२ व्रजविलास	९ गोकुलगीत
३ सरसवसंत †	१० नाममाधुरी †
४ अनुभवचंद्रिका †	११ गिरिपूजन
५ रंगबधाई †	१२ यमुना-यश †
६ प्रेमपद्धति	१३ विचारसार
७ कृपाकंदनिबंध * †	१४ प्रीतिपावस †

१५ दानघटा *
१६ इश्कलता *
१७ भावनाप्रकाश †
१८ कृष्णकौमुदी †
१९ धामचमत्कार †
२० प्रियाप्रसाद †
२१ वृंदावनमुद्रा †
२२ व्रजस्वरूप
२३ गोकुलचरित्र
२४ प्रेमपहेली
२५ रसनायश
२६ छंदाष्टक
२७ त्रिभंगी छंद
२८ गोकुलविनोद †
२९ व्रजप्रसाद †
३० मुरलिकामोद
३१ वियोगवेलि * †
३२ प्रेमपत्रिका * †
३३ मनोरथमंजरी
३४ पद * †

उक्त सूची में जिनपर 'तारा' (*) का चिह्न लगा है वे ग्रंथ 'घनानंद' और 'आनंदघन' नामक संग्रह में मैंने प्रकाशित कर दिए हैं। जिन पर कटार †) का चिह्न है वे ग्रंथ छतरपुरवाले संग्रह में भी उल्लिखित हैं। शेष पंद्रह ग्रंथ इसमें अधिक हैं। इसमें छतरपुर-संग्रह के चार ग्रंथ नहीं हैं। इस संग्रह के प्राप्त हो जाने के अनंतर मेरे मित्र श्रीकेसरीनारायणजी शुक्ल को लंदन-संग्रहालय के हस्तलेख-विभाग में दूसरा संग्रह मिला जिसमें निम्नलिखित ग्रंथों के नाम हैं :--

१ प्रियाप्रसाद प्रबंध * †
२ व्रजव्योहार * †
३ वियोगवेलि * †
४ कृपाकंदनिबंध * †
५ गिरिगाथा *
६ भावनाप्रकाश * †
७ गोकुलविनोद * †
८ व्रजप्रसाद * †
९ धामचमत्कार * †
१० कृष्णकौमुदी * †
११ नाममाधुरी *
१२ वृंदावनमुद्रा * †
१३ पदावली * †
१४ कवित्त-संग्रह
१५ प्रेमपत्रिका * †
१६ रसवसंत * †
१७ अनुभवचन्द्रिका * †
१८ रंगबधाई * †
१९ परमहंस-वंशावली *
२० मुरलिकामोद †
२१ गोकुलगीत †
२२ व्रजविलास प्रबंध †
२३ व्रजस्वरूप †

जिनपर तारा (*) लगा है वे छतरपुरवाले संग्रह में उल्लिखित हैं और जिनपर कटार (†) का चिह्न है वे वृंदावन वाले संग्रह में हैं। सब मिलाकर घनानंदजी की निम्नलिखित कृतियाँ यथावधि हिंदी में उपलब्ध हो सकी हैं :—

१ सुजानहित	२१ कृष्णकौमुदी
२ कृपाकंदनिबंध	२२ धामचमत्कार
३ वियोगबेलि	२३ प्रियाप्रसाद
४ इश्कलता	२४ वृंदावनमुद्रा
५ यमुनायश	२५ व्रजस्वरूप
६ प्रीतिपावस	२६ गोकुल-चरित्र
७ प्रेमपत्रिका	२७ प्रेमपहेली
८ प्रेमसरोवर	२८ रसनायश
९ व्रजबिलास	२९ गोकुलविनोद
१० रसबसंत	३० व्रजप्रसाद
११ अनुभवचंद्रिका	३१ मुरलिकामोद
१२ रंगबधाई	३२ मनोरथमंजरी
१३ प्रेमपद्धति	३३ व्रजव्यवहार
१४ वृषभानुपुर-सुषमा	३४ गिरिगाथा
१५ गोकुलगीत	३५ व्रजवर्णन
१६ नाममाधुरी	३६ छंदाष्टक
१७ गिरिपूजन	३७ त्रिभंगी छंद
१८ विचारसार	३८ कवित्त-संग्रह
१९ दानघटा	३९ स्फुट
२० भावनाप्रकाश	४० पदावली

४१ परमहंस-वंशावली

'व्रजवर्णन' का उल्लेख केवल छतरपुरवाले हस्तलेख में है। अभी तक वह प्राप्त नहीं है। यदि 'व्रजवर्णन' 'व्रजस्वरूप' हो तो घनानंद के सभी ग्रंथ प्राप्त हो गए। छंदाष्टक, त्रिभंगी छंद, कवित्त-संग्रह, स्फुट वस्तुतः कोई स्वतंत्र कृतियाँ नहीं हैं। ये उनकी फुटकल रचनाओं के छोटे-छोटे संग्रह

हैं। 'दानघटा' वही है जो 'घनानंद-कवित्त' में संख्या ४०२ से ४१४ तक संगृहीत है। परमहंस-वंशावली में 'घनानंद' ने अपनी गुरुपरंपरा का उल्लेख किया है। हिंदी की इन कृतियों के अतिरिक्त बिहार, उड़ीसा रिसर्च जरनल के आधार पर घनानंद की एक फारसी मसनवी का भी पता चलता है, वर वह अभी तक उपलब्ध नहीं है।

कवि का संप्रदाय

परमहंस-वंशावली के प्राप्त हो जाने से 'घनानंद' के संप्रदाय के संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता। जैसा कहा जाता है कि 'नामूलातु जनश्रुतिः' जनता में प्रचलित अनुश्रुति निराधार नहीं होती, पहले से ही प्रसिद्ध है कि घनानंद ने निंबार्क-संप्रदाय में दीक्षा ली थी। इस परमहंस-वंशावली से यही प्रमाणित हो जाता है। इसमें गुरुपरंपरा का उल्लेख इस क्रम से है—नारायण→ सनकादि → निंबादित्य → श्रीनिवासाचार्य → विश्वाचार्य →पुरुषोत्तमाचार्य→ विलासाचार्य→ स्वरूपाचार्य→ माधवाचार्य→ बलभद्राचार्य → पद्माचार्य → श्यामाचार्य → गोपालाचार्य → कृपाचार्य → श्रीदेवाचार्य →सुंदरभट्ट→ पद्मनाभभट्ट→ उपेन्द्रभट्ट→ रामचंद्रभट्ट → वामनभट्ट →कृष्णभट्ट →पद्माकरभट्ट→ श्रवणभट्ट → भूरिभट्ट→ माधवभट्ट → श्यामभट्ट → गोपालभट्ट→ बलभद्र→ गोपीनाथभट्ट→केशवभट्ट→मंगलभट्ट → (गांगलभट्ट?)→ श्रीकेशव (काश्मीरी ->श्रीभट्ट->हरिव्यास->परमानिधि (परशुराम ?)->हरिवंश ->नारायणदेव->वृंदावन (देव)।

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि घनानंद का निधन संवत् १८१७ है। इनका जन्म कब हुआ या ये वृंदावन कब पहुँचे इसका संकेत कुछ भी नहीं मिलता। इतिहास ग्रंथों में इनका जन्म-संवत् अनुमान के सहारे १७४६ माना गया है। परमहंस-वंश के निंबार्क-संप्रदायाचार्य श्रीवृंदावनदेव का समय सं० १७५९ से १८०० तक है। उनसे दीक्षा लेना अधिक से अधिक १७५९ ही तक संभव हो सकता है। यदि उक्त अनुमित जन्मकाल ठीक माना जाए तो यह भी मानना पड़ेगा कि इनकी वय दीक्षा के समय १३ वर्ष की थी, जो इनके जीवन-वृत्त को देखते असंभव है। वृंदावन पहुँचने के

समय इनकी वय २९-३० अवश्य माननी पड़ेगी । अतः इनका जन्म संवत् १७३० के आसपास संभाव्य है। अपने गुरुदेव की प्रशस्ति इन्होंने यों लिखी है—

श्रीनारायनदेव कौं तिनकौं कृपा-प्रसाद ।
अति उदार विद्या बिपुल पूरन प्रेम सवाद ॥ ४० ॥
सदा कृस्न-गुस-कथन-रत मतमंडन जयरूप ।
बिमुखनि खंडन बचन-बर-रचना-तुंड अनूप ॥ ४१ ॥
दीन-सरनदायक करुनहरन अखिल दुख-दोष ।
अब तिन पाट प्रसिद्ध जस-करन जीव-परितोष ॥ ४२ ॥
बिद्यानिधि बहु बिधि निपुन कृपा-अवधि रसकंद ।
बचन-रचन हरिचरितमन ससि तें अमल अमंद ॥ ४३ ॥
जगबोहित मोहित प्रगट हरि-बिनोद निजधाम ।
अवनीमनि श्रीयुत सदा बृंदाबन अभिराम ॥ ४४ ॥
बिसैं बीस महिमा तिन्हैं ताहि कोस हैं बीस ।
सदा बसौ नीकैं लसौ कृपा-ईस मो सीस ॥ ४५ ॥
परमहंस-बंसावली रची सची इहि भाय ।
कंठ धारिहैं गुरुमुखी सुखदाई समुदाय ॥ ४६ ॥
कासीबासी सेषगन निगमागमनि प्रवीन ।
निंबादित्य अनुगम सबै परम पुनीत कुलीन ॥ ४७ ॥
तिन करि यह निहचय करी परंपरा की रीति ।
श्रुति और सुमृति पुरान की कथा पुरातन नीति ॥ ४८ ॥

इससे यह भी पता चलता है कि किन्हीं शेष से इन्हें परंपरा की रीति का ज्ञान हुआ। जिज्ञासा होती है कि ये शेष कौन थे। मंडन कवि कृत 'जयशाह-सुजस-प्रकाश' की भूमिका में उसके संपादक विद्याभूषण श्रीव्रजवल्लभशरणजी लिखते हैं—"उस समय जयपुर के श्रीनिंबार्कीय मठ-मंदिरों का प्रबंध श्रीबृंदावनदेवाचार्यजी महाराज के शिष्य प्रकांड विद्वान

जयरामजी शेष के निरीक्षण में रहा।'' 'उस समय' का तात्पर्य है श्रीवृंदावनदेवाचार्य के अनंतर अर्थात् सं० १८०० के पश्चात् से १८६० तक। वहीं वे लिखते हैं— 'उनके पश्चात् १८६० सावन सुदी १३ तक महाराजा प्रतापसिंहजी ने राज्य किया। उस ६० वर्ष के समय में श्रीवृंदावनदेवाचार्यजी के पश्चात् १८१४ तक श्रीगोविंददेवाचार्य और १८४१ तक श्रीगोविंदशरणदेवाचार्यजी महाराज आचार्य पीठासीन हुए।'' श्रीगोविंददेवाचार्यजी के समय सं० १८०० से १८१४ तक श्रीजयरामजी शेष और श्रीव्रजानंदजी भी मठ-मंदिरों का प्रबंध देखते थे। घनानंद का निधन संवत् १८१३ है। इसलिए श्रीगोविंददेवजी के समय में वे वर्तमान थे। 'भोजनादि धुन' में इनके नाम से एक पद मिलता है जिसमें श्रीगोविंददेवजी का नाम भी इन्होंने लिया है—

भजि भजि भजि भजि श्रीहरिब्यास।
जौ चाहौ हरिपद को वास॥

हंसरूप नारायन स्वामी। सनकादिक नारद निहकामी।
निंबादिय निवासाचारज। अखिल बिस्व के कारज सारज।
पुरुषोत्तम विलास निजरूप। आचारजबर परम अनूप।
श्रीमाधव बलभद्र भजौ मन। पद्म स्याम गोपाल प्रेमघन।
कृपाचार्य श्रीदेवाचारज। चरन सरन सुंदरभट्ट आरज।
पद्मनाभ उपइंद्र रामचँद। बामन कृस्नभट्ट आनँदकँद।
पदमाकर श्रवनेस भूरिभट। तिनको सुजस सकल जग परगट।
माधव स्याम भट्ट गोपाल। श्रीबलभद्र जु दीनदयाल।
गोपिनाथ केसव भट गंगल। सुमिरत भागै सकल अमंगल।
कासमीरि केसव दिगजित गुरु। तिनकी कथा सकल जग परचुर।
जय जय जय श्रीभट सुखसागर। श्रीहरिब्यास त्रिलोक उजागर।
परसुराम सुखधाम महाप्रभु। श्रीहरिवंस हंस ईस्वर बिभु।
श्रीनारायनदेव आप हरि। उचरत नाम पाप भाजै जरि।
श्रीवृंदावनदेव सनातन। चातक-रसिकन को आनँदघन।
जो यह भोजनादि धुनि गावै। श्रीगोबिंददेव-पद पावै।

श्रीवृंदावनदेवजी को 'चातक-रसिकों का ग्रानन्दघन' गुरु-पद के कारण कहते हैं। श्रीगोविन्दशरणदेवजी के समय से पूर्व यह लिखा गया। ग्रन्यथा उनका नाम भी इसमें संनिविष्ट होता। ऊपर श्रीजयराम शेष के साथ व्रजानन्दजी का नाम भी ग्राया है। घनानंदजी के इस संग्रह के कर्ता 'व्रजनाथ' यही व्रजानंदजी तो नहीं हैं ?

इन्होने निबार्क-संप्रदाय के ग्रनुकूल 'बधाई' का पद भी लिखा है—

चिरजीवौ हंस गोपाल रसिकबर।

जुग-जुग भक्ति प्रचार करैं प्रभु धरि ग्रनेक ग्रवतार बिमल बर।
ग्रटल राज भुवमंडल पोषैं सनकादिक गुरु नंद कुँवरबर।

भवसागर तारन दृढ़ नौका ग्रानँदघन पावै चरन-कमल बर। निंबार्क-संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीहंस भगवान माने जाते हैं। इसी से इस संप्रदाय के ग्राचार्य 'परमहंस वंश' के कहे जाते हैं।

निंबार्क-संप्रदाय में उपासना का भाव 'सख्य' माना जाता है। यह 'सनकादि-संप्रदाय' कहलाता है ग्रौर इसका दार्शनिक मत 'द्वैताद्वैत' है। इस संप्रदाय में 'सखी-भाव' की उपासना चलती है। 'सख्यभाव' की उपासना करनेवाले महात्माग्रों के, जो साधना के ग्रनेक सोपान पारकर इस भाव में लीन हो जाते हैं सांप्रदायिक नाम भी उनके सिद्ध गुरुग्रों द्वारा रख दिए जाते हैं। निंबार्क संप्रदाय की गद्दी पर ग्रासीन होने वाले सभी ग्राचार्यों के सांप्रदायिक नाम थे ग्रौर वे ग्रपने ग्रंतरंग परिसर में उसी नाम ने ग्रभिहित होते रहे हैं। ऐसे नाम साधना की ऊँची भूमिका में पहुँचने पर ही प्राप्त होते हैं। 'नागर-समुच्चय' में जो वृत्त 'ग्रानंदघन' के संबंध में राजकवि जयलाल ने दिया है उससे सिद्ध है कि ग्रानंदघनजी महात्मा कोटि में माने जाते थे। प्रेमसाधना का ग्रत्यधिक पथ पारकर वे बड़े-बड़े साधकों-सिद्धों को पीछे छोड़ 'सुजानों' की कोटि में पहुँच गये थे। ग्रत: संप्रदाय में उनका सखीभाव का नामकरण हो गया था। यों तो निंबार्क संप्रदाय के जितने ग्राचार्य हुए हैं साधनागत उन सभी के सखीनाम थे। पर यहाँ निंबार्क-संप्रदाय के ग्रयंत प्रसिद्ध ग्राचार्य हरिव्यासदेवजी से घनानंद

के गुरु श्रीवृंदावनदेव तक प्रत्येक आचार्य के सखीनाम दिए जाते हैं। अपनी 'परमहंस-वंशावली' में घनानन्दजी ने अन्य आचार्यों का तो प्रसिद्ध नाम ही दिया है, किंतु परशुरामाचार्य का उन्होंने सखीनाम दिया है वे लिखते हैं—

तिनके पाट बिराजि कै परमानिधि श्रीमान।
पदवी कों पदवी दई मुनिवर कृपानिधान।।

यहाँ 'परमा' परशुरामचार्यजी का सखीनाम है। इनका लोक-व्यवहार का नाम उन्होंने अपनी 'भोजनादिधुन' में स्पष्ट दिया है—

परसुराम सुखधाम महाप्रभु। श्रीहरिवस हंस ईश्वर बिभु।

जिन्हें इस बात का पता न होगा वे 'परमानिधि' को अपाठ या अपपाठ मानेंगे और यह अनुमान करेंगे कि हो न हो 'परमानिधि' के स्थान पर मूल में 'परसुराम' ही रहा होगा। 'परमनिधि' के बदले 'परसुराम' दोहे में ठीक-ठीक बैठ भी जाता है।

अब आचार्यों के सखीनाम देखिए—

श्रीहरिव्यासदेव	हरिप्रिया सखी।
श्रीपरसुरामदेव	परम सहेली।
श्रीहरिवंशदेव	हित अलबेली।
श्रीनारायणदेव	नित्य नवेली।
श्रीवृन्दावनदेव	मनमंजरी।

संप्रति घनानंदजी के सखीनाम का पता न संप्रदायवालों को है, न साहित्यवालों को, पर इनकी नवीन प्राप्त दो पुस्तकों से इनके सखीनाम का संकेत मिलता है। 'वृषभानुपुरसुषमा-वर्णन' में स्पष्ट कहा गया है—

नीको नावँ बहुगुनी मेरो। बरसाने ही सुन्दर खेरो।

यह नाम स्वयम् श्रीराधा ने रखा है—

राधा नावँ बहुगुनी राख्यौ। सोई अरथ हिये अभिलाख्यौ।

'बहुगुनी' की कला कब प्रदीप्त होती है इसे भी जान लीजिए—

रीझनि बिबस होत जब जानो । तब बहुगुनी कला उर आनो ।
ताही सुरहि साध कछु बोलौं । प्रेमलपेटी गाँसनि खोलौं ।
दुरी बातहू उघरि परै जब । सो सुख कह्यो न परत कछू तब ।।

'प्रियाप्रसाद' में भी यह नाम श्रीराधा का रखा हुआ कहा गया है—

राधा धरयो बहुगुनी नाऊँ । टर लगि रहौं बुलाएँ जाऊँ ।।

'बहुगुनी' सदा श्रीराधा के साथ रहती है अथवा श्रीराधा बहुगुनी का साथ कभी नहीं छोड़तीं । 'बहुगुनी' तान-गान में प्रवीण है, श्रीराधा के मित्र को वह अपने इस गुण से रिझाया भी तो करती है—

राधा सब ठाँ सब समै रहति बहुगुनी-संग ।
तान रमन गुन गान को लै बरसावति रंग ।
राधा अचल सुहाग के ललित रँगीले गीत ।
रागनि भीजो बहुगुनी रिझवति राधा-मीत ।।

घनानंदजी संगीत के बहुत अच्छे जानकार थे, जनश्रुति में यह प्रसिद्ध है । किशनगढ़ से प्राप्त चित्र में उनकी प्रशस्ति में 'गानकला में अतिकुसल' लिखा है । चित्र में वे सितार लिए वीरासन से बैठे हैं । राग-रागिनियों में उनके सहस्राधिक पद मिलते हैं और कविता में कहीं-कहीं मृदंग ठनकता जान पड़ता है, ऐसे ढंग से पदावली रखी गई ।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रतीकानुक्रम

———

घनानंद-कवित्त

(भारतेंदुशेखर)

प्रथम आनन

श्रीसुजानकृष्णेभ्यो नमः

घनानंद-कवित्त

(भाष्येंदुशेखर)

(उपक्रम—कवि-प्रशस्ति)

(सवैया)

नेही महा ब्रजभाषा-प्रवीन औ सुंदरतानि के भेद कौं जानै।
जोग-वियोग की रीति मैं कोबिद भावना भेद स्वरूप कौं ठानै।
चाह के रंग मैं भीज्यौ हियो, बिछुरें-मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषाप्रबीन, सुछंद सदा रहै, सो घनजी के कबित्त बखानै ॥१॥

प्रकरण—इस प्रशस्ति के कर्ता हैं 'घनानंद-कबित्त' नामक संग्रह के संकलयिता श्रीव्रजनाथ। इसमें यह बतलाया गया है कि घनानंद की कविता का बखान (अप्रीशियेशन) करनेवाले में किन गुणों की आवश्यकता है। जो गुण बखानकर्ता के कहे गए हैं वे सब घनानंद के भी हैं। कवि कारयित्री प्रतिभा से संपन्न होता है उसमें जो सहृदयता होती है उसे भावक (समीक्षक) अपनी भावयित्री प्रतिभा से भावसंपन्न या सहृदय होने के कारण तद्वत् ग्रहण कर लेता है। इसलिए कवि और भावक का तादात्म्य हो जाता है। सहृदय या भावक का अर्थ यही है कि वह समान हृदयवाला या दूसरे के हृद्गत भाव को, अनुभूति को, ग्रहण करनेवाला होता है। पर भावक केवल भावुक नहीं होता। दूसरे के हृद्गत भाव को हृदयंगम करनेवाला या समझनेवाला भावुक होता है। पाठक, श्रोता में संप्रति जो उत्तम गुण माने जाते हैं वे ही भावुक में होते हैं, वह समानुभूति कर सकता है। पर भावक समानुभूति कर लेने के अनंतर उसकी अभिव्यक्ति भी कर सकता है, बखान भी कर सकता है। यह छंद बखान करनेवाले या भावक तथा कवि दोनों के गुणों को एक साथ बतला रहा है।

चूर्णिका—*भावना०* = वृत्तियों के भेद का रूप ठीक-ठीक बतला सके, कह सके (कवि-पक्ष), वृत्तिभेद के रूप को ग्रहण कर सके (भावक पक्ष)। *थाह* = प्रिय को पाने की उत्कट इच्छा। *बिछुरें* = प्रिय से बिछुड़ने और (बिछुड़ने के अनंतर) मिलने पर जो शांत न रहे—उसे पाने और भेंटने के लिए विह्वल हो जाए। *भाषा०* = भाषा की शक्तियों और शैलियों का प्रयोक्ता; भाषा की गतिविधि से पूर्णतया परिचित। *सुछंद* = स्वच्छंद, साहित्य की रूढ़ परंपरा से मुक्त, रीतिमुक्त, साहित्यशास्त्र के नियमों के पालन का अनाग्रही। *कवित्त* = (कवित्व) कविता, काव्य। *बखानै* = प्रशंसा कर सके, उसके अर्थ-तत्त्व की मीमांसा कर सके।

तिलक—जो अत्यंत प्रेमी हो, व्रजभाषा में प्रवीण हो, सौंदर्य के विविध भेदों को जानता हो, जो संयोग और वियोग के विधि-विधानों में पंडित हो, भावना के विभेदों के स्वरूप को हृदयंगम कर सकता हो, जो प्रेम के रंग में हृदय को भिगो चुका हो, प्रियतम के बिछुड़ने एवं मिलने पर उसे पाने और भेंटने के लिए उतावला रहता हो, जो भाषा की विविध शैलियों, शक्तियों और वाग्योग के प्रयोग का अच्छा जानकार हो, जो जीवन के और काव्य के पारंपरिक बंधनों को स्वीकार न करता हो वही घनानंदजी के काव्य की प्रशंसा कर सकता है, उसके गुणों और विशेषताओं का मार्मिक उद्घाटन कर सकता है।

सुझाव—इस छंद की प्रथम तीन पंक्तियाँ केवल कवि-पक्ष में और चौथी पंक्ति केवल भावक-पक्ष में भी लगाकर अर्थ किया जा सकता है।

व्याख्या—'*नेही*' = नेही पद का व्यवहार किया गया है, प्रेमी का नहीं। 'नेही' (सनेही) में चिकनाहट की ओर संकेत है। रुखाई का विपर्यास होना चाहिए। *व्रजभाषा* = व्रजभाषा शब्द का व्यवहार स्पष्ट कर देता है कि काव्य की सर्वसामान्य भाषा का नाम व्रजभाषा पड़ चुका था। घनानंद के सम-सामयिक भिखारीदास ने, जो प्रतापगढ़ के रहनेवाले थे, व्रजभाषा का निर्णय करने का प्रयास किया है और इस शब्द का प्रयोग भी किया है। इसके पूर्व 'भाषा' शब्द का प्रयोग तो अनेकत्र है पर 'व्रजभाषा' शब्द का प्रयोग केवल केशव के एक टीकाकार ने किया है। *सुंदरतानि*—संस्कृत के पंडित कहते हैं कि हिंदी में भाववाचक शब्दों का बहुवचन अंगरेजी के संपर्क के कारण बढ़ा

है। उनके विचार से 'कविता' लिखना चाहिएं 'कविताओं' नहीं। विशेषता लिखना चाहिए, विशेषताओं नहीं, सुंदरता, सुंदरताओं नहीं आदि आदि। पर प्राचीन पद्यों में भाववाचक शब्दों के बहुवचन में प्रयोग मिलते हैं। यहाँ 'सुंदरतानि' में बहुवचन है। प्राचीन हस्तलेखकों में यही पाठ मिलता है। बहुवचन यदि न रखना होता श्रो सुंदरताई पाठ रखा जाता। *भावनाभेद* = सुंदरतानि के भेद द्वारा कला-पक्ष की विशेषता बतलाई गई और भावना-भेद द्वारा हृदय पक्ष की विशेषता। भावना शब्द द्वारा भाव और कल्पना दोनों का ग्रहण किया गया है। भावना करनेवाला ही भावक होता है। *चाह* = प्रेमानुभूति में तीन अवयव होते हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और इच्छात्मक। प्रिय को, प्रेम को और उसके संयोग-वियोग को जानना चाहिए। 'जोग-बियोग की रीति में कोबिद' द्वारा ज्ञानात्मक पक्ष कथित है। 'भावना भेद स्वरूप को ठानै' में भावात्मक अवयव स्पष्ट है। 'चाह के रंग में भीज्यो हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै' द्वारा इच्छात्मक अवयव बतलाया गया है। *भाषा* = व्रजभाषा और भाषा दोनों की प्रवीणता अपेक्षित है। घनानंद और बिहारी की-सी व्रजभाषा लिखने वाले बहुत कम कवि हुए हैं। निरर्थ या चमत्कार मात्र का बोध करानेवाले शब्दों का व्यवहार इसमें कदाचित् ही कहीं मिले। सुछंद = स्वच्छंद (रोमांटिक), रीतिमुक्त, परंपरा और रूढ़ियों से उन्मुक्त। श्रीव्रजनाथ ने घनानंद की रचना का ठीक स्वरूप पहचान लिया था। इसलिए इन्हें या इसी प्रकार के अन्य कवियों को स्वच्छंदतावादी कवि कहना या रीतिमुक्त कहना हिंदी के प्राचीन साहित्य प्रवाह के अनुकूल ही है। *घन* = घनानंदजी के नाम के दो अंश हैं घन और आनंद। उन्हें संकेतित करने के लिए 'घन' का भी व्यवहार हो सकता है और 'आनंद' का भी। कभी लोग नाम का आरंभिक अंश लेते हैं और कभी अंतिम। 'आनंद' न लेकर 'घन' को ग्रहण करने में लाघव तो है ही, व्यक्ति को ठीक जानने में भी सुभीता है। घनानंद, परमानंद में 'आनंद' उभयनिष्ठ होने से घन और परम ही दोनों को पृथक्-पृथक् ठीक बतला सकते हैं। आनंदघन, चित्घन, आदि में आनंद या चित् को ही लेने की प्रवृत्ति होगी। इसलिए जान पड़ता है कि इनके नाम के आरंभ में 'घन' था। ये घनआनंद अर्थात् घनानंद नाम वाले थे। कायस्थों में भी ऐसे नाम

मिलते हैं—संपूर्णानंद, अन्नपूर्णानंद आदि।

छंद = मत्तगयंद सवैया, सात भगण (ऽ।।) और दो गुरु। प्रत्येक चरण में तेईस वर्ण। सवैये में गुरु लघु लिखित से नहीं समझना चाहिए, उच्चरित से समझना चाहिए। इसके पहले चरण में कई दीर्घ वर्ण हैं जिन्हें 'लघु' उच्चरित करना होगा। छंद शास्त्र का लघु-गुरु शब्द इसीलिए 'ह्रस्व-दीर्घ' नहीं है। 'ह्रस्व-दीर्घ' वर्ण तो अपनी प्रकृति से होते हैं। स्थिति से वे 'लघु-गुरु' होते हैं। जैसे—

ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽऽ
नेही महा ब्रजभाषा प्रबीन औ सुंदरतानि के भेद कों जानै।

इसमें 'ही' षां, औ, के, कों' दीर्घ वर्ण हैं पर छंदःशास्त्र के अनुसार 'लघु' हैं। लघु को व्यक्त करने के लिए खड़ी पाई (।) और गुरु के लिए वक्ररेखा (ऽ) रखते हैं। गण तीन अक्षरों का समूह होता है। भगण में पहला वर्ण गुरु शेष लघु होते हैं। बाईस से छब्बीस वर्ण तक के वर्णवृत्त सवैया कहलाते हैं। सवैया शब्द का अर्थ है सपाद। इसका चौथा चरण पहले पढ़कर फिर चारो चरणों को क्रम से पढ़ते हैं इससे इसका नाम सवैया है। कभी-कभी 'कवित्त' को भी सवैया ही लिखते हैं। कबित्त का भी पहला चरण पहले पढ़कर तब चारों चरण पढ़ते हैं।

प्रेम सदा अति ऊँची लहै सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनिकै सबके मन लालच दौरे पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी।
जग की कबिताई क धोखें रहै ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी।
समुझै कबिता घनआनँद को हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥२॥

प्रकरण—इस सवैया में घनानंद की विशेषताएँ, उनका अन्य प्रवाह-मग्न कवियों से पार्थक्य और उनकी कविता को समझ सकनेवाले, उनकी ठीक-ठीक अनुभूति करने की क्षमतावाले व्यक्ति अर्थात् भावुक के गुण का संक्षिप्त उल्लेख है। पहले सवैये में भावुक की नहीं, भावक के गुणों की चर्चा है, इसमें भावुक की विशेषता का संकेत है। भावुक केवल सहृदय होता है वह अनुभूति कर सकता है, समीक्षा नहीं कर सकता।

चर्णिका—अति ऊँचो = उत्तम कोटि का, परमोच्च। छकी = काव्यगुणों से परिपूर्ण। लालच = सुनने की लालसा। बौरे = (बातुल) काव्य की रीति

और अनुभूति से अनभिज्ञ। *बुद्धि-चकी* = चकित बुद्धि से, आश्चर्यचकित होकर। *जग की कबिताई* = हिंदी-काव्यजगत् की प्रवाहप्राप्त (रीतिबद्ध) काव्य-रचना। *ह्याँ* = यहाँ इनकी कविता के अर्थ व्यंग्य का निश्चय करने में। *जाति जकी* = चकपकाती है। *हिय-आँखिन* = हृदय के नेत्रों से। *नेह की पीर* = प्रेम की वेदना। *तकी* = देखी हो, अनुमत की हो।

तिलक—घनानंद सदा परमोच्च प्रेम को काव्य का विषय बताते हैं। उस उत्तम प्रेम को व्यक्त करने में इस प्रकार की सर्वकाव्यगुणोपेत उक्ति कहते हैं जिसे सुनकर सुनने की उत्तरोत्तर लालसा सभी श्रोताओं को होती है। पर श्रोता दो प्रकार के होते हैं—काव्यानुभूति का अनुभव करना जिनके सामर्थ्य के परे है जो उससे अनभिज्ञ हैं और दूसरे वे जो काव्यानुभूति के अभ्यासी सच्चे रसिक और सहृदय होते हैं। पहले अप्रवीण (बौरे) होते हैं दूसरे प्रवीण। जो अप्रवीण हैं वे तो इनकी कविता को चकित बुद्धि से देखते ही रह जाते हैं; उसकी अनुभूति में लीन नहीं हो पाते। वास्तविकता यह है कि वे प्रवाह में सामान्य रूप से चलनेवाली कविता के धोखे में इस रचना को भी देखते हैं। पर यह रचना तो ऐसी होती है कि जो काव्यरस की अनुभूति में प्रवीण हैं, सच्चे काव्याभ्यासी हैं उनकी बुद्धि भी इसमें चकपकाती रहती है। बात यह है कि घनानंद की कविता को वही समझ सकता है, उसके अंतस् में प्रवेश कर सकता है, जिसने प्रेम की वेदना हृदय के नेत्रों से देखी हो, जो बाहरी या ऊपरी नेत्रों से उनकी कविता समझने का प्रयास करेगा वह खाक न समझेगा।

व्याख्या—*प्रेम* = यहाँ प्रेम शब्द का व्यवहार किया गया है। प्रेय और श्रेय में से प्रेय रुचनेवाला होता है, जो अच्छा लगे। अच्छा लगना प्रेम है, रुचि है। अच्छा लगना साधारण भी हो सकता है। अच्छा लगने में एक तो अच्छा लगनेवाला अर्थात् विषय उत्तम, मध्यम और अधम हो सकता है। दूसरे चाहनेवाला (विषयी) उत्तम, मध्यम या अधम हो सकता है। कवि ने जो प्रेम-पक्ष लिया है उसमें उत्तम कोटि के विषय और विषयी का ग्रहण है। प्रेम की यह साधना नैत्यिक या नैरंतरिक हो सकती है अथवा अल्पकालिक। दोनों में से पहले प्रकार की ही उनकी साधना है। *बात* = काव्य के लिए केवल वर्ण्य का ही उत्तम होना आवश्यक नहीं है उसकी अभिव्यक्ति का भी उत्तम होना अभिप्रेत है। कवि वाणी को भी अभिव्यक्ति

की चरम सीमा पर पहुँची हुई कहता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अभिव्यक्ति सबके अनुकूल होती है। अभिव्यक्ति का आकर्षण सबके लिए भी हो सकता है और चुने व्यक्तियों के लिए भी हो सकता है। कविता के लिए सबसे उत्तम गुण यही है कि वह सबके लिए आकर्षक हो, प्रेय हो। वह श्रेय भी हो यह पृथक् पक्ष है। तुलसीदास आदि भक्तों का पक्ष यही है कि कविता में श्रेय अनिवार्य है—'कीरति भनिति भूतिभलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥' किंतु काव्य का अपना पक्ष यही है कि वह पहले प्रेय हो, रसात्मक हो, आनंददायक हो, उसमें श्रेय भी हो यह उसका पक्ष तदनंतर आता है। जो प्रेय हो वह श्रेय भी हो और जो श्रेय हो वह प्रेय भी हो यह नियत नहीं है। किंतु उच्च कोटि का प्रेय श्रेय से युक्त ही होता है। इसलिए इनकी वाणी में प्रधान गुण प्रेयता का है. पर वह श्रेययुक्त भी है। *जग की कबिताई* = इससे यह स्पष्ट है कि संग्रहकर्ता यह भली-भाँति जानता है कि उस समय को कोई सर्वसामान्य काव्यप्रणाली है। उस पद्धति से इनकी रचना भिन्न है। जैसे पहले 'सुछंद' कहकर इनकी नवीन पद्धति को पृथक् किया गया वैसे ही 'जग की कबिताई' से उस समय की प्रवाहप्राप्त रचना का संकेत दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि उस युग में भी काव्य के दो प्रवाह माने जा रहे थे। एक को रीतिबद्ध और दूसरे को रीतिमुक्त कहकर उनका पार्थक्य किया जा सकता है। *हिय आँखिन* = दो प्रकार की आँखें हैं एक तो शरीर में अंगरूप से जो आँखें जीवों को होती हैं। दूसरी भीतरी आँखें। ये भीतरी आँखें कवि में हों तो वह काव्यविषय को हृदयंगम करके, अनुभूति का अनुभव करके दूसरों को अनुभव करा सकता है। तुलसीदासजी 'गुरु-पदरज' की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं—'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के' इसी प्रकार भावुक तथा भावक के लिए भी 'ही के बिलोचन' अपेक्षित हैं। जिन्हें ऐसे नेत्र नहीं होते वे केवल बाहरी, ऊपरी, अंगरूप नेत्रों से कुछ नहीं कर सकते। वैसे नेत्रों को घनानंद ने 'मोरचंद्रिका सी सब देखन कों धरे रहैं,' कहकर निरर्थक बतलाता है। हिय आँख का अर्थ है आंतरिक अनुभूति को क्षमता, अनुकंपन की विशेषता। *नेह की पीर* = प्रेम की पीड़ा। 'प्रेम की पीर' की इस चर्चा से इसका भी संकेत मिल जाता है कि घनानंद में जो प्रेम की पोर है उसका संबंध

सूफी कवियों से जुड़ता है। जायसी ने प्रेम की पीर की चर्चा बराबर की है। सूफियों से प्रभावित निर्गुनिये भी इसकी चर्चा करते हैं—'तोहि पीर जो प्रेम की पाका सेंती खेल।' इससे यह सिद्ध है कि घनानंद आदि स्वच्छंद या रीतिमुक्ति कवियों का काव्यप्रवाह सूफियों की काव्यधारा से फूटा है। रीति-बद्ध कवियों का प्रवाह सगुण से सम्बद्ध है, सगुण भक्तों से जुड़ा है और रीति-मुक्तों का प्रवाह निर्गुणवाले सूफियों से, प्रेममार्गियों से। ज्ञानमार्गियों का प्रवाह हिंदी में नहीं चला, वह शुद्ध साधना का प्रवाह था। सूफियों का प्रवाह फारसी काव्यप्रवाह से संपृक्त था।

छंद—सुंदरी सवैया, सात भगण (ऽ।।) और एक गुरु। अर्थात् प्रत्येक चरण में २२ अक्षर।

—: ० :—

(मूल-ग्रंथ)

(कवित्त)

लाजनि लपेटि चितवनि भेद-भाय-भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छबि को सदन गोरो भाल बदन, रुचिर,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।
दसन-दमक फैलि हमें मोती माल होति,
पिय सों लड़कि पेम-पगी बतरानि मैं।
आनँद की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग-रंग ढुरि मुरि जानि मैं ॥१॥

प्रकरण—प्रेमिका का रूपवर्णन है। रूप में नेत्र, मुख, भाल, मुसकान, दंत, वाणी और गति की मुद्रा का उल्लेख है। नायिका-भेद की परंपरा में रूपवर्णन का कार्य सखी करती है। पर स्वच्छंद रचना में रूपवर्णन प्रिय के द्वारा होता है। इसमें स्वारस्य अधिक होने से रत्नाकर जी ने बिहारी में भी रूपवर्णन में नायक की उक्ति को ही प्रमुखता दी है। बिहारी के पुराने टीकाकार परम्परा के विचार से ऐसी उक्तियों को सखी की ही उक्ति मानते आए हैं। रीतिमुक्त रचना का इस प्रकरण-पार्थक्य से भी रीतिबद्ध रचना से भेद हो जाता है। फारसी का प्रवाह भी इसी के अनुकूल है।

चूर्णिका— *लपेटी* = लिपटी हुई, युक्त। *भेदभाय* = रहस्यात्मक भाव, गूढ़ भाव। *लोल* = चंचल। *चख* = चक्षु। बदन = मुख। *दसन०* = दाँतों की दमक फैलकर हृदय (वक्षःस्थल) पर मोती की माला का रूप धारण करती है। *लड़कि* = (ललकि) ललककर। *निधि* = कोश, खजाना। यह शब्द हिंदी में समुद्र अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'नीर-निधि' के लिए संक्षिप्त 'निधि' चलने लगा। पर 'समुद्र' अर्थ में यह पुल्लिंग है। यहाँ निधि शब्द यों तो स्त्रीलिंग में ही है। पर वह बाल के लिए है, इसलिए संबंध की 'की' ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकती। फिर भी जगमगाना कोश-पक्ष में ही है

इसलिए यही अर्थ निर्णीत होता है। ऊपर मोतीमाल शब्द भी इसी पक्ष का समर्थक है। *बाल* = बाला, प्रेमिका। *अनंग०* = कामजन्य रंग (छटा) से मिलकर। *ढुरि* = मिलकर। ढुरना क्रिया का अर्थ यहाँ छहरना है। *मुरि०* = मुड़ जाने में, घूम जाने में।

तिलक—प्रेमिका जब अपने चंचल नेत्रों को तिरछे करती है तो वह रमणीय जान पड़ती है। नेत्रों का तिरछापन लाजों से लिपटा रहता है और गूढ़ भावों से भरा होता है। उसमें विविध प्रकार की लज्जा रहस्यमय संकेतों से युक्त होती है। तिरछी चितवनी कुछ संकेत करती रहती है, प्रेम की अनुभूति व्यक्त करती है। उसका गौरवर्ण मुखसौंदर्य का घर ही है। भाल शोभामय है। जब वह मुसकराती है तो उसकी मुसकराहट में कोमलता और माधुर्य प्रकट होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि रस निचुड़ रहा है, टपक रहा है। मुसकराने के साथ ही वह बात भी करती है। उसकी बात मुसकान से युक्त होती है। मुसकराते हुए बात करने में दाँतों की दमक (चमचमाहट) ऐसी फैलती है कि जान पड़ता है मानो दंतपंक्ति का प्रकाशमय प्रतिबिंब उसके वक्ष पर मोती की माला हो गया है। वह प्रिय से ललककर बातें करती है। इसी ललक के कारण उसकी दंतपंक्ति खुलती है और उसका प्रकाश बत्तीस दाँतों (दानों) की मोती की माला दिखता है। वह सौंदर्यमयी बाला आनंद के कोश के रूप में जगमगाती है। इस जगमगाहट की छटा उस समय प्रतीत होती है जब वह मुड़ती है और उसके अंगों में कामजन्य छटा छहरने लगती है।

व्याख्या—*लाजनि* = लाज का बहुवचन व्यक्त करता है कि उसकी लज्जा अनेक अनुभूतियों से विविध प्रकार की होती है और उससे अनेक रहस्यात्मक संकेत मिलते हैं। *लपेटी* = लाज से संपृक्त चितवन होती है। चितवन में लज्जा संश्लिष्ट रहती है। लपेटना क्रिया के दो अर्थ होते हैं, एक तो आवरण के रूप में लिपटना। दूसरे किसी पदार्थ में संश्लिष्ट होना। यहाँ दूसरा ही अर्थ प्रसंग-प्राप्त है। लज्जा चितवन में ऐसी संपृक्त है कि उसे उसके आवरण की भाँति सरलता से पृथक् नहीं कर सकते। कवि आंतर पक्ष की अभिव्यक्ति करने में निपुण है। *चितवनि* = इसके चितवनि और चितवन दो रूप हैं। धातुरूप में न लगने से शब्द स्त्रीलिंग होता है। 'चितव' धातुरूप है, 'न' लगने से 'चितवन'

बना जो स्त्रीलिंग है। स्त्रीलिंग रूप में 'न' के बदले 'नि' भी होता है। ऐसी स्थिति तिरछानि, मुसकानि, बतरानि की भी है। संयुक्त क्रियाओं में अंत की क्रिया में भी ऐसी स्थिति होने पर यही प्रक्रिया लगती है। 'जान' और 'जानि' दोनों रूप बनते हैं। जान-पहचान' में जान स्त्रीलिंग ही है। *प्रेमपगी* = पगी से स्पष्ट है कि बात में प्रेम अंतःप्रविष्ट है। पगने का अर्थ है अंतस् में प्रवेश कर जाना।

विशेष--*लोल-चख* = नेत्रों की चंचलता का वर्णन यौवन में करना काव्य-परंपरा है और वास्तविकता भी है। *भाल* = भाल का वर्णन युवतियों का होता है। पर उसकी विशालता का वर्णन युवक या पुरुष में ही होता है। इसीसे 'रुचिर भाल' कहा गया। *मीठी* = मधुर, प्रिय लगनेवाली। मीठी मुसकान को प्रेमपगी बतरानि के साहचर्य में देखें। पकवान चीनी की चाशनी में पागे जाते हैं। उनके कारण माधुर्य का होना सुसंगत है। कुछ मिठाइयों में चाशनी सुखा दी जाती है, पर कुछ में रसीली चाशनी भी रहती है। गुलाब-जामुन, रसगुल्ला रसदार चाशनी में पड़े रहते हैं। उनसे रस टपकता है। यहाँ मुसकान को रसदार चाशनी से युक्त समझिए। *मोती* = दाँतों की उपमा मोती से दी जाती है दंतपंक्ति और मुक्ता-माला में साम्य भरपूर है। *अंगनि* = अंग और अनंग में विरोध है। पूरे पद्य में उज्ज्वल आभा का प्रकाश दिखाया गया है। केवल लज्जा का रंग हलका गुलाबी होता है। *अनंग* = काम का वर्ण श्याम होता है पर उस श्यामता पर बल यहाँ नहीं है। श्याम रत्न की किरणें भी प्रकाश की उज्ज्वलता से युक्त होती हैं।

छंद—मनहरण कबित्त--इसके प्रत्येक चरण में, १६, १५ के विश्राम से कुल ३१ वर्ण होते हैं। अंतिम अर्थात् इकतीसवाँ वर्ण सदा गुरु होता है। इसे घनाचरी भी कहते हैं।

'कबित्त' शब्द का प्रयोग व्यापक है। इस संग्रह का नाम 'घनानंद-कबित्त' है। पर इसमें केवल 'कबित्त' अर्थात् मनहरण घनाचरी का ही संग्रह नहीं है। सवैया, छप्पय और अनंगशेखर छंदों के अतिरिक्त इसमें दोहे सोरठे भी हैं। 'दोहे-सोरठे' तो सवैयों, घनाचरियों या छप्पयों के साथ हस्त-लेखों में रहते थे पर उनकी पृथक् संख्या नहीं लगाई जाती थी। जिस बड़े छंद

के साथ रहते थे उसी के अंग मान लिए जाते थे। जैसे सवैये के अनंतर यदि दोहा हो तो संख्या दोहे के साथ लगेगी। 'सवैया + दोहा' एक छंद माने गए। संख्या दोहे में लगाने पर भी उसको इसलिए नहीं कहते कि सवैये के बिना दोहे की संख्या होती है। यदि दोहा आरम्भ में भी आ जाए या सवैयों के साथ तो भी उसकी संख्या नहीं होती। इस संग्रह में सुभीते के लिए दोहे-सोरठे सबकी पृथक् संख्या मानी गई है।

(सवैया)

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलन मैं छबि फूलन की बरषा, उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ॥२॥

प्रकरण—यह रूपछटा का वर्णन अंगदीप्ति का वर्णन है। इसमें मुख, नेत्र वाणी के साथ ही लट, मुक्तामाला का भी वर्णन है। रूपवर्णन में भी कवि आंतर-पक्ष-प्रधान है। रूप का हृदय पर पड़ने वाला प्रभाव ध्यान में रखकर सह अभिव्यक्ति करता है। इसमें विषय-पक्ष प्रमुख न होकर विषयी-पक्ष प्रमुख है।

चूर्णिका—छके = (यौवन के मद से) मस्त। *काननि०* = कानों को छूकर, कानों तक फैलकर। नेत्रों की विशालता के लिये उनको कर्णालंबित कहना कवि-संप्रदाय की रूढ़ि है। यह रूढ़ि वास्तविक है, आरोपित या कल्पित नहीं। *कपोल* = कपोलों पर *कलोल०* = हिलती है। *कल०* = सुंदर ग्रीवा पर। जलजावलि०—(जलज = जल से उत्पन्न मोती + अवलि = समूह, लर)। दो लड़ की मोतियों की माला। रूप = सौदर्य रूपा = (चाँदी भी संकेत)। धर = धरा पर पृथ्वी पर।

तिलक—प्रेमिका का अति सुंदर गौर मुख दीप्ति के प्रकाश से झलक रहा है। उस मुख में यौवन के मद से छके हुए मस्त नेत्र कानों को छूते हुए शोभित हैं। जिस समय उस मुख से वह हंसते हुए बोलती है उसी समय बोलने में ऐसा जान पड़ता है मानों सौंदर्य के (उज्ज्वल वर्ण) पुष्पों की वक्ष पर वृष्टि हो रही है। बोलने में उसका शरीर हिलता है इसलिए कपोलों पर चंचल लटें हिलने लगती हैं और सुंदर ग्रीवा में शोभित दो लड़ की मोतियों की माला भी हिलने

लगती है। प्रत्येक अंग में इस प्रकार हिलने से दीप्ति की लहरें उठने लगती हैं। दीप्ति के इस प्रकार हिलने से ऐसा जान पड़ता है मानो शरीर में लबालब भरा हुआ सौंदर्य अब पृथ्वी पर चू ही पड़ेगा। तरंग उठती है मुख की ओर से ओर दीप्ति की लहर सब अंगों में लहराती जाती है। दीप्ति की लहरें ऐसी स्थिति का आभास देती हैं मानों उसका शरीर रूपी घट, जो सौंदर्य से भरा है, सौंदर्य का कुछ अंश पृथ्वी पर भी गिरा देगा।

व्याख्या—*अति सुंदर* = आनन सुंदर ही नहीं अति सुंदर है। अति का तात्पर्य यह है कि सौंदर्य लबालब भरा है। उबरकर सौंदर्य के बहने की स्थिति व्यक्त करने के लिए अति शब्द विशेषण बनाकर रखा गया है। छकै = छकना भी तभी होता है जब कोई इतने परिमाण में खा-पी ले कि फिर तिल रखने की जगह न रह जाए। भराव या कसाव से विस्तार होता ही है। इसलिए नेत्रों का कानों की ओर फैलना स्वाभाविक है। *बरषा* = सौंदर्य के पुष्पों की वृष्टि होती है। पानी का भराव या लदाव जब बादलों में होता है तो साधारण धक्के से उससे जल का गिरना सहज हो जाता है। हँसकर बोलने में जो साधारण आघात होता है उससे छबि के पुष्प अंगलता से उसी प्रकार गिरने लगते हैं जिस प्रकार प्रफुल्ल पुष्प किसी लता से मंद पवन के सामान्य आघात से गिरने लगते हैं। *कलोल करै* = इसका अन्वय लट से भी है और जलजावलि से भी। लट तो स्वभाव से ही चंचल है। कोई आघात हो या न हो उसका हिलना स्वभाव है। फिर कपोल भी तो सचिक्कण है उस पर फिसलन होने से कोई वस्तु चाहे सहज ही हिलनेवाली न भी हो तो फिसलकर हिलेगी। जल-जावलि में जलज का अर्थ मोती है, जल शब्द उसकी आब को व्यक्त कर रहा है। जलवाला, आबवाला आघात से हिलेगा। फिर गले में माला लटकी है। लटकी वस्तु का हिलना और भी सहज है। दो लड़ की माला होने से यदि एक लड़ भी हिली तो दूसरी लड़ को हिलना पड़ेगा। हिलने की तरंग उठने की अनेक स्थितियाँ एक साथ आ जुटी हैं। *अँग-अँग तरंग* = पदावली के उच्चारण में भी लहर की-सी स्थिति उत्पन्न होती है।

अलंकार—प्रमुख अलंकार उत्प्रेक्षा है। उक्तविषया वस्तूप्रेक्षा है।

छंद—सुमुखी सवैया, प्रत्येक चरण में आठ सगण (।।S) चौबीस वर्ण होते हैं।

(कबित्त)

छबि को सदन मोद मंडित बदन-चंद
तृषित चखनि लाल, कब धौं दिखायहौ।
चटकीलो भेख करें मटकीली भाँति सों ही
मुरली अधर धरें लटकत आयहौ।
लोचन ढुराय कछू मृदु मुसक्याय, नेह
भीनी बतियानि लड़काय बतरायहौ।
बिरह जरत जिय जानि, आनि प्रानप्यारे,
कृपानिधि, आनंद को घन बरसाय हौ ॥३॥

प्रकरण—प्रेमानुरक्ता गोपी की उक्ति है। पुर्वानुराग का वर्णन है। उसने श्रीकृष्ण का जो रूप देखा है वह उसके मन में बस गया है। पूर्वराग की यह अभिलाष दशा है। वह चाहती है कि श्रीकृष्ण मुरली बजाते आएँ और उन्हें वह देखे।

चूर्णिका–मोद = प्रसन्नता, प्रफुल्लता। चटकीलो = भड़कीली। भाँति = शैली। मटकीली० = चटक-मटकवाले ढंग से। लटकत = मस्ती से झूमते हुए। ढुराय = हिलाकर, इधर-उधर मटकाकर। नेह० = प्रेम से सिक्त। लड़काय = ललककर, ललक उपजाकर। लड़कना ललकना है और लड़काना ललक उपजाना। आनि = आकर। कृपानिधि = कृपा के सागर।

तिलक—हे श्रीकृष्णलाल, आप कब पधारेंगे। सौंदर्य के आगार प्रसन्नता से अलंकृत अपना मुखचंद्र इन प्यासे नेत्रों (चकोरों) को कब दिखाएँगे। भड़कीला वेश धारण किए हुए चटक-मटक के रंग-ढंग से युक्त हो अधर पर बाँसुरी रखे मस्ती से झूमते हुए इधर कब आएँगे। केवल आपके दर्शनों और मुरली की तान की ध्वनि का ही अभिलाष नहीं है आपसे संलाप करने की इच्छा भी है। आप अपने नेत्र मटकाते हुए, कुछ सुकुमारतामय मुसकरा कर स्नेहसिक्त बातें करके मेरे मन में ललक उपजाकर मुझसे कब बातें करेंगे। केवल बातें ही नहीं आपकी वह कृपा मुझे कब प्राप्त होगी जब आप अपने आप मुझे विरह में जलती जानकर हे प्राणप्रिय करुणा-सागर, आनंद के बादल से (तोष तृप्ति की) वृष्टि करेंगे।

व्याख्या—छवि को सदन = छबि का आगार कहने में विशेषता यह है कि जहाँ जिसका घर होता है वहाँ वह निर्द्वंद्वता से स्वच्छंद विचरण करता है। वदन में छबि का विहार स्वच्छंद, परिपूर्ण, निर्बाध है। मोदमंडित = प्रसन्नता से मंडित करने का तात्पर्य यह कि प्रसन्नता सहज है, प्रकृतिस्थ है, निरंतर रहती है, कभी हटती नहीं। लाल = अत्यंत प्रिय को लाल कहते हैं। लाल शब्द से प्राणप्रियता की अभिव्यक्ति होती है। नेत्रों को दर्शनों से तृप्ति नहीं है, प्यास प्रेम की है—'दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम-पियासे नैन।'—तुलसी। कब धौं = इससे अनिश्चय प्रकट होता है, आतुरता भी व्यक्त होती है। यह ज्ञान नहीं है कि श्रीकृष्ण कब आनेवाले हैं। निरंतर देखने की इच्छा होने से थोड़े समय का वियोग भी सहन नहीं है इसलिए उत्कट अभिलाष प्रकट होता है। चटकीलो० = श्रीकृष्ण का भड़कीला वेश, उनकी साजसज्जा भी उसके लिए आकर्षक है। उनकी मुद्रा भी आकर्षक है और उनका वेणुवादन भी आकर्षक है। पहले दो का संबंध नेत्रों से है, फिर भी पहली पंक्ति में दर्शन का अभिलाष है केवल नेत्र-विषय से उसकी संबद्धता है। इस चरण में नेत्र-विषय के साथ श्रुति-विषय का संबंध है। पर प्रधानता श्रुति-विषय की है। लोचन० = लोचनों के चांचल्य का अन्वय दृश्य प्रधान होने से नेत्र का विषय है। 'कछु मृदु मुसक्याय' में भी नेत्र-विषय का अन्वय है। किंतु वार्ता में श्रुति-विषय का अन्वय है। किंतु वार्ता में श्रुति की अपेक्षा मानसतृप्ति अधिक है। मुरली की तान में कर्ण की तृप्ति प्रमुख है। यहाँ मानसतृप्ति प्रमुख है। उत्तरोत्तर उत्कर्ष और इंद्रियों से योग का तारतम्य है। कृपा = कृपा और अनुग्रह समानार्थी नहीं हैं, इनमें अर्थांतर है। कृपा अपनी ओर से होती है, कोई दया का पात्र है तो वह दयालु से प्रार्थना भी कर सकता है और नहीं भी कर सकता या करने पा सकता। जो अनुकूलता अपने आप किसी के प्रति की जाती है वह कृपा है। किसी के कहने पर जो अनुकूलता दिखाई जाती है वह अनुग्रह है। अनुग्रह में अनु का अर्थ पीछे, तदनंतर है, याचना करने पर अनुकूलता। अनुकंपा में किसी की कष्टानुभूति के प्रति उसी प्रकार का अनुभव करने की स्थिति है। किसी के कष्टजन्य अनुभव (कंपन) के प्रति अपनी तदनुरूप अनुभूति (कंपन) की अभिव्यक्ति करना, समानुभूति व्यक्त करना अनुकंपा है। श्रीकृष्ण स्वयम्

कष्ट को जानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करेंगे इसलिए 'कृपा' शब्द का व्यवहार किया गया है। 'जिय जानि' का व्यवहार इसी से है। इन कवियों की पद्धति में दूत सामान्यतया नहीं होते, इसलिए प्रिय स्वतः कृपा करे तभी इनका कार्य संपन्न हो सकता है। निधि = यहाँ 'निधि' का 'समुद्र' ही अर्थ बैठता है। सागर से ही बादल उमड़ते हैं। प्रान = प्राणप्यारे का एक अर्थ बादल के साहचर्य से प्राण (पवन) जिसे प्रिय हैं भी हो सकता है। पवन की प्रियता से बादल का उड़कर आना ठीक ही है। नेहभीनी = नेह का अर्थ तैल भी हो सकता है तब 'बतिया' का अर्थ 'बत्ती' हो जाएगा।

विशेष—ढुराय, मुसक्याय, लड़काय, बतराय पर रुकावट से अंत्यानुप्रास द्वारा तबले के बोल की स्थिति का अनुभव होता है। इनकी रचना में प्रायः कवित्तों में ऐसा अत्यधिक पाया जाता है।

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै
लड़कीली बानि आनि उर मैं अरति है।
वहै गति लैन औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन, हियरा तें न टरति है।
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनँदनिधान प्रानप्रीतम सुजानजू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करती है॥४॥

प्रकरण—गोपी का विरह वर्णित है; स्मृति दशा है। प्रिय को उसने संयोगावस्था में जिन-जिन मुद्राओं में देखा है वे उसी में अंतःकरण में स्थित हैं। मुसकराना, बातें करना, ललकवाली टेव, मस्ती से चलना, वेणुवादन, हँसना, चातुर्यमयी आँखों से देखना, छैलापन उसकी स्मृति के विषय हैं।

चूर्णिका—लड़कीली = ललकवाली। अरति० = अड़ती है, अवस्थित हो जाती है। गति० = (मस्ती) से चलना। बन = वेणु, बाँसुरी। चिताई = चैतन्य की हुई, जगाई हुई। चाहिबे की = देखने की। छैलताई = रँगीलापन। निधान = कोश, खजाना। सुधि = स्मृति। बेसुधि = बेहोशी, विस्मृति।

तिलक—प्राणप्रिय सुजान (श्रीकृष्णजी) की सुध (स्मृति) सब प्रकार से बेसुध (विस्मृति) उत्पन्न करती है [या बेसुध बेहोश करती रहती है]

उनका वह मुसकराना, वह कोमलतायुक्त बातें करना, उनकी वह ललकवाली टेव आकर हृदय में अड़ती रहती है। उनका वह हावभावमय चलना, वह सुंदर वेणुवादन और हँसना हृदय से टलता ही नहीं। चतुराई से प्रेरित उनकी वह मेरी ओर देखने को छटा तथा वह छैलापन क्षणभर भी भूलता नहीं, निरंतर ध्यान में चढ़ा रहता है।

व्याख्या—इसमें भी तारतम्य है मुसकराना और फिर कोमल-कोमल बातें करना। पहले वे मुसकराते हैं, फिर बातें करने लगते हैं। बातें करते हुए वे जिस प्रकार की मुद्रा दिखाते हैं वह ललक की अभिव्यक्ति करती रहती है। ये परिस्थितियाँ हृदय में पहुँचकर ऐसी अड़ती हैं कि किसी प्रकार हृदय से बाहर नहीं होतीं। अड़नेवाली ये मुद्राएँ किसी प्रकार बाहर नहीं होतीं, पर हृदय में इधर-उधर हिलती-डुलती रहती हैं। पर उनकी वेणुवादन की मुद्रा और तदनंतर मुसकराना तो हृदय में भी ऐसा जमा है कि वहाँ भी हिलता डुलता नहीं। ये दोनो हृदय में चाहे अड़े हों, चाहे जमे हों, पर निरंतर अपनी ओर आकृष्ट नहीं करते, समय-समय पर उनकी ओर ध्यान जाता है। किंतु उनकी जो चातुर्यभरी अवलोकन की छटा है, जिसमें छैलापन व्यक्त होता है, वह तो क्षणभर के लिए भी भुलाई नहीं जा सकती। परिणाम यह है कि ध्यान जब उन्हीं में रहता है तो अपनी सुध-बुध किस प्रकार हो। अपनी सुध कभी आती ही नहीं। सब भाँतिन = अंतःकरण चतुर्विध माना जाता है—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। 'उर' शब्द चित्त के लिए, 'हियरा' मन के लिए है, न भूलने में 'बुद्धि' है। इन तीनो के अन्यत्र संलग्न हो जाने से अहंकार-अहंवृत्ति का पता ही नहीं लगता। इस प्रकार अंतःकरण निर्वृत्ति हो जाता है, वह तन्मय है। यह तन्मयता की स्थिति है।

विशेष—(१) इसमें भी अंत्यानुप्रास के कारण तबले की ठनक सुन पड़ती है। (२) सुजान शब्द श्रीकृष्ण और राधा दोनो के लिए प्रयुक्त होता है। इनकी प्रेयसी का नाम भी सुजान था। सुजान से वियुक्त होने पर कहते हैं कि उसके नाम का अंकन अपनी रचना में बराबर करते रहे। कबित्त सवैयों में प्रायः सुजान, जान, जानराय नाम आया है। पदों में यही नियम है। जब ये पूरे भक्त हो गए तब इन्होंने इस लौकिक आधार का परित्याग कर दिया, यह अनुमान करना पड़ता है।

अलंकार—'सुधि' 'बेसुधि' में विरोध।

भाषा—'हियरा' शब्द आकारांत ही रहता है। केवल सप्तमी में 'हियरे' रूप प्रयुक्त होता है। यही स्थिति 'जियरा' की भी है। 'ड़ा' प्रत्यय वाले शब्दों की ऐसी ही स्थिति ब्रजी में जान पड़ती है।

जासों प्रीति ताहि निठुराई सों निपट नेह,
कैसे करि जिय की जरनि सो जताइये।
महा निरदई दई कैसें कै जिवाऊँ जीव,
बेदन की बढ़वारि कहाँ लौं दुराइयै।
दुख को बखान करिबे कौं रसना कैं होति,
ऐपै कहूँ वाको मुख देखन न पाइयै।
रैन दिन चैन को न लेस कहूँ पैये भाग,
आपने ही ऐसे दोष काहि धौं लगाइयै॥५॥

प्रकरण—इसमें प्रिय के विषम प्रेम की चर्चा है। एक ओर प्रिय की उदासीनता और दूसरी ओर प्रेमी की एकनिष्ठता का निरूपण है।

चूर्णिका—निपट = अत्यधिक। कैसे = किस प्रकार। जताइयै = जताऊँ, बताऊँ। दई = दैव। बेदन = वेदना, पीड़ा। बढ़वारि = बढ़ती, अधिकता। दुराइयै = छिपाऊँ। बखान = कथन। कैं = यदि, कहीं। ऐपै = इतने पर भी। भाग = भाग्य। काहि = किसे। धौं = न जानें।

तिलक—जिस प्रिय से मैंने प्रीति की, उसने मुझसे तो बदले में प्रेम नहीं किया, उलटे उसने निष्ठुरता से अत्यंत प्रेम कर लिया। इस प्रकार जो जलन हृदय में होती है उसे मैं किस प्रकार जताऊँ। हे दैव, वह निर्दय ही नहीं महा निर्दय है, इसलिए अपने जी को कैसे जिलाऊँ। महानिर्दय (हिंसक) भला कैसे जीने देगा। यदि यह कहा जाय कि वेदना को छिपा रखो तो वह तो निरंतर बढ़ती ही रहती है। बढ़कर शरीररूपी घट से बाहर हो जाना चाहती है, इसलिए उसे छिपाये रखना भी संभव प्रतीत नहीं होता। छिपाने का भरसक प्रयास किया गया; पर छिपाने से छिपे तब न ! मेरे वश की बात नहीं रह गई, वह इतनी अधिक है कि आपसे आप दूसरों को प्रकट हो जाना चाहती है। यदि कोई कहे कि क्या वेदना है कहकर बताओ तो उसका कथन कैसे किया जाय ! वेदना का आधिक्य इतना अधिक है कि जिह्वा ने अपना

कार्य करना ही छोड़ दिया है, कहूँ भी तो किस जीभ से कहूँ ! यदि प्रिय के दर्शन हो जाते तो तृप्ति से किसी प्रकार कुछ काम बनता ! पर उस प्रिय का मुख देखने पाऊँ तब न ! उनके दर्शन तो मिलते ही नहीं। फल यह है कि रात-दिन चैन का लेशमात्र भी नहीं मिलता। कुछ कहना-सुनना तभी हो सकता है जब चित्त प्रकृतिस्थ हो, यहाँ प्रकृतिस्थ होने का अवसर ही नहीं मिलता। इसमें क्या किसी को दोष दूँ। प्रिय को दोष दिया वह भी व्यर्थ ही दिया। अपने भाग्य का ही दोष है। मेरे हिस्से में इस प्रकार वेदना सहना ही बदा है।

व्याख्या—निठुराई = निष्ठुरता सपत्नी रूप में कल्पित है। प्रिय का उससे प्रेम नहीं, परम प्रेम है। प्रीति और नेह शब्द पर्यायवाची रखकर दोषमार्जन ही नहीं किया गया प्रत्युत नेह शब्द से परपक्ष में गौरव भी दिखाया गया। यही क्यों, नेह वहाँ हुआ और प्रचंड ज्वाला प्रेमिका के हृदय में उठी (असंगति, विरोधमूलक प्रवृत्ति)। 'कैसें करि' से यह भी व्यंजित किया कि लोकसामान्य प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए क्या कहा जाय। 'जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू।' यहाँ घटित ही नहीं होता। महानिरदई = दैव से, दई से निर + दई क्या महा निर + दई की बात कैसे कही जाय। अलोकसामान्यवृत्ति होने से वह प्रिय महा निरदई कहा गया। महानिरदई में निर्दयता तो है ही वह दैव के शासन से भी परे है, निर्दैव भी है। बेदन = वेदना में पीड़ा तो है ही। 'वेदन' में ज्ञान का अर्थ भी है (विद् ज्ञाने) इस ज्ञान के बारंबार मन में टकराने से पीड़ा बढ़ती ही जाती है। वह छिपाए छिपती नहीं। रसना = जीभ ने अपना काम करना ही छोड़ दिया है। मन के अत्यधिक प्रभावित होने से सारी इंद्रियाँ शिथिल हैं। रसना (रसवाली) भला इस नीरस वेदनामयी स्थिति में क्या कहे। कैं = 'यदि कहीं' के अतिरिक्त 'कई' (कैं = कई) अर्थ भी ले सकते हैं। वह वेदना एक जीभ से क्या कही जा सकती है ! ऐपै = ब्रजी का शब्द। पूरब में भी ऐसा प्रयोग चलता है एपै, एप्पर, एपर आदि। इतने पर भी मुख तक दिखाई नहीं पड़ता। केवल दर्शन से ही स्थिति सुधर सकती थी, सो भी नहीं मिलता। प्रिय अनुकूल न भी होता, पर दिखाई तो पड़ता। पर वह दिखलाता ही नहीं। दर्शन = लालसा

की अभिव्यक्ति है। इतने से ही पूर्ण तृप्ति हो सकती थी। दोष = प्रेम-साधना की रूढ़ि है। परम प्रेमी अपने को ही दोष देता है प्रिय या अन्य किसी को दोष नहीं देता।

व्याकरण—जताइयै = इसका अर्थ सामान्यतया भावे माना जाता है, जताया जाय, डराया जाय आदि। पर अपभ्रंश में ऐसे प्रयोग सब लकारों, पुरुषों में आते हैं मिलाइए हेमचंद्राचार्य के सूत्र (३/१७७) से।

सवैया)

भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लौं तारनि ताकिबो तारनि सों इकतार न टारति।
जौ कहूँ भावतो दीठि परै घनआनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन-सोंहन जोहन की लगियै रहै आँखिन कें उर आरति ॥६॥

प्रकरण—अनुरागवती नायिका दिन-रात किस प्रकार विरह में पड़ी रहती है इसी का वर्णन है। सबेरे से साँझ और साँझ से सबेरे तक वह प्रिय की प्रतीक्षा करती है पर उनके दिखाई पड़ने पर भी उन्हें देख नहीं पाती। इससे उसके नेत्रों की लालसा तृप्त नहीं हो पाती।

चूर्णिका-भोर = सबेरा। न हारति = थकती नहीं। तारनि = तारों का देखना। तारनि सों = पुतलियों से, आँखों से। इकतार = लगातार, एकरस। न टारति = छोड़ती नहीं। भावतो = भानेवाला, प्रिय। आँसुनि० = आँसुओं से अवसर गार (खो) देती है। प्रिय के दिखाई पड़ने पर उसके आँसू क्या गिरते हैं अवसर ही गिर जाता है। आँसू के रूप में अवसर ही टपककर निकल जाता है। आँसुओं के प्रवाह के कारण अवसर आने पर भी देखने का अवसर नहीं मिलता, देख नहीं पाती। सोंहन = सामने। जोहन० = देखने को। आरति = (आर्ति) लालसा।

तिलक—सखी की उक्ति है। सबेरे से साँझ तक वन की ओर (जिधर श्रीकृष्ण गए हैं) वह अनुरागिणी, वह पगली देखती रहती है और इस प्रकार देखते रहने में कुछ भी थकती नहीं (थककर विरत नहीं होती)। (यदि इस बीच श्रीकृष्ण न दिखाई पड़े तो वह साँझ से सबेरे तक अपनी आँखों के तारों से (आकाश के) तारों को निरंतर और एकरस देखती रहती है, उनको देखने से नेत्रों को हटाती नहीं। इस प्रकार वह आँखों में

ही रात भी काट देती है। यदि कहीं आनंद के घन प्रिय दिखाई पड़ते हैं (दिन में ही) तो वह उस अवसर पर आँसू गिराती है (उसके नेत्रों में आनंदातिरेक से आँसू आ जाते हैं)। वे आँसू क्या गिरते हैं उनके रूप में उसका दर्शन का अवसर ही गिर जाता है। आँसुओं की झड़ी के कारण प्रिय दृश्य होने पर भी उसे दिखाई नहीं पड़ते। उसे देखने का अवसर मिलकर भी नहीं मिलता। इस प्रकार मोहन (श्रीकृष्ण) को सामने (रूबरू) देखने की लालसा उसकी आँखों के हृदय में लगी ही रहती है उसकी उत्कंठा बनी ही रहती है।

व्याख्या — कानन = वन की ओर देखने में उसे थकावट नहीं होती। उसके नेत्र कानन (कानों) की ओर देखने के अभ्यासी हैं। उसके नेत्र कर्णालंबित हैं यह भी व्यंजना हो रही है। न = निषेधार्थक 'न' का उच्चारण ब्रजी में 'नि' की भाँति होता है इसलिए हस्तलेखों में कहीं-कहीं 'नि' भी मिलता है। इस प्रकार 'निहारति' का पूरा यमक भी बन जाता है। यही स्थिति दूसरे चरण के 'न' की भी है। इसलिए वहाँ भी तारनि की तीन आवृत्ति हो जाती है। बावरी = पगली कहने में स्वारस्य है। पगली के देखने में औरों से विशेषता होती है। वह जिधर देखती रहती है एकटक देखती रहती है। थकने का नाम नहीं। निहारना ताकना = निहारना ध्यान से देखना है, पर निहारने में संधान-अनुसंधान की स्थिति रहती है। निहारनेवाला कुछ खोज-ढूँढ़ में रहता है। ताकना = ध्यान से देखना है, पर ताकने में जिसे ताका जाता है उसमें कुछ खोजने की स्थिति न होकर उसमें लीन होने की वृत्ति रहती है। किसी सुंदर पदार्थ को निहारनेवाला उसके सौंदर्य के संधान में प्रवृत्त होता है और किसी सुन्दर पदार्थ को ताकनेवाला उसके सौंदर्य में डूबना चाहता है। बन की ओर देखने में श्रीकृष्ण के अनुसंधान की वृत्ति है और तारों की ओर देखने में रात्रि के समाप्त होने की वृत्ति है। निहारने में वह श्रीकृष्ण के आने की संभावना करती है। ताकने में तारों के डूबने की। जिस मार्ग से श्रीकृष्ण गए हैं उसपर वे कब लौटते हैं। तारे कब डूबें कि दिन होने पर उनके देखने का अवसर मिले। इकतार = इसके दो अर्थ हैं—लगातार या निरंतर और एक समान, दोनो इस प्रसंग में लगते हैं। वह निरंतर देखती है और एक-सा देखती है। दीठि परै = आँख में जब कुछ पड़ता है तो उसमें आँसू आ

ही जाते हैं। घनआनँद = इसके तीन अर्थ हैं–आनंद के बादल (भावतो का विशेषण); घने आनंदवाले (आँसू); कवि का नाम घनानंद। दिखाई पड़ते हैं आनंद के बादल और बरसती हैं आँखें आनंद के घने आँसू। मोहन = मोहन में 'म' का उच्चारण अनुनासिक है। हिंदी में 'म' का उच्चारण अनुनासिक होता है। 'मँ' की भाँति बोलते हैं। मोहन उच्चारण के विचार से मोंहन है। इसलिए मोंहन और सोंहन में ओंहन की आवृत्ति है। इनके साहचर्य में 'जोहन' का उच्चारण भी 'जोंहन' की भाँति होगा। अपभ्रंश में अनुस्वार वैकल्पिक रूप में कहीं भी लग जाया करता है। आँखिन = आँखिन की नराकृति कल्पना है। तभी उनके उर (हृदय) की बात कही गई है। आरति = आर्ति तो है, आ + रति से परम प्रेम की भी व्यंजना है। मोहन को जो मोहनेवाला है उसको देखने की लालसा होना स्वाभाविक है।

छंद—अरसात सवैया, प्रत्येक चरण में आठ भगण (ऽ।।), अर्थात् २४ वर्ण होते हैं।

(कबित्त)

भए अति निठुर, मिटाय पहचानि डारी.
याही दुख हमैं जक लागी हाय हाय है।
तुम तौ निपट निरदई, गई भूलि सुधि,
हमैं सूल सेलनि सो क्यौंहूं न भुलाय है।
मीठे मीठे बोल बोलि ठगी पहिलें तौ तब,
अब जिय जारत कहौ धौं कौन न्याय है।
सुनी है कै नाहीं, यह प्रगट कहावति जू,
काहू कलपायहै सु कैसें कल पायहै ॥३॥

प्रकरण—प्रेमिका की उक्ति। पत्र या संदेश प्रिय को दिया गया है। उनकी उदासीमता या विमुखता का और अपनी सुमुखता का कथन है। दूसरे को दुख देनेवाला दुख पाता है यह चेतावनी भी दी गई है।

चूर्णिका—निठुर = निष्ठुर, निर्दय। मिटाय० = पहचान ही मिटा दी, एकदम भुला दिया। जक = रट। निपट = अत्यंत। सूल० = वेदना की कसक, पीड़ा की अनुभूति। क्यौंहूँ = किसी प्रकार से भी। न भुलाय = भूलती ही नहीं। धौं = तो। कै = कि, या। प्रगट = प्रसिद्ध, प्रख्यात, प्रत्यक्ष। जू = एजी। कलपायहै = तरसाएगा, कष्ट देगा। सु = सो, वह। कल = सुख, चैन।

तिलक—हे प्रिय, आप निठुर ही नहीं अतिनिठुर हो गए। मुझे ही

भूलना क्या, मेरी पहचान को भी मिटा दिया (जो भूल जाता है उसका स्मरण फिर कभी हो सकता हैं, पर जिसकी पहचान की रेखाएँ भी मिटा दी गईं वह फिर कैसे ध्यान में आ सकता है)। इस दुख से मुझे हाय-हाय की रट लगी है। एक तो यह दुख कि जिससे प्रेम किया उसने मेरी पहचान तक को नष्ट कर डाला। दूसरे दुख यह कि हृदय ऐसा बुरा है जो किसी प्रकार वेदना का परित्याग नहीं करता। आप तो अत्यंत निर्दय हैं, आपको सुध ही भूल गई। स्मृति की वृत्ति ही आपमें नहीं रही। जिसमें स्मृति होती है वह तो समय पर घटित घटना का स्मरण कर भी सकता है, पर आपमें स्मृति ही नहीं रही। पहले भूली हुई स्मृति आए, फिर स्मृति में भूली हुई मैं आऊँ, यह असंभव हो गया। इधर मेरी स्थिति यह है कि आपके विरह की वेदना से जो कसक होती है वह किसी प्रकार भी भूलती नहीं, हटती नहीं। यदि उस वेदना को भूलने का यत्न भी करती हूँ तो भी वह दूर हटती नहीं, निरंतर उसकी ओर वृत्ति रहती है (इससे पीड़ा का नैरंतर्य व्यक्त किया गया)। पहले तो तब (संयोगावस्था में) मीठी-मीठी बातें करके मुझे ठगा। पर अब (वियोग में) मेरा जी क्यों जलाते हैं (ठग जिसे ठगता है उसे तभी तक कष्ट देता है जब तक उसकी कार्यसिद्धि नहीं हो जाती)। पर आप कार्यसिद्धि के अनंतर भी मुझे अब भी जला रहे हैं। यह कौन-सा न्याय (ठग के न्याय से भी तो यह नहीं मिलता) है। आपने यह प्रख्यात कहावत सुनी है या नहीं कि जो किसी को कलपाता है उसे भी कल नहीं मिलती। दूसरे को कष्ट देनेवाला कैसे सुख पाएगा।

व्याख्या—अति निठुर = निठुर किसी की पहचान नहीं मिटाता, भले ही वह उसे पहचानने में आनाकानी करे। मिटाय = किसी की पहचान समय पाकर आप-से-आप क्षीण हो जाती है, पर आपने जान-बूझकर प्रयत्न करके पहचान को मिटा दिया। रक = हाय-हाय की रट का हेतु यह कि यदि पहचान की रेखा मिटाई न जाती तो कभी उस पहचान से प्रेरित होकर मेरी ओर उन्मुख होने की संभावना होती, पर अब तो पहचान के साथ उसकी संभावना भी समाप्त हो गई। रेखाएँ मिटाई गईं पहचान की, पर उनके मिटाने से वेदना हाय-हाय के रूप में प्रेमिका को हुई, उसकी अनुभूति की कोमलता इसमें व्यंजित होती है। किसी का चित्र मिटा देने से उसे शारीरिक वेदना नहीं होती, मानसिक हो सकती

है। किसी को मानसिक पीड़ा अधिक होती है किसी को कम। इसे अधिक है रट लगी है। रगड़ी गई पहचान और रगड़ गया प्रेमिका का हृदय। पहचान मिटी और जक लगी। पहचान ही मिटकर जक बन गई है। निपट निरदई = निष्ठुर और निर्दय में भेद है। जो निष्ठुर होता है वह अनुभूतिशून्य होता है, किसी के प्रेम की अनुभूति उसमें नहीं होती। निर्दय में किसी की वेदना की अनुभूति नहीं होती, साथ ही वह किसी के प्रति आघात आदि का कड़ा व्यवहार भी करता है। कोई पुत्र अपने माता-पिता की चिंता न करे तो वह निठुर कहलाएगा। वह उनकी संपत्ति छीनने का भी यत्न करे, उन्हें भूखों मरने को विवश करे तो निर्दय होगा। निष्ठुर किसी की उपेक्षा करने से, उदासीनता रखने से होता है निर्दय उसे कष्ट भी पहुँचाने से। पहले 'निठुर' फिर 'निर्दय' कहने में उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। अति और निपट में भी अंतर है। किसी सीमा को पार कर जाने से 'अति' होती है। ऐसी सीमा पार करनेवाले जगत् में संख्या के विचार से अधिक हो सकते हैं। निपट उसे कहते हैं जिसकी समता का दूसरा न हो, जो अपनी विशेषता में अद्वितीय हो। इस प्रकार इन दोनो पदों में भी अर्थ के विचार से उत्कर्ष है। निठुर प्रिय ने पहचान मिटा दी, सामान्यतया जैसा कोई नहीं करता वैसा आचरण किया। पर निर्दय प्रिय ने तो मानवता का ही परित्याग कर दिया। प्रेमिका समझती है कि वेदना की अनुभूति जैसे मैं कर रही हूँ वैसे प्रिय भी करता होगा। पर उसने तो वेदना की अनुभूति ही त्याग दी और उसी के नेत्र-भालों (सेल) से जो पीड़ा मुझे हो रही है वह भूलती नहीं। सेलनि = चुभन को कहते हैं, बाण, भाले आदि नुकीले अस्त्र-शस्त्र के चुभने से होनेवाली पीड़ा। कोई नुकीला हथियार जब तक शरीर में धँसा रहता है तब तक अधिक पीड़ा होती है, फिर वह धीरे-धीरे कम हो जाती है। पीड़ा यहाँ ऐसी चुभी है कि निकलती नहीं है, कष्ट की अनुभूति कैसे कम हो सकती है। भुलाय = भुलाति के अर्थ में है। भुलाति के 'त' के लोप से भुलाइ फिर भुलाय। मीठे = ठग वाणी तो मीठी बोलते ही हैं, मीठी वस्तु खिलाते या छुलाते भी हैं। बिहारी ने 'गुरडरी' पद का व्यवहार किया है। जिय = जी, जीवन। जीवन के जलाने में विरोध भी। न्याय = उचित बात। ठगों का भी न्याय होता है, वे उचित-अनुचित का विचार करते हैं। दूसरे यह कि वे भी पकड़े जाते हैं, उन्हें शासन से दंड मिलता है। यदि किसी

को शासन के दंड का भय न हो तो ईश्वर का तो भय होना ही चाहिए। ईश्वर के द्वारा दंड मिलने का भय कहावत से बतलाया गया है। ऐसा हो सकता है कि आप भी किसी के द्वारा ठगे जायँ। जैसे को तैसा मिल जाय। प्रगट = प्रख्यात और प्रत्यक्ष से यह भी व्यक्त होता है कि इस कहावत के अनुरूप स्थिति निरंतर आती रहती है। तभी वह बहुत चलती है प्रगट है, सभी जानते हैं। आपको मुझे कष्ट देने का बदला शीघ्र मिल सकता है। सुनी है कै नाहीं = आपने सुना होता तो कदाचित् ऐसा न करते। सुना हो तो कदाचित् इसपर ध्यान न दे रहे हों। सुनी अनसुनी करते हों। मेरी सुनी अनसुनी करते रहते हैं इसलिए लोककथन की भी सुनी अनसुनी करना संभव है।

अलंकार—'कलपायहै' की आवृत्ति और अर्थभेद से यमक। छेकोक्ति (लोकोक्ति का साभिप्राय प्रयोग करने से)।

निरुक्ति—'जू' शब्द 'जीव' से व्युत्पन्न है। तुलसीदास ने 'कहि जयजीव सीस तिन्ह नाए' में जिस 'जीव' शब्द का प्रयोग किया है उसीसे खड़ी का 'जी' और ब्रजी का 'जू' दोनो बने। 'जय जीव' का अर्थ है (आपकी) जय हो, (आप) जिएँ।

(सवैया)

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यों समुझै जड़ मीत के पानि परे कों प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै ॥८॥

प्रकरण—रीतिकाल में प्रेमियों के लिए दो उपमान आते थे। उनके वियोग और संयोग के लिए दो अप्रस्तुतों की चर्चा होती थी। 'बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की।'—मीन का बिछुड़ना और पतिंगे का मिलना। मीन पानी से वियुक्त होकर मर जाता है। पतिंगा दीपक से मिलने के प्रयत्न में जल मरता है। इसमें से मीन के बिछुड़ने की चर्चा करते हुए कवि कहता है कि मानव की प्रेम-साधना को मीन की प्रेम-साधना के समान कहना उसको घटाना है। प्रेम में विरह न सहकर मर मिटना ऊँची बात नहीं। इससे प्रिय को कलंक लगता है। मानव विरह में 'मरता' नहीं, कष्ट सहता है। मछली और पानी में मछली मानव के समान वेदना सहने की क्षमता नहीं रखती, पानी जड़ है। मानव का प्रिय चेतन है। किसी जड़ को प्रभावित करना संभव नहीं, पर चेतन को प्रभावित करना संभव है; कम से कम प्रेमी

के हृदय में ऐसी संभावना रहती है। इसलिए मानव और मीन को एक करना ठीक नहीं।

चूर्णिका—हीन० = जल से हीन होने पर, जल से वियुक्त होकर। मीन० = मछली अधीन या विवश हो जाती है, व्याकुल होती है। कहा = क्या। कछु = थोड़ा भी। मो० = मेरी आकुलता की समता कर सकता है। हीन··· समानै = जल से वियुक्त होने पर विवश मीन क्या मेरी आकुलता की कुछ भी समता कर सकता है। नीर० = प्रिय जल को। लाय० = कलंक लगाकर। निरास० = निराश होकर, आशा को त्याग कर, भरोसा छोड़कर। कायर = डरपोक, प्रेमी में उत्साह बनाए न रखनेवाला (मीन)। जड़ = अचेतन। मीत = मित्र, प्रिय। पानि = हाथों में। प्रमानै = प्रमाणित करता है, सिद्ध करता है। जड़··· ···प्रमानै = अपने प्रिय अचेतन जल के हाथों में पड़ने को प्रमाणित करता है, जड़ जल के वश में पड़ने से (प्रेमी के प्रति उसकी अचेतनसामान्य असहृदयता से) तड़पता हुआ मर जाता है। जु = जो। जीव की जीवनि = जी को जिलानेवाली। जान = सुजान, प्रेयसी।

तिलक—विरहियों की स्थिति के लिए जो मीन का दृष्टांत दिया जाता है उसपर यदि विचार करता हूँ तो स्पष्ट होता है कि जल के घटने पर मीन विवश होकर व्याकुल होता है। पर जैसी व्याकुलता उसे होती है क्या वह थोड़ी भी मेरी आकुलता की बराबरी कर सकती है (कथमपि नहीं)। उसका स्पष्ट कारण यह है कि वह मीन अपने प्रिय जल को कलंक लगाकर और स्वयम् निराश होकर वह कायर अपने प्राण त्याग देता है। मैं तो निराश होता नहीं, कायरों की भाँति प्राणों का भी त्याग नहीं करता। वेदना निरंतर सहता हुआ, प्रिय के सुमुख होने की आशा लगाए जीता हूँ। प्रीति की जो वास्तविक रीति है उसे वह क्या समझे (वह चेतन होकर भी जड़ ही है) वह तो अपने अचेतन प्रिय (जल) के हाथों पड़ने (उसके प्रेम में विवश होने भर) को प्रमाणित करता है। अपनी क्षमता उसमें कुछ भी नहीं है। यदि होती तो वह प्रिय के हाथों इस प्रकार न पड़ता कि उसके प्रेम की वेदना सहन न करने में अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देता। उसका प्रिय तो उसके मन की स्थिति समझनेवाला चेतन प्रिय है नहीं पर मेरी प्रेयसी मेरे मन की दशा समझनेवाली है; इसलिए इस आशा और संभावना में कि प्रिय को

प्रभावित किया जा सकता है, मैं जीता हूँ और मेरी प्रेयसी (सुजान) मेरे जी को इस प्रकार जिलाती रहती है। मीन का प्रिय जड़ है और स्वतः मीन में विरह का कष्ट सहन करने का साहस नहीं है। इसलिए यदि प्रेम की मेरी व्याकुलता की उससे तुलना की जाय (जिस मुझ का प्रिय चेतन है और जो साहसपूर्वक वेदना सह रहा है) तो अनुचित है। जड़ न सहो, पर चेतन तो प्रभावित किया जा सकता है, यही संभावना मुझे वेदना सहने का सहारा भी देती है और मुझे जिलाती भी है, मेरा प्रिय मेरी वेदना समझानेवाला है। मानव-प्रेम-संबंध मीन-प्रेम-संबंध से बहुत गूढ़ है।

व्याख्या—हीन० = मीन जल के घटने पर ही व्याकुल होने लगता है। जल से वह वियुक्त हुआ और मरा। उसे अपने प्रिय का संयोग जबतक प्राप्त रहता है तबतक वह जीता है। असंयोग होने पर या उसके संयोग की कमी से वह मरता—व्याकुल होता है। मैंने प्रिय का संयोग तो नाममात्र का पाया, पर प्रिय के वियोग में न जाने कब से आकुल हूँ। मेरी इस आकुलता की समानता मीन के पक्ष में कहाँ है। मेरी आकुलता की समानता तो वह कुछ भी नहीं कर पाता। वियुक्त होने पर यदि कुछ समय तक वह जीता और वेदना सहता तब भी कोई बात थी। नीर० = वह उस प्रिय जल को कलंक लगाता है। मैं मरकर अपने प्रिय को कलंक नहीं लगाता। आशा उसमें है ही नहीं। मुझमें पूर्ण आशावाद है। यह आशावाद भारतीय काव्य-परंपरा की बहुत बड़ी वस्तु है। नैराश्यवाद के लिए भारतीय काव्य-परंपरा में स्थान नहीं है। आधुनिक छायावादी कवियों ने बिलायती नैराश्यवाद की अनुकृति पर जिस नैराश्य की अभिव्यक्ति की वह भारतीय काव्य-परंपरा के विपरीत था, इसीसे कइयों को अपना मार्ग बदलना पड़ा। नैराश्य की अभिव्यक्ति भी उसके समाप्त होने में सहायक हुई, यह भी एक पक्ष है। जड़ = इसका अन्वय उभय पक्ष में हो सकता है—मीन के पक्ष में भी और जल के पक्ष में भी। मीन को जड़ कहने में खीझ वैसे ही व्यक्त होती है जैसे कायर कहने में। साहस के अभाव की ओर संकेत है। घनआनँद = घना आनंद देनेवाली (सुजान), कवि का नाम।

व्याकरण—'मीन' शब्द पुंलिंग है। 'समानै' क्रिया है 'समानता करे'।

यदि इसे संज्ञा मानें तो 'समान ही' अर्थ करना पड़ेगा और क्रिया ऊपर से जोड़नी पड़ेगी। कें-अनुनासिकता से स्पष्ट है कि 'पानी में' अभिप्रेत है।

पाठांतर-विचार—'नीरसनेही' का 'नीरसनेह' (प्रयाग) मिलता है। उसका खंड दो प्रकार से कर सकते हैं। 'नीर सनेह' या 'नीरस नेह'। 'नीर सनेही' का भी 'नीरस नेही' खंड कर सकते हैं। जल 'नीरस नेही' और मीन 'निराश' प्रेमी। 'सनेही' शब्द में स्वारस्य अधिक है। जो सनेही होगा उसमें दूसरे की मलिनता पहुँचकर धब्बा (कलंक) पैदा करेगी ही। कलंक सनेह को लगे, इसकी अपेक्षा सनेही को लगे इसीमें औचित्य है। 'रीति' का 'नीति' (प्रयाग) पाठ ठीक नहीं। प्रीति की रीति घनआनंद के यहाँ ठीक है, नीति को तो वे ठीक नहीं समझते—प्रेम से नेम को उलटा मानते हैं। पहले 'र' को '/\' लिखते थे जैसा 'त्र' में अब भी है। हो सकता है कि उस 'र' को 'न' पढ़ लिया गया हो। 'पानि' का 'पानैं' (कवित्त)। 'पानैं' पाठ 'प्रमानैं' की समान-श्रुति के अनुकूल है। पानै—'पान्यैं' से बिगड़कर बनेगा, 'पाणि में ही' अर्थ होगा। ऐसे प्रयोग व्रजी में मिलते हैं। 'पानि' शब्द से स्पष्टता है, सरलता है।

मीत सजान अनीत करौ जिन, हाहा न हूजियै मोहि अमोही।
डीठि कौं और कहूं नहि ठौर फिरी दृग रावरे रूप की दोही।
एक बिसास की टेक गहे लगि आस रहे बसि प्रान-बटोही।
हौ घनआनँद जीवनमूल दई कित प्यासनि मारत मोही ॥ ६ ॥

प्रकरण—विरहिणी का प्रिय के प्रति उपालंभ। प्रिय के मोहित करने और फिर अमोही हो जाने, पहले छबि-छटा से तृप्त करने फिर दर्शन न देने, आशा देकर विश्वासघात करने और जीवनदायक होकर प्यासों मारने के प्रति उलाहना है।

चूर्णिका—मीत = मित्र। सुजान = सुज्ञान, अच्छे जानकार; श्रीकृष्ण का विशेषण, घनआनंद की प्रेमिका का नाम। अनीत = अनीति, अन्याय। जिन = मत, नहीं। हाहा = खेदव्यंजक अव्यय। मोहि = मोहित करके। अमोही = मोह से रहित, प्रेमशून्य व्यक्ति। दृग = मेरे नेत्रों में। रावरे = आपके। रूप = छवि, शोभा। दोही = दुहाई। एक = केवल। बिसास = विश्वासघात। टेक = सहारा, आसरा। लगि० = आशा से लगकर आशा लगाए हुए। रहे = बसे हुए हैं। बटोही = पथिक, यात्री। घनआनंद = आनंद के बादल; अत्यंत

आनंददायक (प्रिय); कवि की छाप। जीवनमूल = जल के भांडार; प्राण के तत्त्व। दई = हे दैव! प्यासनि = प्यासों (अनेक प्रकार की प्रेमजन्य लालसाओं)।

तिलक—हे मित्र सुजान, (आप मित्र और सुजान होकर जिसके लिए नीति से चलना न्याय करना ही जगत् की रीति है) मेरे साथ अनीति न करें। मोहित करके तो अमोही न हों। यह कितने खेद की बात है। आपने दर्शन देना भी परित्यक्त कर दिया। पर क्या आप नहीं जानते कि मेरे नेत्रों के लिए अन्यत्र और कोई स्थान नहीं है। ये नेत्र केवल आपको ही देखना चाहते हैं। इन नेत्रों में और किसी के लिए स्थान नहीं रह गया है, क्योंकि इनमें आपके सौंदर्य की दुहाई फिर गई है। मेरे इन नेत्रों में सर्वत्र आपका रूप ही छाया हुआ है। इन नेत्रों के लिए न और कहीं टिकने का स्थान रह गया और न इन नेत्रों में ही और किसी के टिकने का स्थान बच रहा। फिर भी आपने मेरे साथ विश्वासघात किया (आने की अवधि देकर भी नहीं आए, औरों से प्रेमसंबंध जोड़ लिया)। तो भी आपके इस विश्वासघात में विश्वास की ही संभावना करके केवल इसीके आसरे आशा लगाए हुए मेरे पथिक प्राण बसे हुए हैं। प्राणों ने तो अब पथिक का बाना धारण कर लिया है। शरीर से प्रस्थान करने के लिए डेराडंबर बाँध-छान लिया है, केवल आपके अविश्वास में भी विश्वास करके ये टिके रह गए हैं। आप जल के भांडार और आनन्द के बादल होकर क्यों मुझे प्यासों मार रहे हैं (आप मेरे प्राणों के तत्त्व, आनंददायक होकर प्राणों को क्यों संकट में डाले हुए हैं और क्यों लालसाजन्य वेदना का दुःख उन्हें दे रहे हैं।)

व्याख्या—मीत = मित्र ही एक तो पहले अनीति नहीं करता। हो सकता है कि कोई मित्र अनीति न करता हो पर अजान होने से उससे भूल में अनीति हो जाए पर जो सुजान मित्र हो उससे तो इस प्रकार की भी संभावना नही रह जाती। हाहा = इसमें एक तो प्रिय के कार्य के प्रति दुःख और अपना दैन्य दोनो व्यंजित होता है। केवल एक 'हा' से ही काम चल सकता था पर दो 'हा' का प्रयोग दो स्थितियों की ओर संकेत करता है। मित्र सुजान की अनीति और मोहित करके अमोही होना। मित्रता साहचर्य से भी हो जा सकती है। पर मोहित करनेवाले में आकृति का भी वैशिष्ट्य होता है।

प्रवाद है कि 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति—रूपवाले में गुण बसते हैं। पर आपमें रूप के होने पर भी गुणों का वास नहीं है। हूजियै = इस शब्द से यह व्यंजित होता है कि आप चाहें तो अमोही न हों, आपने चाहकर जानबूझकर अमोही होने की ठानी है। आप सहज अमोही नहीं हैं; अमोह आपमें अरोपित है। आ लगा है। मोहि० = मोहित करके अमोही होने से यह भी व्यंजित है कि जो दूसरे को मोहित करे उसके लिए न्याय यही है कि मोहित होनेवाले के प्रति मोह बनाए रखे। मोहित करने से यह स्पष्ट है कि उसने भी मोहने का प्रयत्न किया। कोई प्रयत्न न करे और दूसरा उसके रूपादि से आकृष्ट हो जाए तो इसमें उसका उत्तरदायित्व कम है, पर जो आकृष्ट करने का प्रयास करे उसका कुछ उत्तरदायित्व तो होता ही है। डीठि० = नेत्रों को अन्यत्र स्थान नहीं। इसके द्वारा एक तो यह व्यंजित हुआ कि इन नेत्रों की वृत्ति अन्यत्र किसी का रूप देखने को नहीं है, दूसरे यह भी व्यंजित हुआ कि आपका सौंदर्य इतना अधिक है कि उतना रूपवान् और कोई है ही नहीं। पहली व्यंजना में प्रेमिका की एकनिष्ठता और दूसरी में प्रिय के अद्वितीय सौंदर्य के महत्त्व की ओर संकेत है। फिरी = न नेत्रों के लिए कोई स्थान है न नेत्रों में ही स्थान है। नेत्रों में सर्वत्र आप ही बसे हुए हैं। जिसकी दुहाई फिर जाती है उसके अधिकार को तभी कोई हटा सकता है जब उससे बढ़कर बली हो। नेत्रों में केवल प्रिय के रूप के छाने से उसके एकांगी प्रेम की व्यंजना हुई और फिर प्रिय के अनुरूप सौंदर्य की। रूप के अभिनिवेश की ओर भी संकेत है। रूप ऐसा है जो नेत्रों में आकर छाया सो छाया। नेत्र और रूप एक हो गए हैं। बिसास = बिसास शब्द का अर्थ केवल विश्वास भी लिया जा सकता है, पर विश्वासघात (जो व्रजी का बहुप्रचलित अर्थ है) विशेष चमत्कार उत्पन्न करता है। विश्वास का आसरा-भरोसा तो सभी करते हैं, पर विश्वासघात का भरोसा बिरला ही करता है। प्रेमिका ने विश्वासघात का भी भरोसा कर रखा है, यह वैलक्षण्य है। 'एक' कहने में यह भी व्यंजित है कि और किसी प्रकार की आसरे-भरोसे की वस्तु नहीं है। गहें = पकड़े हुए कहने का तात्पर्य यह है कि उसे हारिल की भाँति पकड़ रखा है उसे छोड़ने का नाम नहीं। प्रान = प्राण तो बटोही हो गए हैं। बस रहे हैं तो तभी तक जब तक यह

आशावाद है। आशावाद की भारतीय परंपरा यहाँ भी स्पष्ट है। जीवनमूल = जीवन की जड़। जीवन की जड़ आप ही हैं। वृक्ष को जल की आवश्यकता होती है तो वह जड़ से ही पानी लेता है। जड़ में पानी न पड़े तो वह प्यास से सूख जाता है। जड़ भी आप ही हैं और जल भी आप ही हैं। आप ही जल दे भी सकते हैं और उस जल को जड़ द्वारा मेरे प्राणों में पहुँचा भी सकते हैं। प्यासनि = प्यास से मरनेवाले को अपरिचित भी पानी पिला देते हैं और आप परिचित होकर भी पानी नहीं पिला रहे हैं।

शैली—'विरोध' अनेकत्र हैं। सुजान मीत—अनीत; मोहि अमोही, बसि–बटोही; जीवनमूल—प्यास।

पहिलें घन-आनँद सींचि सुजान कहीं बतियाँ अति प्यार पगी।
अब लाय बियोग की लाय बलाय बढ़ाय, बिसास दगानि दगी।
अँखियाँ दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगैं, कौन घरी सु लगी।
मति दौरि थकी, न लहै ठिकठौर, अमोही के मोह-मिठासठगी ॥१०॥

प्रकरण—प्रिय की निर्दयता के कारण अपनी विवशता की स्थिति पर पश्चात्ताप। प्रिय के व्यवहार में विषमता का आख्यान उसके प्रेमपूर्ण सलाप के अनंतर विश्वासघात करने और वियोगाग्नि के भड़काने और वेदना बढ़ाने में है। आँखों की कुबान कि वे कहीं लगती नहीं। बुद्धि की विकृति कि वह विचार करने में भी अशक्त है। पश्चात्ताप के इस प्रकार दो आधार हैं—प्रिय का विलक्षण व्यवहार और अपनी विवशता की विलक्षणस्थिति।

चूर्णिका—पहिलें = संयोगावस्था में। घनआनँद = आनंद के बादल; घना आनंद; कवि की छाप। सुजा० = चतुर; प्रेयसी का नाम; श्रीकृष्ण का विशेषण। लाय = लगाकर। लाय = आग। बलाय = बला, विपत्ति, कष्ट। बिसास = विश्वासघात। दगा = धोखा, कपट, दागने की क्रिया। दगी = दागी, जलाई। कुबानि = कुटेव। न कहूँ = कहीं लगती नहीं, आखों को कुछ देखना सुहाता नहीं। घरी० = कैसी घड़ी लगी है, कैसा समय आ पड़ा है। दौरि = विचार करने की दौड़ में दौड़कर, विचार करते-करते। ठिक = ठौर-ठिकाना। न लहै० = ठौर-ठिकाना नहीं पातीं, किसी विषय पर टिक नहीं पातीं। मोह० = मोह के मिठास से। ठगी = ठगी हुई।

तिलक—प्रिय ने (जो पूर्ण आनंदरूप हैं उन्होंने) आनंद की वृष्टि करके

और उस वृष्टि के जल से चातुर्यपूर्वक सिक्त करके अत्यंत प्यार से पगी बातें कहीं (कीं)। संयोगावस्था में उन्होंने मुझे अपने आनंददायक रूप से और अपनी प्रेमपूर्ण वार्ता से परितृप्त किया। अब (वियोगावस्था में, विरह की आग लगाकर और उस आग के द्वारा कष्ट की वृद्धि करके फिर विश्वासघात के कपट से जलाया। प्रिय के विरह की वेदना अत्यंत कष्टदायिनी है, उसपर उनके विश्वासघाती व्यवहार से और भी कष्ट होता है। यह तो प्रिय की करतूत हुई। उधर दुखिया आँखों को कुटेव ऐसी पड़ी हुई है कि वे कहीं लगतीं ही नहीं, उन्हें किसी और को देखना सुहाता नहीं। यह कैसी घड़ी आ लगी है, यह कैसा बुरा समय आ पड़ा कि न तो प्रिय ही अनुकूल है और न अपनी आँखें ही अपने प्रति ऐसा व्यवहार कर रही हैं जिससे मुझे कष्ट न मिले या कष्ट का अनुभव कुछ कम हो। रही बुद्धि, सो वह बेचारी भी विचार-मार्ग पर दौड़ लगाते थक गई पर उसे कहीं टिकाव का स्थान न मिला, न मिला। अमोही प्रिय के मोह के मिठास से वह ऐसी ठगी है कि उस मिठास के व्याप्त होने से उसने अपनी सोचने-विचारने की वृत्ति ही त्याग दी है।

व्याख्या—सींचि = प्रिय ने चतुराई से सींचा था, सींचने में कोई कोर-कसर नहीं रखी थी। अति = प्यार से पगी ही नहीं, अति पगी बातें कीं अथवा प्यार से नहीं अतिप्यार से पगी बातें कीं। पगी वस्तु में मिठाई व्याप्त हो जाती है। अत्यंत पगने का तात्पर्य यह होगा कि वस्तु के प्रत्येक अंश में मिठाई पगी होगी। बात के प्रत्येक वर्ण प्यार से युक्त थे। अत्यंत प्यार अर्थ करें तो तात्पर्य यह होगा कि प्यार किसी के प्रति राग होने से होता है। अनुकूलता दिखाने से होता है, उन्होंने केवल अनुकूलता की ही अभिव्यक्ति नहीं की, यह भी संकेत किया कि तेरे प्रति मेरा प्रेम ऐसा है जो कभी दूर न होगा, निरंतर सर्वत्र एक-सा बना रहेगा। बियोग = विरह, वियोग में प्रिय के अभाव से उत्पन्न वेदना। जो पहले जल से सींचे वह पीछे आग लगा दे तो प्रिय के अभाव की वेदना तो थी ही, उसके द्वारा आग लगाए जाने के कारण इस अनुभूति से कष्ट बढ़ा कि इसने प्रतिकूल आचरण भी किया। बिसास = विश्वासघात के द्वारा दागने की क्रिया करके जलाया भी। यदि कोई आग लगा भर दे तो उस आग से बचने का उपाय सोचकर बचा भी जा सकता है, पर यदि वह लोहा तपाकर दागने लगे तो बचने का उपाय

ही नहीं रह जाता। **दुखियानि** = इस शब्द से यह व्यंजित है कि आँखें पहले से ही दुखी हैं, उनका भाग्य ही ऐसा है कि उन्हें कष्ट होता ही रहता है। प्रिय के दर्शन न होने से कष्ट तो है ही उसपर दूसरा कष्ट यह है कि उन्हें कुछ सुहाता नहीं। जिन आँखों में सहज कष्ट होता है यदि वे किसी हरे-भरे या रंजक दृश्य को देखें तो कष्ट कम हो सकता है और कम न भी हो तो जितने समय तक वे किसी रंजक दृश्य को देखती रहेंगी उतने समय तक उन्हें अपने कष्ट की विस्मृति तो अवश्य रहेगी, पर यहाँ वह भी नहीं। **घरी०** = घड़ी लगना, बुरा समय आना। यदि शेष सृष्टि में किसी का राग नहीं रहता तो वह आत्माराम में ही लीन हो जाता है, यहाँ पर स्थिति यह है कि आँखें न तो बाह्य दृश्यप्रसार में अभिनिविष्ट होती हैं और न अंतर्मुखी होकर मुँदकर ही अपने कष्ट को दूर कर पाती हैं। 'न कहूँ लगैं' में केवल अन्यत्र लगने की ही बात नहीं कही गई, आँखें लगती ही नहीं। आँखों में निद्रा का भी अभाव है। निद्रा आने से भी वेदना के कम होने की संभावना थी, पर उन्होंने तो लगना ही छोड़ दिया, न किसी पदार्थ से लगती हैं और न अपने आप लगती हैं। **मति** = बुद्धि। यदि किसी अंग में पीड़ा हो, कष्ट हो तो बुद्धि से सोच-विचार कर उस पीड़ा को दूर करने का उपाय निकाला जा सकता है या बुद्धि कहीं विचारमग्न हो हो जाय तो जब तक बुद्धि विचारमग्न रहेगी तब तक वेदना की अनुभूति से छुटकारा मिल जायगा। क्योंकि अंतःकरण के संनिकर्ष के बिना ज्ञानेंद्रियों की विषय के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती। बुद्धि स्वयम् ही अस्त-व्यस्त है, फिर वह आँखों की क्या सहायता करे। **मिठास** = ठग किसी को गुड़ या मिठाई खिला देते हैं जिससे वह उनके वश में हो जाता है। वे जैसा चाहते हैं उसे वैसा ही करना पड़ता है। उनके साथ दौड़ते-दौड़ते यदि वह थक भी जाय तो फिर थका और विकारग्रस्त किसी की सहायता करे भी तो क्या करे। न बाह्येंद्रियाँ ठिकाने हैं न अतःकरण।

व्याकरण—मिठास शब्द खड़ी बोली में पुंलिग हैं, पर प्यास आदि के साथ पूर्व में इसे स्त्रीलिंग में प्रयुक्त करने लगे हैं। व्रजी में मिठास पुंलिग ही है। 'के' का अन्वय 'मोह' से ही हो सकता है, पर सामासिक शब्द में उत्तर-पद से अन्वित होना ही अधिकतर प्रवाहप्राप्त है। इसलिए 'के' मिठास से अन्वित है और उसके पुंलिगत्व को सूचना देता है। अन्यत्र भी इस शब्द का कवि ने प्रयोग किया है और पुंलिग में ही।

शैली—लाय, लाय, बलाय में लाय का यमक स्पष्ट है। सीचि–दगी, अँखियाँ–न कहूँ लगैं, अमोही—मोह में विरोध है।

विशेष—प्यारपगी और मोह मिठास में भी अन्वय है। वही मिठाई यहाँ भी है।

पाठां०—बियोग०–बियोग बलाय की लाय (कांकरोली)।

क्यौं हँसि हेरि हर्यौ हियरा अरु क्यौं हित कै चित चाह बढ़ाई।
काहे कौं बोलि सुधासने बैननि, चैननि मैननि सैन चढ़ाई।
सो सुधि मो हिय में घनआनँद सालति क्यौं हूँ कढ़ै न कढ़ाई।
मीत सुजान अनीत की पाटी इतै पै न जानियै कौनै पढ़ाई ॥११॥

प्रकरण—उपालंभ, प्रेमिका की ओर से प्रिय को। प्रिय ने हँसकर देखा जिससे हृदय आकृष्ट हुआ। उसने प्रेम का संकेत दिया जिससे लालसा बढ़ी। उसने अमृतवाणी कही जिससे कामनाएँ जगीं। उनका स्मरण हृदय में निरंतर बना है, फिर भी उन्मुख नहीं होता। यही उपालंभ का हेतु है।

चूर्णिका—हेरि = देखकर। हित = प्रेम। चाह = लालसा। काहे कौं = किस लिए। सुधासने = अमृत से सने अर्थात् अति मीठे। चैननि = चैनों से, आदरपूर्वक। मैननि = कामनाएँ। सैन = सेना, समूह [अथवा मैन = (मदन) काम, कामना, निसैनि = सीढ़ी]। सालति = कसकती है, पीड़ा करती है। कढ़ै० = निकालने से नहीं निकलती। पाटी पढ़ाई = पाठ पढ़ाया। इतै पै = इतने पर। न जानियै = नहीं जानती। कौनै = किसने।

तिलक—हे मित्र सुजान प्रिय, आपसे पूछना यह है कि आपने हँसते हुए देखकर मेरे हृदय को हर लिया (चुराया)। यही क्यों, आपने हँसते हुए अपने सहज स्वभाव से नहीं देखा था, प्रत्युत आपने प्रेम करके मेरे मन में लालसा बढ़ा दी थी। केवल हँसते देखकर तो लालसा ही हुई थी, पर आपके द्वारा प्रेम का संकेत भी पाने से वह लालसा बढ़ी, बलवती हो गई, आपके पाने की संभावना अधिक जान पड़ी। केवल प्रेम का संकेत मिला होता तो यह कहा जा सकता था कि संकेत समझने में भूल हुई है। पर आपने अमृतमयी वाणी में बात क्यों की, आपने मुझसे मीठी बातें क्यों कीं। उन बातों का परिणाम यह हुआ कि मैंने आनन्दपूर्वक कामनाओं की सेना की चढ़ाई होने दी [अथवा मैं आनन्दपूर्वक, सुख से, कामना के सोपनों पर चढ़ती चली गई] अर्थात् अनेक प्रकार की कामनाएँ उत्पन्न हो गईं। पर अब स्थिति यह

है कि आपका विरह सहना पड़ रहा है और उन बीती बातों का स्मरण करना पड़ता है। जब वह सुध आती है तो हे आनन्द के बादल, मेरे हृदय में कसकती है और प्रयत्न करती हूँ कि वह वेदना दूर हो पर वह तो किसी प्रकार से भी निकालने से निकलती ही नहीं। मैं तो इस प्रकार आपके विरह में गल-पच रही हूँ और आप मुझसे पराङ्मुख ही हैं। समझ नहीं आता कि आपको यह अन्याय की पट्टी किसने पढ़ाई है (जगत् में तो ऐसे व्यक्ति देखे सुने नहीं गए, आपको ऐसा अन्याय पढ़ानेवाला कहाँ मिला)।

व्याख्या—हँसि हेरि = केवल देखने से हृदय यदि प्रिय की ओर उन्मुख हो जाता तो यह कहा जाता कि हृदय की बान ही आकृष्ट हो जाने की है। पर आपने हँसकर देखा, इससे स्पष्ट है कि आपने हँसी के द्वारा मुझे आकृष्ट करने का यत्न किया। आपने आकर्षण जान बूझकर बढ़ाया। हर्यो = हरण किया है, हरण हो जाय मैंने इसका प्रयास नहीं किया। प्रिय-पक्ष से प्रयास का स्पष्ट संकेत। हियरा = कोई वस्तु बाहर रखी हो, फेंक दी गई हो, खुली पड़ी हो तो भी वस्तु के स्वामी को यह दोष लगाया जा सकता है कि भाई तुमने अपनी वस्तु की देखभाल, सुरक्षा की ही नहीं, चोर चुरा ले गया, इसमें तुम्हारा ही दोष है। पर हियरा हर लिया, जो हीरा) शरीर के भीतर तिजोरी में बंद था, उसे भी चुरा लिया, चुराने की करामात है। चोर अपनी कला में विशेष निपुण है। हित = केवल हँसने से ही मेरा आकर्षण नहीं हुआ, आपने भलाई की। भलाई करके अपनी अनुकूलता का पूरा संकेत दिया—मेरे अनुकूल कार्य करके, मेरी उस समय की स्थिति में अनुकूल सहायता पहुँचाकर, अपनी भलाई द्वारा इस प्रकार प्रेम करके प्रेम का संकेत देकर। कोई किसी ओर देख रहा हो, मार्ग में चल रहा हो और उसके देखने की तल्लीनता के कारण चलनेवाले के पैर में काँटा चुभने की या उसके गड्ढे में गिर पड़ने की संभावना हो और अन्य कोई समय पर संकेत करके उसे इस आपदा से बचा दे तो उसने उसका हित किया। यह हित (भलाई करना) यह संकेत करता है कि उसकी अनुकूलता है वह आकृष्ट है। 'हँसि देखि' में तो स्पष्ट आकृष्ट होने की बात नहीं मानी जा सकती, पर हित करने पर तो आकृष्ट होने की संभावना की जा सकती है। आपके हित करने से मेरी उत्कंठा बढ़ गई। पहले उत्कंठा हुई थी, पर अब हित के संकेत से और बढ़

गई। बोलि=आपने मीठी-मीठी बातें कीं, यह प्रयत्न भी प्रिय-पक्ष ही से है। मीठी बातों में वैसे ही भुला दिया जैसे कोई मंत्रित मिठाई या गुड़ खिलाकर किसी को अपने वश में कर लेता है। वह वशंवद होकर पीछे-पीछे चलता है, जिन-जिन सीढ़ियों पर चढ़ाकर वह उसे ले जाना चाहता है ले जाता है। [अथवा कोई ठग पहले तो मिठाई खिलाकर उसमें दत्तचित्त कर देता है फिर उसपर बहुत से टूट पड़ते हैं।] सो=वह स्मृति मेरे हृदय में ऐसी प्रविष्ट है कि निकलती नहीं, 'नटसाल' हो रही है, वह काँटा धँसकर टूट गया है, वह पड़ा कसक रहा है। सभी प्रकार के उपाय अच्छे से अच्छे किए गए पर स्मृति का काँटा न निकला न निकला। रोग असाध्य है, यों ही जीवन बिताना है, इससे छुटकारा नहीं मिलने का।

विशेष—पहले चरण में लुटे हुए व्यक्ति की लालसा दीनता है। दूसरे में आक्रांत हुए व्यक्ति की स्थिति है। तीसरे में आहत व्यक्ति की वेदना है। कोई लुट जाए, उसपर चढ़ाई हो जाए और फिर चोट भी खा जाए, एक नहीं तीन-तीन आपदाएँ पड़ जाएँ और आपदा डालनेवाला, तरह-तरह की साजिशें करनेवाला एक ही व्यक्ति हो, ऐसा प्रायः नहीं होता। कम से कम सुजान तो ऐसा नहीं करते, मित्र ऐसा नहीं करते, अतः अनीति की यह पट्टी जगत् में विलक्षण है।

(कबित्त)

प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान कहौ
कैसे रहैं प्रान जौ अनखि अरसायहौ।
तुम तौ उदार दीन हीन आनि पर्‌यौ द्वार
सुनियै पुकार याहि कौ लौं तरसायहौ।
चातिक है रावरो अनोखो मोह आवरो
सुजान रूप-बावरो, बदन दरसायहौ।
बिरह नसाय, दया हिय मैं बसाय, आय
हाय ! कब आनँद को घन बरसायहौ ॥१२॥

प्रकरण—विरहिणी का प्रिय के पास संदेश। प्रिय को संमुखीन करने के लिए अपनी वेदना का निवेदन। प्रिय हित का खजाना है। प्रिय यदि नहीं आता तो प्राणों का बचना संभव नहीं। बिना कोश के प्राणों के पोषण की व्यवस्था कठिन है। स्वयम् वित्तहीन होने से उसी कोश का सहारा है।

दूसरों का द्वार छोड़कर प्रिय के द्वार पर ही डेरा दे रखा है और उनके रूप के दर्शन के लिए व्याकुल है। प्रार्थना है कि कृपा कर दर्शन दें और आनंद की वृष्टि से कृतार्थ करें।

चूर्णिका—**प्रीतम** = प्रियतम, अति प्रिय। **हित** = भलापन, प्रेम। **निधान** = खजाना, कोश, आधार। **अनखि** = रूठकर। **अरसायहौ** = (मिलन में) आलस्य करेंगे। **आनि** = आकर। **याहि** = इन प्राणों की, पपीहों को। **कौ लौं** = कब तक। **रावरो** = आपका। **मोह-आवरो** = मोह में व्याकुल। **रूप-बावरो** = रूप पर पागल, मुग्ध। **बदन** = मुख। **दरसायहौ** = दिखाओगे। **नसाय** = नाश करके, दूर करके। **दया बसाय** = (हृदय) में दया बसाकर, दया करके।

तिलक—हे प्रियतम सुजान, आप हो मेरे हित के कोश हैं। फिर कहिए यदि आप ही रूठकर आने में आलस्य करें तो मेरे ये प्राण कैसे जीते रह सकते हैं (इन प्राणों के पोषण के लिए जिस कोश की आवश्यकता है वह तो आपके पास है, इनके पास तो कुछ है ही नहीं)। ये दीन हीन आप ही के द्वार पर आकर पड़े हैं, आप उदार भी हैं (मेरे कोश के अतिरिक्त अपने पास से भी दीनता हीनता का विचार करके कुछ देने की शक्ति रखते हैं) (यदि यह कहें कि मुझे पता नहीं तो भी ठीक नहीं) ये पुकार कर रहे हैं, आप उस पुकार को सुनें, यह निवेदन है। इस प्राण पपीहे को कब तक तरसाते रहेंगे। यह आप ही का चातक है (किसी दूसरे के द्वार पर पुकार करने यह न जाएगा)। यह विलक्षण बाने का है और आपके ही मोह में व्याकुल है। यह आपके रूप पर पागल है। (केवल आपके मुख की छटा ही मिल जाय तो इसे संतोष होगा) आप कब दर्शन देंगे। वह समय ही कब आएगा जब आप हृदय से दया करके आकर इसके विरह (ताप) का नाश करते हुए आनंद के घन की वृष्टि करेंगे (इसे आनंदित करेंगे, केवल दर्शन ही न देंगे, इसकी पिपासाशांति के लिए रस की वृष्टि भी करेंगे।)

व्याख्या—**प्रीतम** = आप प्रियतम हैं, सबसे अधिक प्रिय हैं। आपके अतिरिक्त और नहीं जो इसके प्रेम की परितृप्ति कर सके। **सुजान** = सुजान भी हैं, अजान नहीं हैं। आपको अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं है। **निधान** = आप हित के कोश हैं। सारा हित आप ही में संनिहित है। जिसका

माल-मता किसी महाजन के यहाँ जमा हो, पास में झंझी कौड़ी न हो, वह यदि उससे रूठ जाए, उसे कोश-द्रव्य देने में आलस्य करे तो फिर वह कैसे जी सकता है, उसके पास तो ग्रासाच्छादन के लिए कुछ है नहीं। दीनहीन = दीन वह जो अल्पवित्त है, हीन जिसके पास कुछ रह नहीं गया। प्रेमी यों भी साधारण स्थिति का है और संप्रति उसके पास उसका कुछ रह भी नहीं गया, जो था वह प्रिय के पास है। द्वार = अब प्रिय के द्वार पर ही वह आ डटा है। प्रिय के अतिरिक्त आश्रय के सभी द्वार उसके लिए बंद हैं। प्रिय को उसे देने के लिए कहीं दूर नहीं जाना है, अधिक कष्ट नहीं करना है। केवल द्वार तक आना है। सुनियै = प्रिय अन्यों की बातों को तो कान कर रहा है, पर उसकी पुकार (जो जोर से हो रही है) नहीं सुन रहा है। जान-बूझकर नहीं सुन रहा है, यह कल्पित किया जा सकता है। कौ लौं = कबतक कहकर यह भी व्यंजित किया गया कि बहुत दिनों से पुकार कर रहा है। कुछ आज ही उसने द्वार पर आकर पुकार नहीं की है। रावरो = आप ही का है, कोई दूसरा इसका प्रिय नहीं है। अनोखो = यह विलक्षण है, ऐसा मोह करनेवाला दूसरा न होगा, यह केवल दर्शन चाहता है, उस दर्शन पर अपनी सारी वेदनाएँ निछावर करने को प्रस्तुत है। रूप = सौंदर्य के अतिरिक्त 'रूप' शब्द रुपये की व्यंजना करता है। यह रुपये पैसे पर, किसी अन्य रूप पर मुग्ध नहीं, केवल सुजान के रूप पर मुग्ध है। उस रूप के दर्शन से ही तृप्त हो जायगा, उसे व्यय करने का प्रश्न ही नहीं। बिरह नसाय = इसका अन्वय पहली पंक्ति से है, आप यदि आलस्य त्याग कर उठकर उसे देख भर लें तो उसकी तृप्ति हो जाय। दया = हृदय में दया बसाने का अन्वय दूसरी पंक्ति से है। आप उदार हैं, पर दया आपमें देर तक टिकती नहीं। इस दीन के लिए दया को हृदय में बसाने की आवश्यकता है। आय = इसका अन्वय तीसरी पंक्ति से है। आकर बाहर निकलकर, दर्शन दें। प्रत्यक्ष दर्शन दें।

विशेष—इस कबित्त से पारमार्थिक अर्थ का भी संकेत मिलता है, परम भी यह उक्ति लगती है। इसमें रहस्यात्मक संकेत भी कल्पित हो सकता है। 'सुजान' और 'आनँद को घन' शब्द पूर्ववत् श्लिष्ट हैं। सुजान शब्द कृष्ण के लिए सगुण कृष्णभक्ति में बहु प्रचलित है।

ठनक अंत्यानुप्रास से इस छंद में भी सुन पड़ती है।

पाठांतर—'अनोखो' के बदले 'अनोखे'। ऐसी स्थिति में अनोखे मोह का विशेषण हो जायगा। मोह का विशेषण होने से इस मोह की विलक्षणता यही है कि प्रेम का संकेत न मिलने पर भी उपेक्षित होने पर भी प्रेम करने की प्रवृत्ति बनी रहती है।

(सवैया)

तब तौ छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महा दुख दोष भरे।
घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख-साज-समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे॥१३॥

प्रकरण—विरही संयोग और वियोग का अंतर स्पष्ट कर रहा है। दोनो स्थितियों की तुलना कर रहा है। पहले (संयोगावस्था में) छबि का (अमृत) पान करके नेत्र जीते थे अब वियोगावस्था में वे ही (विष-ज्वाल से) जल रहे हैं। प्राण पहले प्रेम के पोषण से पुष्ट हो रहे थे, अब दुख में गल रहे हैं। सब प्रकार के सुख वियोग में तिरोहित हो गए हैं। संयोग में नैकट्य इतना था कि आलिंगन में हार पहाड़ की भाँति बाधक होते थे, उनका व्यवधान हटाकर आलिंगन होता था, पर अब हार के व्यवधान की चर्चा ही व्यर्थ है, पहाड़ों का अंतर है। प्रवास-बिरह का वर्णन है।

चूर्णिका—तब = संयोगावस्था में। छबि पीवत = शोभा (के अमृत) का पान करते हुए, सौंदर्य निरखते हुए। जीवत = जीते। हे = थे। अब = वियोगवस्था में। हित = प्रेम। पोष = पोषण। तोष = तुष्टि। सु = भली भाँति (अथवा सो = वह, या सु = सुंदर, पोष की प्राप्ति करने के कारण, प्राण का विशेषण)। बिललात = व्याकुल हो रहे हैं। दोष = क्लेश। साज = विधि-विधान, साज-सज्जा। समाज = समूह। टरे = हट गए, दूर हो गए। हार = माला (मोतियों की)। हे = थे। बीच = प्रिय और मुझ विरही के मध्य।

तिलक—विरही स्वयम् अपनी विषम परिस्थिति का पर्यालोचन कर रहा है। वह संयोगावस्था से अपनी सांप्रतिक वियोगावस्था की तुलना करके यह अंतर पा रहा है कि तब तो मेरे नेत्र प्रिय की सौंदर्य-सुधा का पान करके जी रहे थे, पर अब उनके विरह में अनेकविध चिंताओं से ग्रस्त होकर वे जले जा रहे हैं। यह तो नेत्रों की, शरीर के बाहरी अवयव की स्थिति में विषम अंतर

हुआ। शरीर के भीतर प्राणों की स्थिति यह थी कि वे प्रेम का पोषण आकंठ पाकर और उससे छककर (अघाकर) भली भाँति पल रहे थे केवल उनका नेत्रों की भाँति जीना भर नहीं ही रहा था। वे बिकसित हो रहे थे, पल-पुष रहे थे। पर वे ही प्राण इस पोष के अभाव में अत्यंत दुख और दोष से भर गए हैं और कोई पूछनेवाला नहीं है इसलिए बिलला रहे हैं। दुख का दूर होना तो दूर है कोई सांत्वना देने के लिए भी नहीं है साथियों या सहानुभूति व्यक्त करनेवालों का अभाव ऐसा हो गया है कि उन आनन्द के घन सुजान मित्र के वियोग के साथ ही एक एक करके सुख के न साज रह गए और न समाज। सभी धीरे-धीरे टल गए। देखो अनदेखो करके चले गए। यदि किसी के माध्यम से प्रिय के निकट संदेश ही भेजना हो तो न तो संदेश ले जानेवाला कोई रह गया है और न प्रिय इतना पास है कि जोर से पुकारकर ही उसे अपनी वेदना सुनाई जा सके। जिस प्रिय का नैकट्य इतना अधिक था कि उसके और मेरे बीच 'हार' का व्यवधान भी पहाड़ की भाँति अत्यधिक जान पड़ता था, वही प्रिय इतनी दूर पर है कि उसके और मेरे बीच एक नहीं अनेक पहाड़ आ गए हैं। अंतरं महदंतरम्।

व्याख्या—पीवत = पीते थे से स्पष्ट है कि छबि पेय पदार्थ के रूप में कल्पित है। वह छबि-सुधा है, छबि-दुग्ध है। छोटे बच्चे केवल दूध पीकर जीते हैं। जो रोगी होता है वह और कुछ न पाए पर पानी उसे देते ही हैं, पानी से वह जीता रहता है। जो उपवास करते हैं अधिक दिनों का उपवास करते हैं, वे निर्जल अधिक दिनों नहीं रह सकते पानी पाकर वे बहुत दिनों तक बिना और कुछ पाए जी सकते हैं। जीते हैं। यदि और कुछ न होता सौंदर्य की सरसता से भी नेत्र आप्यायित होते रहते तो जीते रहते। सोचन = चिताएँ, चिता की कल्पना प्रायः ज्वाला के रूप में की गई है—चिता ज्वाल सरीर बन दाहा लगि लगि जाइ—गिरधर कविराय। उन्हीं नेत्रों को जो छबि की सुधा से जी रहे थे अब एक नहीं अनेक चिताएँ ज्वालामालकरालिनी होकर उन्हें जला रही हैं। सरसता का इतना अभाव है कि इस ज्वाला को किसी प्रकार शांत नहीं किया जा सकता। आग पानी से दब भी सकती है, पर पानी कहीं मिले तब न! इसलिए नेत्र जल रहे हैं। लोचन = लोचन शब्द का अर्थ ही है देखनेवाले, विचारनेवाले, चिंतन करनेवाले। इसीलिए

सोचने के साथ लोचन शब्द का प्रयोग प्रसंग में माधुर्य उत्पन्न करता है। जात जरे = अब जलकर समाप्त ही होने-होने हैं। 'छबि पीवत जीवत' नैश्चित्य है धीरे-धीरे पी रहे थे, कोई खटका नहीं था, जीने की क्रिया धीरे-धीरे हो रही थी पर जलने की क्रिया तीव्र है। जीवन अधिक समय लेकर प्राप्त हुआ, पर जलने में उतना समय अपेक्षित नहीं। हित = हित वह होता है जो अनुकूल हो, हृद्य हो। हितकारी पोषण, प्राणों के लिए प्रेम हितकारी पोषण है, पोषण भी ऐसा जो तोष की सीमा तक जानेवाला, परिपूर्ण पोषण। पले = पुष्ट हुए। प्राण हित-पोष के तोष से परिपुष्ट हुए। प्रिय को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा वे आप से आप पल रहे थे, पाले नहीं जा रहे थे। बिललात = बिललाते हैं अर्थात् कोई उन्हें पूछनेवाला नहीं है। महादुख का हेतु यही है कि कहाँ तो सुख अनायास मिलता था और कहाँ प्रयास करने पर, चाहने पर भी दुख दूर नहीं होता। केवल दोष (बाह्य कष्ट) ही नहीं दुख भी है। जैसे पोष (बाह्य सुख) और तोष (आभ्यंतर सुख) संयोग में था वैसे दुख और दोष वियोग में भी है। 'महा' का अन्वय बिललात से भी हो सकता है, जैसे 'सु' का अन्वय 'पले' से है वैसे ही। विशेषण के बदले क्रियाविशेषण भी हो सकता है। सुख = आनन्दघन के वियोग में सुख, मीत के साहचर्याभाव में साज और सुजान के पार्थक्य से समाज दूर हो गया। आनन्द देनेवाला नहीं तो सुख कहाँ, मित्र नहीं तो साज-सामान कैसे हो और सुजान नहीं तो समाज से संयोजन संभव नहीं। सुखप्राप्ति की संभावना तीन प्रकार से हो सकती है। सुख देनेवाला स्वयम् सुख देता है, उसमें सुखदायकता स्वरूपनिष्ठ रहती है। दूसरा सुखदायक वह होता है जो साहचर्य आदि के कारण किसी के प्रति प्रेम हो जाने से उसे सुख देता है, उसकी सुखदायकता साहचर्य-सापेक्ष होती है। तीसरे वे होते हैं जो सामाजिक प्राणी होते हैं किसी को सुख देने के लिए बिना किसी पूर्ण परिचय के तत्पर रहते हैं। पहले की सुखदायकता स्वनिष्ठ दूसरे की संबन्धनिष्ठ और तीसरे की समाज-निष्ठ या परमार्थ-निष्ठ होती है। यहाँ तीन शब्दों में सुखदायकता के ये तीन स्वरूप सामने किए गए हैं। इसी से सब ही अर्थात् 'सभी प्रकार के' विशेषण लगाया गया है। पहार से = पहाड़ से लगने में अंतराधिक्य, भारगौरव और कठोरता तीनों की ओर ध्यान रखा गया है। एक हार अनेक पहाड़ों सा प्रतीत होता

है, अतिशयता की अभिव्यक्ति की गई। अनेक पहाड़ ही बीच में आ जाने से दूरी की अतिशयता और अधिक व्यंजित हो गई। भार-गुरुता और कठिनाई का क्या कहना। आनिके = स्वयम् आए हैं, न कभी सोचा गया, न कभी ऐसा कार्य किया गया कि यह संभावना होती।

शैली—'हार पहार' में यमक है, पर यह यमक पृथक्प्रयत्नकृत नहीं है। बाहर से बैठाया नहीं गया है। 'पहार से' में 'से' उपमावाचक न होकर उत्पेक्षावाचक है। विषम अलंकार, कहाँ वह स्थिति कहाँ यह स्थिति 'अन्तर महदंतरम्'।

पाठांतर—हित-हिय (राम)। सु-जु (प्रयाग, कांक)। ज्यौं-यौं (राम)। महा-सु यो (प्रयाग, कांक)। मीत-प्यारे (वही)।

हित के स्थान पर हिय में इतना ही अन्तर है कि हित (प्रेम) स्वयम् पोषक पदार्थ है और हिय पोष्य है, हृदय पोष्य है और उनके पोष और तोष से प्राण पलते हैं। 'जु सु' से प्राण के साथ अन्वय स्पष्ट हो जाता है। 'ज्यों-यौं' से सुख-दुख की विषमता का संकेत (कुछ स्पष्ट) मिलता है। 'मीत' के बदले 'प्यारे' में नैकट्य की प्रतीति और अधिक है।

विशेष—सुजान से मिलन का संकेत इसमें स्पष्ट है। 'पहार पड़े' वस्तुगत भी है और लाक्षणिक प्रयोग भी। अपराध, पाप आदि के लिए पहाड़ का लाक्षणिक प्रयोग कवि-परम्परा है—

गजमुख सनमुख होतहीं बिघन बिमुख ह्वै जात।
ज्यों पग परत पयाग-मग पाप-पहार बिलात॥
—(केशव-कविप्रिया)।

पहिलें अपनाय सुजान सनेह सों, क्यौं फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मझार दई गहि बाँह न बोरियै जू।
घनआनंद आपने चातिक कों गुन बाँधि लै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय कै ज्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यौं बिस घोरियै जू।१४।

प्रकरण—विरही संयोग और बियोग की विषमता के आधार प्रिय के द्वारा किए जानेवाले व्यवहार की कुत्सा कर रहा है। इसके लिए उसने चार विषमताएँ सामने रखी हैं—

(१) प्रेमपूर्वक अपनाना और रोष करके संबन्धविच्छेद करना।

(२) जो निराधार मझधार में डूब रहा हो उसे सहारा देकर बचाना, पानी से बाहर करना, हाथ पकड़कर जीवनदान देना फिर बाँह पकड़कर डुबोना।

(३) तीसरा उदाहरण है गुण से बँधे चातक का मोह छोड़ देना। जो पक्षी गुण (फंदे) में फँसाया गया हो (खाने पकाने के लिए न फँसाया गया हो) उसके प्रति मोह-ममत्व रहता ही है, प्रत्युत जो खाने-पकाने के लिए भी फंदे में फँसाए जाते हैं उनके प्रति भी मोह-ममत्व दिखाया जाता है, यहाँ वह भी नहीं।

(४) चौथा उदाहरण यह कि जो मर रहा हो उसे जिलाकर फिर विष देना ठीक नहीं। नीति तो यहाँ तक कहती है—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' = विष का वृक्ष भी पाल-पोसकर स्वयम् उसे छिन्न-भिन्न करना अनुचित होता है। अतः जितने व्यवहार हैं सभी अनुचित हैं।

चूर्णिका—पहिलें = संयोगावस्था अथवा पूर्वराग के अनंतर। अपनाय = जिसे कोई अपना करके मानने को प्रस्तुत न हो उसे अपनाकर। सनेह सों = प्रेमपूर्वक दिखावटी अपनाना नहीं, वास्तविक सौहार्द से अपनाना। तेह = रोष (सनेह में चिकनाहट, रोष में रूखापन)। तोरियै = प्रेम संबंध तोड़ते हैं। निरधार = निराधार, जिसका सहारा कुछ भी न हो। गहि बाँह = बरबस, बलपूर्वक डुबोना। आपने = जो आपका ही हो, किसी दूसरे से जिसका कोई संबंध या संपर्क न हो। गुन = (गुण) विशेषता; डोर, फंदा। बाँधि लै = बाँध लेकर। मोह न छोरिए = प्यार ममत्व का त्याग मत कीजिए। रस = आनंद; (अमृतवत्) मीठा पेय। प्याय = पिलाकर। ज्याय = जिलाकर। बिसास = विश्वास। यौं = इस प्रकार जैसे आप कर रहे हैं। बिसास में = कहीं विश्वास में आपकी भाँति विष घोला जाता है। बिष० = अग्राह्य बना देना।

तिलक—हे सुजान (जानकार, ज्ञानी) प्रिय, मुझे पहले आपने प्रेमपूर्वक अपनाया, क्या कारण है कि अब आप मुझसे रोष करके प्रेमसूत्र तोड़े डाल रहे हैं (जिसे प्रेमपूर्वक अपनाया जाय उसे रोष करके पृथक् कर दिया जाय, अपराध कुछ भी न हो तो यह लोकरीति के विपरीत है)। धारा के बीच निराधार जो डूब रहा हो उसे आधार देकर उसको किसी प्रकार के सहारे से निकाल लेना फिर उसे बाँह पकड़कर बलपूर्वक डुबोना कारुणिकता के विपरीत है। जिस चातक को गुण से बाँधा गया हो (जिसे मनोरंजन के लिए फंदे में फँसाया गया हो) उसका मोह नहीं छोड़ना चाहिए (यह जन-प्रकृति के विपरीत है)। रस पिलाकर मरते को जिलाना (उस मरते के हृदय में जिलानेवाले के प्रति अनुकूलता का विश्वास हो जाना) जिससे उसकी जीने की आशा

बलवती हो गई हो उसके इस विश्वास में विष मिला देना, इस विश्वास को नष्ट कर देना प्राणी के स्वभाव के विरुद्ध है। आपके सारे आचरण जगत् के व्यवहार, मन के व्यापार और मनुष्य या प्राणी के स्वभाव के विपरीत हैं।

व्याख्या—स्नेह = स्नेह से जिस वस्तु का संबंध हो, जिसमें स्नेह हो वह शीघ्र टूटती नहीं, भार पाकर लचक जाती है, जैसे वह लकड़ी जिसमें स्नेह (तैलांश) रहता है शीघ्र नहीं टूटती, अधिक दिन टिकती भी है। स्नेह में आर्द्रता या सरसता होती है, शीतलता होती है। रोष में अग्नितत्त्व प्रधान होने से उष्णता होती है, वस्तु शीघ्र जलती या टूटती है उसमें शुष्कता या रूखापन होता है, कोई वस्तु उससे मिल नहीं पाती। तुलसीदास भी कहते हैं—बैठिकै जोरत तोरत ठाढ़े। बैठिकै अर्थात् धीरे-धीरे बहुत दिनों में, ठाढ़े अर्थात् खड़े-खड़े तुरन्त क्षणमात्र में। समाज के प्रवाह से यह व्यवहार विपरीत है। निरधार = जो प्रवाह में निराधार हो अर्थात् न तैरना जानता हो, न तुंबी, काष्ठ आदि का सहारा प्राप्त हो—तिनके का भी सहारा नहीं। ऐसा तट पर ही डूब सकता है, पर धारा के मध्य तो उसके डूबने में संदेह नहीं है। ऐसे को आधार (पूरा सहारा) देना उसके लिए बहुत अधिक करना है। धारा से हाथ पकड़कर निकालना, नाव पर बिठाना, किनारे लगाना, अपने साथ रखना और फिर बाँह पकड़कर बरबस डुबोना यह मन के विपरीत है। मन ऐसा नहीं कर सकता। ऐसा करनेवाले में मन नहीं हृदय नहीं, यह हृदयहीनता का प्रमाण है। पहला बुद्धिहीनता का प्रमाण है। आपने चातिक = जो चातक केवल बादल (प्रिय) के ही गुणगान करता हो। उसे गुण (डोर) में बाँधकर भुला देना। बुलबुल को लत्ती (कपड़े की बनी दृढ़ डोर) से बाँधकर हाथ में बिठाए रहते हैं, कंधे पर बिठाते हैं। आदि-आदि। भुलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य ऐसा नहीं करता। आपमें मानवता नहीं है। रस पिलाकर जिलाना। किसी मरते को पानी का छींटा देकर जिलाना दूसरी बात है और रस (रसीला मीठा पेय) पिलाकर जिलाना दूसरी बात। यह स्थिति ऐसी है जिससे मरणासन्न पिलानेवाले पर घोर विश्वास करता है। फिर उसका विश्वास ही खो देने की नौबत आए तो वह आश्चर्य में पड़ता है। यह प्रश्नवाचक वाक्य है। इसमें प्राणी के स्वभाव की ओर संकेत है। चेतन धर्म का सुझाव है अर्थात् प्रिय में चेतनधर्म नहीं, जड़ता है।

विशेष—'बिसास' शब्द में 'बिस' और 'आस' अंश लक्षित होते हैं। 'आस' बढ़ाकर फिर उसमें 'बिस' घोलने से 'विश्वास' केवल विषमय हो गया। कोई विश्वासघात कर रहा हो, पर उसके विश्वासघात की आशंका न हो, तो भी बात बनी रहती है, आशा रहती है। पर विश्वास प्रत्यक्ष विश्वासघात में परिणत हो जाए उसे विश्वासघाती माना जाने लगे तो सारी आशा नैराश्य (विष) में परिणत हो जायगी।

अलंकार—विरोधाभास। सनेह–नेह, निरधार, अधार–धार (शाब्दिक), धार में आधार–गहि बाँह बोरियै, बाँधि–छोरियै, ज्याय–बिष घोरियै।

रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी, अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।
एक ही जीव हुतौ सु तौ वार्‍यौ, सुजान, सँकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न, दहै घनआनँद बावरी रीझि के हाथन हारियै।१५।

प्रकरण—प्रिय के रूप की विशेषता और प्रेमी के नेत्रों की प्रकृति, स्वयम् प्रेमी की वृत्ति की वर्णना की गई है। रूप की विशेषता यह है कि ज्यों-ज्यों उसे देखा जाता है वह नया नया दिखता है। नेत्रों की प्रवृत्ति यह है कि उन्हें अन्यत्र तृप्ति नहीं, इसी रूप को देखते रहना चाहते हैं। प्रेमी की वृत्ति यह है कि उस रूप पर वह रीझ गया है, रीझ ऐसी जिसने और तो और प्राणों तक को निछावर कर दिया। शरीर की चिंता कौन करे। सिवा प्रिय के तन मन की चिंता करनेवाला कोई नहीं। प्रेमी सर्वात्मना प्रिय के भरोसे है। वही चाहे स्याह करे चाहे सफेद।

चूर्णिका—रूप = सौंदर्य; चाँदी। अनूप = अनुपम; पानी से रहित (अन् + ऊप = जल)। नयो० = सौंदर्य या रमणीयता का लक्षण यह है—क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। बानि = टेव, सहज वृत्ति। अनोखी = (नवक) विलक्षण। अघानि = तृप्ति। कहूँ नहि = कहीं नहीं, कभी नहीं, किसी प्रकार नहीं। आनि = शपथ। हुतौ = था। सु = सो, वह। वार्‍यौ = निछावर कर दिया। सोच = चिंता। सहारियै = सहारा दीजिए, अपने ऊपर लीजिए, सँभालिए। रोकी रहै न = मेरे रोके नहीं रुकती। दहै = जलाती है। बावरी = पगली, बेठिकाने की, विलक्षण। हाथन० = (रीझ के) हाथों हार माननी पड़ती है, विवश हो जाना पड़ता है।

तिलक—आपके सौंदर्य की अद्वितीय रीति है। उसे ज्यों-ज्यों देखा जाता है वह नया नया दिखता है (यदि उसमें प्रत्येक बार नूतन रूपराशि न हो तो कुतूहल कम हो जाय)। नेत्रों में विलक्षण टेव है (केवल कुतूहल होता तो उसकी शांति अन्यत्र से हो जाती)। इन्हें अन्यत्र कहीं (कभी, किसी प्रकार) तृप्ति नहीं मिलती, आपकी शपथ खाकर कहती हूँ। (यहाँ इतनी अधिक तृप्ति मिलती है कि) अपनत्व को बनाए रखनेवाला जो एक जी था उसे भी रूप पर निछावर कर दिया। (जब जी ही अपने वश में नहीं तो किसी का संकोच और अपनी चिंता भी कौन करे)। इसलिए आप सुजान हैं, आपसे निवेदन है कि मेरे संकोच और सोच का सँभालना आपके ऊपर है। मेरी विवशता तो यह है कि हे घनआनंद, यह पगली रीझ मुझे जलाए डाल रही, जलाती ही रहती है, इसके हाथों हार खानी पड़ी (यदि ऐसी रीझ न होती तो ऐसी परेशानी न होती)।

व्याख्या—रूप = सौंदर्य और चाँदी दोनो को कहते हूँ। सौंदर्य का पर्याप्त आब या पानी है। पर इस रूप की रीति यह है कि यह 'अनूप' पानीरहित है (अन् + ऊप = जल)। नयो नयो = केवल नवीनता नहीं, उत्तरोत्तर उत्कर्ष भी व्यंजित है। निहारिये = देखने की क्रिया के बोधक अनेक शब्द हैं, उनमें अर्थगत अंतर है। निहारना बहुत ध्यान से देखने को कहते हैं, ध्यान से देखने का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म कणों का अवलोकन किया गया, सर्वत्र नवीनता, उत्कृष्ट नवीनता मिली। बानि = सौंदर्य की रीति (नूतन उन्मेष) सहज है। नेत्रों की वृत्ति सहज है। अनोखी = सौंदर्य नया है तो आँखों की वृत्ति भी नवीन है ('अनोखा' शब्द 'नवक' से बना है, 'नव' में स्वार्थे 'क' लगकर। 'नवक' से नोक, नोख हुआ। फिर पुंबोधक 'आ' लगा।—नोखे की नाइन बाँस की नहरनी। इसमें 'अ' का आगम होकर अनोखा बना)। जैसी रूप की स्थिति वैसी ही आँखों की स्थिति। अघानि = तृप्ति जल आदि के पीने से होती है। यह रूप 'अनूप' है (जलरहित है) पर तृप्ति इसी से होती है, अन्यत्र नहीं। यह भी नेत्रों का अनोखापन है। एक = दो स्थितियाँ इस एक शब्द से व्यंजित हैं। तन-धन तो सब निछावर हो ही चुके थे केवल मन (जीव) बचा था, वह भी

निछावर हो गया। एक का दूसरा अर्थ अद्वितीय या अनुपम (अनूप) भी होता है। आपके रूप की रीति अनूप तो उस पर अनूप जोव भी निछावर। सुजान = जब जीव भी निछावर हो गया तो अध्यास कहाँ रहा, ज्ञानवृत्ति रही ही नहीं, अज्ञान की स्थिति। कोई सुजान ही अब स्थिति सँभाल सकता है। संकोच = संकोच लोक का, सोच अपना। लौकिक लज्जा का बचाव और अपनी चिंता का निवारण। लज्जा का वारण और चिंता का निवारण। घनआनँद = जो आनंद का बादल है उसपर हुई रीझ जलाती है, किसी प्रकार रोकने से नहीं रुकती। हाथन = हाथों से ही वह पस्त कर देती है अन्य किसी अस्त्र शस्त्र की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। रीझ की शक्ति और प्रेम की आसक्ति का संकेत (सुजान को यह बावरो रीझ कैसो विलक्षण है, पगली भी रोने से कभी मान जाती पर यह मानने का नाम नहीं लेती। जलाती है फिर भी घनआनंद-दायिनी है।)

व्याकरण—'रावरे' आदरार्थ है, पर 'तिहारियै', 'तू' या 'तैं' से संबन्ध। 'तिहारी' शब्द एकवचन है, बहुवचन में और आदरार्थ भी प्रयुक्त होता रहा है। ज्यौं ज्यौं के जोड़ तोड़ में त्यौं त्यौं नहीं है क्योंकि आँखों में बान एकरस है वह बदलती नहीं। हुतौ = सु तौ के अनुप्रास में है अन्यथा हुत्यो भी होता है।

विशेष—अघानि = इसके दो खंड हो सकते हैं अघ + आनि। आन आपकी तो अघ (पाप) मेरा।

अलंकार—विरोधाभास (अनेकत्र)।

प्रयोग—आँखों की बानि—अघानि, रीझ के साथ—नराकृति-कल्पना।

(कबित्त)

आस ही अकास मधि अवधि गुनै बढ़ाय
चोपनि चढ़ाय दीनो कीनौ खेल सो यहै।
निपट कठोर ये हो ऐंचत न आप ओर
लाड़िले सुजान सों दुहेली दसा को कहै।
अचिरजमई मोहिं भई घनआनंद यौं
हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहै।
बिरह समीर की झकोरनि अधीर, नेह-
नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड्यो रहै ॥ १६ ॥

प्रकरण—जी उड़ा उड़ा रहता है इसी को तुलनात्मक विधि से यहाँ दिखाया गया है। गुड्डी से जी के उड़ने में व्यतिरेक दिखाया गया है। गुड्डी आकाश में सामन्यतया उड़ानेवाले से बहुत दूर नहीं रहती, पर कभी-कभी वह डोर अधिक ढील देने से दूर भी हो जाती है। जी की विशेष स्थिति यह है कि वह बहुत दूर उड़ गया है। दूर चली जानेवाली गुड्डी डगमगाती बहुत है। ऐसी स्थिति में उसे सँभालकर उड़ानेवाला निकट कर लेता है, पर जी को खींचनेवाले का अभाव है। प्रिय के हाथ का परंपरया संबंध होते भी उसका नैकट्य नहीं प्राप्त होता। यदि गुड्डी दूर पहुँच गई हो और अंधड़ आ जाए तो डोर के टूट जाने और गुड्डी के फट जाने की आशंका हो जाती है; डोर टूट जाती है, गुड्डी फट ही जाती है। पर जी ऐसी स्थिति में भी उड़ता ही रहता है, न डोर (अवधि) टूटती है, न जी (हृदय) फटता है। गुड्डी खेल में उड़ाई जाती है जी भी खेल में उड़ाया गया है। उड़ानेवाले को गुड्डी की चिंता रहती है, पर जी उड़ानेवाले प्रिय निश्चिंत हैं। प्रिय की निश्चिंतता और प्रेमी के चित्त की विरहजन्य कष्ट सहने की दृढ़ता प्रदर्शित करना इसका प्रयोजन है।

चूर्णिका—आस = आशा। अवधि = समय की सीमा। गुन = डोर। चोपनि = चाव या उमंगों में आकर; उमंगों को। चढ़ाय = आकाश में बहुत दूर तक पहुँचा दिया; अधिक कर दिया। खेल सो = खिलवाड़। निपट = बहुत। कठोर = कड़े; निर्दय। ऐंचत न = खींचते नहीं। आप० = अपनी ओर। लाड़िले = प्रिय। दुहेली = दुख की। को = कौन। हाथ० = हाथ से (डोर के माध्यम से) लगी रहने पर भी दूर रहती है (गुड्डी आपके हाथ में पड़ा रहने पर भी आपसे दूर रहता है (जीव)। बिरह० = विरहरूपी वायु के झोंकों से अधीर होकर। नेह० = आँसू से भींगे रहने पर। तऊ = तो भी। गुड़ी लौं = गुड्डी की भाँति।

तिलक—आशारूपी आकाश में अवधिरूपी गुण को बढ़ाकर तथा उमंग में आकर (उमंगों को) चढ़ा (आकाश में दूर तक पहुँचा दिया—गुड्डी को; अधिक कर दिया उमंगों को) कर आपने यह खिलवाड़ किया। प्रिय की प्राप्ति में समय की सीमा बढ़ती जाती है, आशा इससे समाप्त नहीं होती, प्रत्युत उमंगें अधिक होती जाती हैं) यह आपने खिलवाड़ कर रखा है (पतंग का

खेल मनोविनोद के लिए होता है। समय की सीमा बढ़ाना आदि भी अपने मनोरंजन के लिए ही आपने किया है)। आप बहुत कठोर (कड़े; निर्दय) हैं कि अपनी ओर खींचते ही नहीं (चढ़ी पतंग को उतारते नहीं; विरही को अपने पास बुलाते नहीं)। प्रिय सुजान से दुखद दशा कौन कहे (सुजान होने से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, दशा ऐसी है कि कोई कहे तो क्या कहे)। हे आनंद के घन, मुझे तो यह आश्चर्य लग रहा है कि हाथ के साथ लगे रहने पर भी सामीप्य की प्राप्ति कहीं नहीं हो रही है। पतंग हाथ के इशारे पर ही हिलती-डोलती है, पर हाथ के निकट वह आ नहीं पाती; विरही की सारी दुर्दशा प्रिय के ही हाथों हुई है, पर प्रिय का सामीप्य उस बेचारे को नहीं मिल रहा है। विरह की वायु के झकोरों से जी अधीर हो रहा है। फिर भी आँसू से भींगकर भी मेरा जी गुड्डी की भाँति उड़ता ही रहता है।

व्याख्या—आस = आशा कहने में स्वारस्य है। आशा का अर्थ दिशा होता है जो आकाश से उसे संबद्ध करता है। आकाश कहने में उसकी निस्सीमता की ओर संकेत है। आकाश शून्य है। आशा भी शून्य है। कोई परिणाम निकलनेवाला नहीं। चोपनि चढ़ाय दीनी = कहने का तात्पर्य यह कि आपने भी जानबूझकर ऐसा नहीं किया। उमंग में आकर अनजाने ही आप ऐसा कर बैठे। परिणाम की ओर ध्यान होता तो कदाचित् ऐसा न करते। कीनी खेल सों = खेल कर रहे थे। नहीं, खेल से ऐसा किया। खेल करनेवाला जानता है कि यह खेल है आपने खेल जानतेबूझते नहीं किया यह भी आपसे आप हो गया, आपकी जानकारी में नहीं हुआ। प्रिय में हृदय की सत्ता तो है, पर कष्ट उठाने का साहस नहीं है। दूसरे हृदय का कष्ट अनुभव करने की भी योग्यता उसमें नहीं है। फल यह है कि अपने कष्ट के निवारण और दूसरे के कष्ट से बचने की प्रवृत्ति है। ज्ञान अधिक है, हृदय की अनुभूति दबाए रहते हैं। इसीसे कठोर हैं। अत्यन्त कठोर, निपट कठोर हैं। उधर दशा अत्यन्त दुखद है। इतनी दुखद है कि उसको कहा नहीं जा सकता। जिस पर बीत रही है वह उसकी अतिशयता के कारण मौन है, चुप है। दूसरे पार्थक्य इतना अधिक हो गया है कि उतनी दूर से कुछ कहा भी जाय तो प्रिय तक उसके पहुँचने की संभावना नहीं। यदि कहा जाय कि कोई

संदेश देनेवाला हो तो कोई संदेश देनेवाला भी नहीं मिलता। ऐसी कष्ट-दायिनी स्थिति को सुनना और फिर उसका निवेदन करना कठिन है। यदि कदाचित् कोई कहे भी तो आप सुजान हैं। ज्ञान का पलड़ा आपमें भारी है। फिर हैं लाड़िले, केवल लाड़-प्यार में पले। इन बातों से आप कभी परि-चित नहीं, इससे इनके प्रति अनुकूल वृत्ति किसी प्रकार आप में हो नहीं सकती। अचिरजमई = मुझे आश्चर्य ही आश्चर्य हो रहा है! अचरजमयी कहने का तात्पर्य यह है कि सारी घटना तिलतिल आश्चर्य से युक्त है। मुझे दो स्थितियों में रहना पड़ता है। एक तो दुख का कष्ट झेलना दूसरे आश्चर्य करना यह आश्चर्य सुखद नहीं है। आश्चर्य भी दुखद है। जो आश्चर्य सुख में होता है वह सुखद होता है। जो दुख में दुख के बढ़ाने में सहायक होता है वह दुखद होता है। आश्चर्य यहाँ संचारी है। वह भी दुःख बढ़ाता है। आप हैं आनंद के घन और मैं हूँ दुहेली दशा के बीच आश्चर्य में पड़ी। हाथ साथ लाग्यौ = साथ लगा है, क्षण भर के लिए पृथक् नहीं होता। जो जो कष्ट होता है, जैसे-जैसे होता है आपके ही हाथों होता है, दूसरा कोई हेतु उसमें नहीं है। समीप न कहूँ लहै = समीप तो कहीं मिलता नहीं। वियोग के कारण देशान्तर होने से दूरी। निकट आने पर अश्रु आदि के आ पड़ने से बाधा होकर दूरी। यह आश्चर्य प्रिय को ओर उसकी विशेषता के कारण है, विषयगत है। उनके हाथों में ही जादू है। साथ लगे रहने पर भी सामीप्य की अप्राप्ति। पर विषयिगत विशेषता भी है। विरह की हवा लगने से हृदय को उड़कर कहीं का कहीं चला जाना चाहिए। गुड्डी तो हवा लगने पर समीर के झकोर से ठहर नहीं सकती। पर जीव टिका है, झकोर सहता है, फिर भी उड़ ही रहा है। आशा के आकाश में टिका है, टँगा है। आँधी आने पर ही गुड्डी की दुर्गति हो जा सकती है. कहीं पानी भी बर-सने लगे तो गुड्डी और शीघ्र गलकर फट जाए। यहाँ उद्वेग की वात और आँसू के गिरने से भी जीव सब कुछ सहता डटा है। समीर विरह के कारण है। नीर स्नेह के कारण है। आँसू प्रेम के कारण ही आ रहे हैं, वेदना के कष्ट के कारण नहीं। वेदना का कष्ट तो अंधड़ की भाँति है। प्रेम के पानी से उसकी धूल कुछ कम ही होती है।

अलंकार—रूपक—आशा-आकाश, अवधि-गुण, विरह-समीर आदि में। उपमा—खेल सो, गुड़ी लौं। विरोधाभास—हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहै। विभावना तीसरी—नेह-नीर भीज्यौ तऊ उड़्यौ रहै। विशेषोक्ति भी—जल से गलने-फटने की स्थिति न आने से। व्यतिरेक—जीव गुड़ी से बढ़कर है। श्लेष—गुण में। अनुप्रासादि।

भाषा—'जी उड़ना' मुहावरे के आधार पर गुड्डी से जी का रूपक। मुहावरे अनेक पड़े हैं—गुण (डोर) बढ़ाना, खेल करना, हाथ लगा होना, समीप (पास) न लहना (पाना)।

पाठां०—आस ही-आसहि (सुजानहित)।

[सवैया-दुर्मिल = ८ सगण]

घनआनंद जीवनमूल सुजान की कौंधनहूँ न कहूँ दरसैं।
सु न जानियै धौं कित छाय रहे दृग चातिग प्रान तपे तरसैं।
बिन पावस तौ इन थ्यावस हो न सु क्यौं करि ये अब सो परसैं।
बदरा बरसैं रितु मैं घिरिकै नितहीं अँखियाँ उघरी बरसैं ॥१७॥

प्रकरण—प्रिय कहीं ऐसे स्थान पर परदेश में रह रहा है जहाँ से उसका कोई समाचार नहीं मिलता। कहाँ हैं कैसे हैं, इसका पता नहीं। प्रिय ने परदेश जाकर कोई संदेश नहीं दिया। यदि पता होता तो किसी को भेजा जाता। पर किसी को पता तक नहीं कि वे कहाँ हैं। यह तो प्रियपक्ष की स्थिति। प्रेमी की स्थिति यह कि नेत्रों से जब तक प्रिय के दर्शन न मिलें तब तक उन्हें चैन नहीं। केवल दर्शन ही न मिलें, प्रेम की दृष्टि भी हो तब तुष्टि हो। वर्षा करने-वाला पास ही नहीं है। इसलिए वर्षा बनाए रखने के लिए वे नेत्र निरंतर बरसते रहते हैं।

चूर्णिका—घनआनंद = आनंद के बादल। जीवनमूल = जल धारण करनेवाला (बादल); प्राणों के मूल (प्रिय)। कौंधा = बिजली की चमक; (प्रिय की) झलक। न जानियै० = न जाने कहाँ घिरे हैं (बादल); न जाने किसके यहाँ जा बसे हैं (प्रिय)। दृग० = नेत्र रूपी चातक के प्राण। तपे = प्यास से व्याकुल होकर (चातक); विरह से तपकर (नेत्र)। पावस = (प्रावृष्) वर्षा। थ्यावस = स्थिरता, धैर्य, शांति। हो = था। सु क्यौं करि० = उस वर्षा को ये अब किस प्रकार प्राप्त करें। बदरा = बादल। रितु = वर्षा की ऋतु। घिरिकै = छाकर। उघरी = खुली हुई।

तिलक—जीवन के मूल और आनंद के घन सुजान के (दर्शन की तो बात ही क्या उनकी स्थिति या पता देनेवाले) कौंधे के भी दर्शन कहीं नहीं होते (वे प्रवासी होकर कहाँ हैं इसका कुछ भी पता नहीं लगता) । पता नहीं वे कहाँ छाए हुए हैं (किसी के प्रेम में पड़कर उसके संपर्क का परित्याग करना नहीं चाहते) । इधर नेत्ररूपी चातक के (प्राण पिपासा और विरह से) संतप्त हैं और उनके (द्वारा रसप्राप्ति तथा संयोगसुखोपलब्धि के) लिए तरस रहे हैं । ये नेत्ररूपी चातक बिना वर्षा के किसी प्रकार धैर्य धारण करनेवाले नहीं (उधर वर्षा की घटा की छटा छानेवाले आनंद के घन का कहीं पता नहीं । अतः उस वर्षा को कैसे प्राप्त करें यह इनके सामने जटिल समस्या है । इन्होंने सोचा कि बादल की वह सुखदायिनी घटा न जाने कब आए, अतः उसका भ्रम बनाए रखने के लिए इन्होंने स्वयम् वर्षा आरंभ कर दी है । बादल तो ऋतु का समय आने पर सावन-भादों में ही बरसते हैं, पर इन नेत्रों ने नित्य बरसना प्रारंभ कर दिया । बादल छाकर बरसते हैं तो आँखें उघरी ही (उद्घाटित; खुली) बरस रही हैं ।

व्याख्या—घनआनंद''' बरस = घनआनंद, जीवनमूल और सुजान तीनो विशेषण सार्थक हैं, जानबूझकर दिए गए हैं । घनआनंद से यह व्यंजित करना है कि वे आनंद के बादल हैं तो केवल अपने ही आनंद के लिए नहीं, सबके, सारे जगत् के आनंद के लिए हैं । जो सबके आनंद के लिए है उसका इस प्रकार अज्ञात रहना बनता नहीं । यदि यह धारणा हो कि इसमें उसका दोष नहीं तो भी ठीक नहीं । जिसमें आनंद का घनत्व है उसके उस स्वरूप की झलक तो अवश्य मिलनी चाहिए । वह जीवनमूल भी तो है । वही जीवन में सर्वत्र व्याप्त है । फिर भी पता नहीं । यदि कहा जाय कि इसमें ज्ञाता का ही दोष है तो ठीक नहीं । क्योंकि जो जीवन का मूल है उसको स्वयम् अपने अस्तित्व का संकेत करना चाहिए । वह स्वयम् दिखाई न दे पर उसका आभास तो मिलना चाहिए ही । जीवन के आदिस्रोत का पता-ठिकाना कोई लगाना चाहे तो न लगे, पर यह तो आवश्यक है कि उसका स्रोत कहीं है इसका पता चलता रहे । यदि यह शंका हो कि वह स्वयम् प्रकाशित नहीं है तो भी ठीक नहीं । वह सद्ज्ञानरूप है, सुजान है । ज्ञान स्वयम् प्रकाशित है, स्वयम् प्रकाश है । उसका संबंध सर्वत्र से है, किसी एक दिशा से नहीं । वह सर्वदिक्

है। फिर भी किसी दिशा में उसका आभास नहीं मिलता। इसमें रहस्यात्मक संकेत है।

सु न···त· सैं—यदि वह सर्वव्यापक है तो उसे यहाँ भी होना चाहिए। पर यहाँ न रहकर कहीं वह है। पर कहाँ छाया है, राम जाने। पहली पंक्ति में ब्रह्म के विषयपक्ष की विशेषताओं को लेकर उसका आभास न मिलने पर असंतोष प्रकट किया गया है। दूसरी पंक्ति में विषयिपक्ष से ज्ञाता की ओर से त्रुटि दिखाई जा रही है। इसमें प्रिय का ही दोष नहीं। मेरा भी दोष है। मैंने भी जानने का प्रयत्न नहीं किया कि वह कहाँ है। यहाँ रहना उसे पसंद नहीं, पर कहीं छाना उसे पसंद है। इसमें अपना भी दोष है। प्रिय को क्या पसंद है इसकी खोज नहीं की प्रेमी ने, अन्यथा वह अन्यत्र न छाता। फल यह है कि नेत्र तरस रहे हैं। संताप और लालसा के कारण भी ज्ञानोपलब्धि में बाधा है। बुद्धि ठिकाने रहे तब खोज हो। फिर कोई सहायक हो तो संताप हलका करने या आकुलता कम करने का कुछ प्रयास करे, पर यहाँ नेत्रों के प्राण अकेले हैं। नेत्र जब तक प्रिय के दर्शन करते नहीं जब तक उनको किसी की सहायता नहीं प्रतीत होती। किसी के अस्तित्व का ही ज्ञान नहीं रहता, सहायता कैसी। इसलिए तरस रहे हैं। सारे उपचार बेकार हैं। बिन···परसैं—अन्य ऋतुओं से इन्हें प्रयोजन नहीं। वसंत ऋतुराज है, उस तक से इन्हें प्रयोजन नहीं। इनके लिए पावस चाहिए। पावस का इतना अधिक आग्रह है इन्हें कि ये चाहते हैं कि सदा पावस ही रहे। पर प्रकृति पर कोई वश नहीं चलता इससे इन्होंने स्वयम् नित्य पावस बनाए रखने का प्रबंध कर रखा है।

अलंकार—'उघरी बरसैं' में विरोधाभास, दृग-चातिग 'रूपक', घनआनंद आदि में श्लेष।

पाठां०—दृग-इत (सुजानहित)।

(कवित्त)

जेतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहाँ आहि सो धौं
　　　　को धौं जीव जारै अटपटी गति दाह की।
धूम कों न धरै, गात सीरो परै ज्यौं ज्यौं जरै
　　　　ढरै नैन-नीर बीर हरै मति आह की।

जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगें अब
कबहूँ न दबै भरो मभक उमाह की।
जब तें निहारे घनआनंद सुजान प्यारे
तब तें अनोखी आग लागि रही चाह को ॥१८॥

प्रकरण—पूर्वराग का वर्णन है। प्रिय के दर्शन से राग की उत्पत्ति है। प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेम हुआ है। दर्शन के अनंतर विरह की अग्नि को क्या स्थिति है इसका वर्णन है। विरहाग्नि की विलक्षणता और प्रचंडता का वर्णन है। विलक्षणता यह है कि उसका पता नहीं चलता। प्रचंडता ऐसी है कि उसकी शांति के उपाय भी उसी में भस्म हो जाते हैं।

चूर्णिका—जेतो = जितना। घट = शरीर। सोधौं = खोजती हूँ। आहि = है। सौ = वह। धौं = न जाने। को = कौन। जीव = प्राण। जारै = जलाता है, विरह की आग से जला रहा है। अटपटी = बेढंगी। गति = स्थिति, दशा। दाह = जलन। धूम = धूँआ। न धरै = नहीं धारणा करती। गात = (गात्र) शरीर। सीरो = ठंढा। ढरै = गिरता है, टपकता है। बीर = हे सखी। आह की मति = आह करने की बुद्धि, आह का ज्ञान [अथवा आह—हिम्मत, हियाव, साहस की बुद्धि अर्थात् धैर्य]। जतन = यत्न। बुझे हैं = ठंढे पड़ गए हैं। झर = ज्वाल, आंच। आगे = सामने अर्थात् बीच में। मभक = प्रज्वलन। उमाह = उमंग।

तिलक—जब से घनआनंद सुजान प्रिय को देखा तब से चाह को अनोखी आग लगी है। (उसका अनोखापन यह है कि) जितना भी शरीर में उसकी खोज करती हूँ वह मिलती ही नहीं, पता ही नहीं चलता कि वह कहाँ है। जब उसका पता नहीं तो फिर जी को जला कौन रहा है। जलाना भी साधारण नहीं जलन की स्थिति बेढंगी है, जैसी सामान्यता हो सकती है उससे पृथक् है, बहुत चढ़-बढ़कर है (पता न चलने का हेतु है कि) इसमें धूँआ होता ही नहीं (यदि धूँआ होता तो जहाँ से धूँआ आता होता वहाँ आग के होने का पता चल जाता। 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' से अनुमान कर लिया जाता है। ऐसी भी आग होती है जिसमें धूँआ नहीं होता, पर वह जहाँ होता है वहाँ गरमी होती है, पर) इस आग से शरीर ज्यों ज्यों जलता है त्यों त्यों ठंढा पड़ता जाता है। (यदि कहीं कुछ उष्णता होती भी

तो उससे शीतल करने के लिए) नेत्रों से नीर (निरंतर) प्रवाहित होते रहते हैं। हे सखी, 'आह' न करने का परिणाम यह है कि श्वास की वायु से भी आग के प्रज्वलित होने की कुछ संभावना थी, सो नहीं रही। जहाँ वह सुलगती दिखती वहाँ उसके अस्तित्व का पता चल जाता। वह भी नहीं हो पा रहा है। विलक्षणता यह है कि उसको शांत करने के लिए जितने उपचार किए जाते हैं वे उसकी तीव्र ज्वाला के कारण बुझ जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं। अब तो वह इतनी प्रचंड हो गई है कि (प्रचंड होने के) उत्साह से भरी उसकी भभक कभी दबती ही नहीं है। यह प्रचंड से प्रचंडतर, प्रचंडतम होती जाती है।

व्याख्या—जेतो = इस शब्द से यह लक्षित होता है कि शरीर की खोज निरंतर होती रहती है। पहली बार शोध करके विरत नहीं हो जाया जाता। दूसरी बार के शोध में उसकी अज्ञेयता अपेक्षाकृत अधिक दुरूह हो जाती है। शोध करने में शैथिल्य भी नहीं है, वही जोश-खरोश, उससे बढ़कर प्रयत्न। घट = घट शब्द का व्यवहार करके शोध करने की स्थिति साक्षात् कर दी गई। 'घट' घड़े को कहते हैं, बड़े घड़े को कहते हैं। बड़े-बड़े घड़ों में प्राचीन काल में वस्तुएँ रखी जाती थीं, गाँवों में अब भी रखी जाती हैं। अनेक वस्तुएँ पुटकी में बाँधकर रख दी जाती हैं। घड़े से उन्हें खोज निकालने में देर लगती है। 'घट' के भीतर खोज करनी पड़ती है। शरीर के भीतर खोज करना लक्षित करना है, अंतःकरण की खोज है यह। शरीर के ऊपर क्या पता चले इस आग का, भीतर ही पता नहीं चलता। सोधौं = शोध कहते हैं भली भाँति खोज करने को। कोई विधि जिसमें छूटे न ऐसी खोज। इससे शोध करने में सावधानी व्यंजित है। जहाँ = इससे यह स्पष्ट है कि सर्वत्र खोज कर ली गई है। कोई कोना छूटा नहीं। जारै = जलाने की क्रिया हो रही है, जलानेवाले का होना कार्य-कारण की परंपरा से अनिवार्य है। अटपटी = जलन सामान्य नहीं, असामान्य, असाधारण है। सामान्य जलन हो तो शरीर की उष्णता, हलका ज्वरांश या ऐसे ही कुछ मान लिया, पर असाधारण होने से उसकी खोज करने की प्रवृत्ति भी होती है। उसके जानने की आवश्यकता भी पड़ती है। धूम = आग की असाधारणता प्रकट

करने के लिए उसके स्वरूप को बतलाते हैं। साधारण आग में धूम होता हो, पर आग अनुष्ण नहीं होती, जहाँ वह अपना प्रभाव डालती है वहाँ गरमी बढ़ती है। यहाँ शरीर क्रमशः उष्ण होने के बदले अधिकाधिक शीतल होता जाता है। जहाँ आग होगी वहाँ पानी साधारणतया नहीं रह जाता। यह आग ऐसी है कि भीतर आग है वहीं से पानी भी नेत्रों में आता रहता है, गिरता रहता है। 'आह' करने की भी बुद्धि नहीं रह जाती। आह करे कौन। आग होने पर वायु बढ़ती है। आह का अधिकाधिक निकलना स्वाभाविक है, पर यहाँ आह ही नहीं निकलती। आह का अर्थ हिम्मत या साहस भी है। साहस की बुद्धि नहीं है। शैथिल्य की अभिव्यक्ति। 'बीर' के साहचर्य में 'आह' का यह अर्थ चमत्कार भी लाता है। बुझैं = यत्नों के बुझने का अर्थ यह है कि वे भी अपनी दीप्ति करते हैं। पर प्रचंड आग में उनकी दीप्ति विलीन हो जाती है। बुझना कहने में यह भी अभिव्यक्त होता है कि वे यत्न अब काम के नहीं रहे। उनका पुनः उपयोग-प्रयोग नहीं हो सकता। सब = एक भी यत्न बचता तो भी कदाचित् भविष्य में आग से छुटकारा पाने की संभावना थी। पर सब यत्न समाप्त हो गए। झर = इसका अर्थ ज्वाला है, पर 'बुझैं' के साथ इसका अर्थ झड़ी लगा लें तो बुझने में सौकर्य दिखने लगे। अब यत्नों के बुझ जाने पर, उनकी आग इसकी आग को और बढ़ा गई। यत्नों के समाप्त होने के पूर्व तो कभी कभी इसके दबने की भी स्थिति ज्ञात होती थी, कम से कम अनुभूति तो होती थी कि वह बुझेगी पर अब तो उसकी प्रचंडता कभी शांत नहीं होती। कबहूँ = इससे नैरंतर्य और प्रचंडता दोनो की ओर संकेत है। न दबै = बढ़ती ही है। जिसमें उमाहवाली भभक होगी उसे उमंगित होना ही है। जब तें = देखने के साथ ही। निहारे = देखे गए, दिखे। भली भाँति दिखे। निहारने और देखने में अंतर है। अनोखी = नवक (नवीन)—नोक, नोख, नोखी; अनोखी।

शैली—'अनोखी आगि' से व्यतिरेक। आनंद के घन (बादल) को देखकर आग लगने में, झर से बुझने में, सीरो परै ज्यों ज्यों जरै में विरोध। 'सोधैं' का यमक। 'अनोखी आग' का समर्थन युक्ति से अतः काव्यलिंग। बुझें हैं = लक्षणलक्षणा। बुझने का प्रयोग प्रवाह में अन्यत्र भी—मन बुझा बुझा है, शिथिल है, उदास है इस अर्थ में।

आँखें जौं न देखैं तौ कहा हैं कछु देखति ये
ऐसी दुखहाइनि की दसा आय देखियै।
प्रानन के प्यारे जान रूप उजियारे बिना
मिलन तिहारे इन्हैं कौन लेखें लेखियै।
नीर-न्यारे मीन औ' चकोर चंदहीनहूँ तें
अति ही अधीन दीन गति मति पेखियै।
हौ जू घनआनँद ढरारे रसभरे भारे
चातिक बिचारे सों न चूकनि परेखियै ॥ १९॥

प्रकरण—विरहिणी के नेत्र और प्राण विरह से अधिक व्याकुल हैं। उसकी चातकवृत्ति है। यदि प्रिय किसी प्रकार के कुतूहल से ही आकृष्ट होता है तो उससे यह कहना कि विरहिणी को देखने आप आइए या मत आइए, पर आँखों की यह स्थिति अवश्य देख जाइए कि ये आपको न देखकर कुछ देखती ही नहीं। कुतूहल की शांति के लिए उनकी दशा देख जाइए। आँखें प्रिय को न पाकर निरर्थक हो गई हैं। उनकी व्यर्थता की यह स्थिति भी विलक्षण कुतूहल का दृश्य है। प्रिय ने अत्यंत दैन्य की स्थिति या तो मीन की देखी होगी या चकोरी की। यदि उन स्थितियों से बढ़कर दैन्य देखना है तो यहाँ देखा जा सकता है। यदि विरहिणी के अपराध के कारण आप में पराङ्मुखता जगी है तो उसका परित्याग ही श्रेयस्कर होगा।

चूर्णिका—न देखैं = आपको नहीं देखतीं। कहा = क्या। तो कहा० = तो क्या कुछ देखती भी हैं ये अर्थात् कुछ भी नहीं देखतीं। प्रिय को न देखकर आँखें किसी वस्तु को देखना पसंद नहीं करतीं। दुखहाइनि = दुखिया (स्त्रीलिंग)। जान = सुजान, प्रिय। रूप = सौंदर्य। रूप-उजियारे = सौंदर्य के प्रकाशवाले। बिना० = आपके मिले बिना, आपके संयोग बिना। इन्हैं = इन्हें किसी गिनती में गिनूँ। अर्थात् आपके मिलन के बिना इन (आँखों) का होना न होना एक सा है। ये आँखें यदि देखेंगी तो आपको ही देखेंगी। आँखें देखने के लिए होती हैं। अतः आपके आने पर ही आँखें आँखें हो सकती हैं। नीर-न्यारे = जल से पृथक्, जल से वियुक्त! मीन = मछली। अधीन = विवश। गति = दशा। मति = बुद्धि। पेखियै = दिखती है। ढरारे = ढलनेवाले, द्रवीभूत होनेवाले, बरसनेवाले। रस = प्रेम, जल। चूकनि = चूक में डालकर, भूलकर। न परेखियै = परीक्षा मत लें। [अथवा चातक = चातक बेचारे की भूलों का बुरा न मानें (परेखिबो = बुरा मानना)]।

तिलक—हे प्राणों के प्रिय, सौंदर्य का प्रकाश करनेवाले सुजान, बिना आपके देखे ये आँखें क्या कुछ देख भी पाती हैं ? आपको न देखकर ये कुछ भी नहीं देखतीं। ऐसी दुखिया इन आँखों की दशा ही आकर देख लें। कभी आपने ऐसी विलक्षण आँखें न देखी होंगी। आपके मिलन के बिना सच पूछिए तो ये किसी गिनती में नहीं हैं। जैसे इनका होना वैसे न होना। आपने जलवियुक्त मीन और चंद्रवियुक्त चकोर की विवश गति और दीन मति देखी होगी। पर इनकी विवशता और दीनता मीन एवम् चकोर से कहीं अधिक है। केवल आपको ही चाहने के कारण मेरी चातकवृत्ति है। आप तो आनंद के घन हैं, द्रवणशील हैं, अत्यंत रसमय हैं, मुझ बेचारे चातक को इस प्रकार भूलकर मेरी परीक्षा न लीजिए अथवा उसकी भूलों का विचार न कर उस पर द्रवीभूत होइए, बुरा मत मानिए।

व्याख्या—आँखैं = दोनो आँखें। यदि एक आँख दर्शन-व्यापार से विरत होती तो भी कोई बात होती। न देखैं = आपको न देखकर किसी को नहीं देखतीं। किसी अन्य को देखने योग्य तभी ये हो सकती हैं जब पहले आपको देख लें। आपके प्रति अनन्यता होने पर भी किसी के प्रति उनके उन्मुख होने में तब बाधा नहीं है जब आपको देख लें। दुखहाइनि = दुखी और दुखहाई में अंतर है। दुखी वह भी है जिसे एक ही दुख है। एक दुख होकर दूसरा दुख न भी हो तो भी दुखी। दुखहाई वह है जिसके प्रति एक के अनंतर दूसरा दुख आता रहता है अथवा जो दुख कष्ट दे रहा है वह कष्ट देता ही रहता है। नैरंतर्य के लिए 'हाई' प्रत्यय है। आय = यों इस दशा की सूचना आपको दी जा रही है पर आँखों की दशा कानों से नहीं देखी जा सकती। आँखों से देखने से ही वास्तविकता का पता चल सकता है। दूसरे की आँखें देखकर ठीक स्थिति का ज्ञान हो नहीं करा सकतीं, अनुभव कराना तो और भी कठिन है। प्रानन० = प्राणों के प्रिय, केवल आँखों के बहिरिंद्रिय के दर्शनीय नहीं, प्राणों के प्रिय। आँखों के दर्शनीय होने से दर्शन मात्र से तृप्ति हो जा सकती है, प्राणों के प्रिय के दर्शन से ही नहीं मिलन से—संयोग से—तृप्ति होना स्वाभाविक है। रूप० = नेत्र प्रियदर्शन भाव से रिक्त हैं, शून्य हैं, व्यर्थ है। इन नेत्रों में जो भी दीप्ति है वह प्रिय के प्रकाश से ही। उस प्रकाश के न मिलने से नेत्रों में ज्योति-

मांद्य ही नहीं ज्योतिराहित्य भी हो जाता है। बिनु मिलन = नेत्र प्रिय के देखे बिना शून्य हो गए। गिनती में शून्य का स्वतंत्र कोई महत्त्व नहीं। पर अन्य संख्या के मिलने से शून्य का महत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है। प्रिय वह संख्या है जिसके साथ लगने से नेत्रों का महत्त्व प्रकट हो सकता है। वे गिनती में आ सकते हैं। अभी तो उनकी कोई गिनती ही नहीं। प्रिय के देखने पर तो दसगुने हो जाएँगे। नीर न्यारे = जल से पृथक् होने पर मीन विवश हो जाता है, ऐसा विवश हो जाता है कि उसकी विवशता अंततोगत्वा मृत्यु में परिणत हो जाती है। आँखों की उपमा मछली से दी जाती है। आकार, चंचलता आदि के आधार पर ऐसा किया जाता है। पर मीन और नयन की एकवाक्यता संयोग में भले ही हो, वियोग में नहीं रहती। वियोग में नयन प्रिय से पृथक् होने पर मीन की भाँति जलहीन नहीं होते। प्रिय के लिए आँसू बहाते रहते हैं। उस जल के संयोग से कदाचित् जीते रहते हैं। कुछ 'मीनता' उनमें रह जाती हो तो इस जल के कारण रह जाती होगी। पर ऐसा कहना भी ठीक न होगा। मीन के लिए जो जल है वह नयन के लिए अश्रु नहीं। प्रिय उनके लिए, प्रिय का रूप उनके लिए जल है। उस रूप की प्राप्ति के बिना वे मरते नहीं, वेदना अत्यधिक होने पर भी जीते रहते हैं। मीन तो मरा और उसका कष्ट हटा, पर नयन इस प्रकार कष्ट से मोक्ष नहीं पाते। रहा आँसू, कुछ वेदना को कम करता होगा, सो भी नहीं। उस आँसू से वेदना तो बढ़ती ही है। विरह की आग में यह पानी पड़ा और वह आग सुलगी। यह वह आग है जिसमें दृगजल ईंधन का काम करता है। यही नयनों की 'अति अधीनता' है। मीन के बश में तो मृत्यु है। वह तुरंत बुला लेता है उसे। पर नयन उसे नहीं बुला पाते, कष्ट निरंतर सहते रहते हैं। विवशता की सीमा का अतिक्रमण है, मरना भी अपने हाथ में नहीं, आत्महत्या भी प्रेमी नयन नहीं कर सकते। प्रिय के रूपदर्शन की लालसा ऐसा करने ही कब देगी। चकोर चंदहीन० मीन और जल का संबंध इतना निकट का होता है कि मछली उसी पानी में रहती है, उसका थोड़ा सा भी प्रिय से अंतर नहीं। पर चकोर का प्रिय चंद्र उससे बहुत दूर है। वह दूर रहनेवाले अपने प्रिय को देख सकता है। प्रेमी नयनों का प्रिय दूर होते हुए भी उसी प्रकार देखा जाता जैसे चकोर

चंद्र को देखता है तो भी आँखों को कुछ ढारस रहता। चकोर का चंद्रमा बादल से या अमावास्या आदि के कारण छिप जाता है। वह छिपा ही रहता हो, यह भी नहीं है, अपने समय पर उसके दर्शन होते ही हैं। चकोर की दीनता, प्रिय के दर्शन न पाने का दारिद्र्य, तभी तक है जब तक मेघ, तिथि, उपराम आदि की बाधा है। वह बाधा हटी, फिर चंद्रदर्शन। पर नेत्रों की स्थिति ऐसी नहीं। यह निश्चय नहीं है कि प्रिय के दर्शन कब होंगे, दर्शन मिलेंगे कि नहीं यह भी निश्चित नहीं है। इससे नेत्रों की दीनता चकोर की दीनता से बढ़कर ही नहीं है, अति की सीमा पर है। दीनता इसलिए अति है कि प्रिय के दर्शन की संभावना का निश्चय नहीं है। गति-मति = गति मीन की और मति चकोर की। मीन की गति अर्थात् दशा अधीनता की होती है। नेत्रों की दशा उनसे बढ़कर अधीनता की है। दशा का संबंध शरीर से है। मछली का सारा कष्ट शरीरसंबंधी है। उसका शरीर प्रिय जल से पृथक् नहीं। उसी जल में उसकी गति है। जिये तो और मरे तो। चकोर की मति दीन होती है, बुद्धि ही मारी जाती है, जब चंद्रमा नहीं दिखता। चंद्रमा का प्रभाव बुद्धि पर विशेष पड़ता है। विरही के नेत्रों की मति अर्थात् उसका मानसिक पक्ष अत्यंत दरिद्रता का हो जाता है। बिरही के नेत्र खुले हैं, पर कोई दृश्य ही नहीं दिखाई देता। उसके लिए प्रिय का रूप ही नेत्रों की ज्योति है। प्रिय नहीं तो नेत्रों की ज्योति नहीं। मीन का तो हिलना-डुलना सब बंद हो जाता है। चकोर स्तब्ध रह जाता है। पर नेत्रों की बाहरी क्रिया हिलना-डुलना, पलकें भाजना आदि सब होते रहते हैं। फिर भी वे कोई दृश्य प्रिय के बिना देख नहीं पाते। पेखियै = मीन की अधीनता और चकोर की दीनता तो देखी गई होगी, पर इन नेत्रों की अधीनता और दीनता जैसी है वैसी कहीं देखने को न मिली होगी। इसी से केवल देखने की नहीं 'पेखने' की बात कही जा रही है। 'पेखना' है 'प्रेक्षण' (प्र + ईक्षण), प्रकर्ष रूप से देखना। विशेष ध्यान से देखने योग्य है। घनआनंद = मीन का जल और चकोर का आकाशीय चंद्र, प्रेमी के प्रिय में दोनो के प्रियों की विशेषताएँ हैं। आनंद के बादल में जल भी है और आकाश में स्थिति भी है। जल द्रवणशील नहीं, उसमें यह दया नहीं कि अपने प्रेमी मीन के पास पहुँचकर उसे बचाए। पर आप द्रवणशील

हैं। कोई पिघलनेवाला तो हो, पर वह द्रवतत्त्व कम रखता हो तो उसके पिघलने पर भी किसी को तत्त्व कम ही हाथ लगेगा। पर यदि कोई 'रस-भरा' हो तो फिर अधिक तत्त्व मिलने की संभावना है। फिर आप भारे, भारी हैं भी—बड़े भी हैं। जलाशयों में जल बादलों से आया है और बादल चंद्रमा को ढक सकता है। इसलिए प्रेमी का प्रिय मीन और चकोर के प्रियों से भारी है, बढ़कर है। चातिक०=मीनवृत्ति और चकोरवृत्ति से चातकवृत्ति बहुत भिन्न है। मीन को एक तालाब से दूसरे तालाब में रख दीजिए कोई अंतर नहीं। वह किसी एक प्रकार के जल से प्रेम करनेवाला नहीं। चकोर वर्ष भर चंद्रदर्शन न करके, केवल वर्ष के किसी एक ही पखवारे में चंद्रदर्शन नहीं किया करता। प्रेमी चातकवृत्ति वाला है, जो प्रिय के अतिरिक्त किसी दूसरे से तो प्रेम कर ही नहीं सकता, साथ ही वह प्रिय को निरंतर देखते रहनेवाला नहीं। वर्ष भर रटता है, थोड़े दिनों उसका जल लेता है। बेचारे चातक की स्थिति वैसी नहीं। मीन का प्रिय एक जल उसे भूल जाए तो दूसरे जल से काम चल जाएगा। चंद्र एक पखवारे में नहीं दिखा तो दूसरे पखवारे में दिख जाएगा। पर चातक तो ऐसा करता नहीं, उसे तो स्वाती का ही जल चाहिए। वह भी जो जल सीधे चोंच में गया उसी पर संतोष। जो अपने प्रिय के थोड़े संयोग से ही इतना प्रफुल्ल रहता हो कि उसके आसरे वियोग का बहुत अधिक कष्ट सहन कर सकता हो उस प्रेमी का मेल क्या मिल सकता है। चातक की साधना विरहप्रधान है, प्रेमी की साधना विरहप्रधान है। यदि विरहप्रधान साधक को जब प्रिय की प्राप्ति होनी चाहिए उस समय उसकी प्राप्ति न हो तो फिर प्रिय की प्राप्ति अधिक समय के अंतराल से होगी। ऐसे प्रेमी को यदि प्रिय भूल जाए, ठीक अवसर पर उसके सामने उपस्थित होना भूल जाय और यह भूलना एक बार न हो, अनेक बार हो तो उसकी तो बड़ी कठिन परीक्षा हो गई। 'चूकनि' में बहुवचन इसी से है। प्रियदर्शन के अवसर पर भी दर्शन नहीं दे सका है। स्वाती में चातक को यदि जल न मिले तो एक वर्ष के लिए वह गया और कई वर्षों तक स्वाती में वृष्टि न हो तो, चातक की भारी परीक्षा ली गई। सों=को। व्रजी में सों को कों के अर्थ में कवियों ने बहुत प्रयुक्त किया है, विशेषतया केशव आदि प्राचीन कवियों ने। 'सों' का अर्थ 'से' ही रहेगा, यदि 'परेखियै' का अर्थ 'बुरा मानिए' किया जाएगा। उससे हुई भूलों के कारण बुरा मत

मानिए। चातक की भूल क्या हो सकती है। यही कि वह रटते-रटते इतना अशक्त हो गया हो कि उसकी वाणी जो पहले स्पष्ट सुन पड़ती रही हो अब न सुनाई पड़े। विरही की तो मौन में पुकार रहती ही है। यदि विरही के मौनावलंबन को प्रिय यह समझता हो कि उसने मुझे भुला दिया है तो यह ठीक नहीं है। प्रेमी के द्वारा भूलें और भी कल्पित हो सकती हैं। प्रिय की कठोरता का प्रचार प्रेमी के विरह के कारण हो रहा हो और प्रिय यह समझ ले कि इसमें प्रेमी का दोष है। अथवा जी जलने पर उसने उसे विश्वासघाती आदि कह दिया हो और इसे उसने गाँठ बाँध लिया हो।

जहाँ तें पधारे मेरे नैननि हो पाँव धारे
वारे ये बिचारे प्रान पैंड पैंड पै मनो।
आतुर न होह हा हा नेकु फेंट छोरि बैठो
मोहि वा बिसासी को है ब्यौरो बूझिबो घनो।
हाय निरदई कों हमारी सुधि कैसें आई
कौन बिधि दीनी पाती दीन जानि कै भनो।
झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित-कचाई पाक्यौ
ताके गुनगन घनआनँद कहा गनो ॥२०॥

प्रकरण—प्रिय के यहाँ से कभी कोई दूत नहीं आता था, पर इस बार वहाँ से दूत आया है। मौखिक संदेश लेकर नहीं आया है। प्रिय ने पत्रिका भी स्वयम् लिखकर दी है जो इतना निष्ठुर था कि किसी प्रकार प्रेमी की खोज-खबर नहीं लेता था उसने दूत भेजा और स्वहस्तलिखित पत्रिका देकर भेजा, इस पर प्रेमी को आश्चर्य है। वह प्रिय के इस दूत को तुरंत लौटा नहीं देना चाहता, उसकी उत्सुकता, कुतूहल इतना बढ़ा है, उसे इतनी अधिक जिज्ञासा हो गई है कि वह दूत से इसका पूरा विवरण चाहता है कि उस निर्दय प्रिय को प्रेमी की सुध आई तो कैसे आई और उसने पत्र लिखने की ओर भी ध्यान कैसे दिया। जो अपने वादों को पूरा न करता हो, जो प्रेम करने में कच्चा हो उसका इस प्रकार का कार्य अचरज में डालता है। इसी से प्रेमी पूरा विवरण चाह रहा है।

चूर्णिका—जहाँ तें० = प्रिय जहाँ जहाँ से गए वहाँ वहाँ मेरे नेत्रों पर पैर रखकर ही गए। मेरे नेत्र निरंतर उनका जाना एकटक देखते रहे। वारे = निछावर हुए। पैंड = डग, कदम। वारे ये० = मानो ये बेचारे मेरे

प्राण कदम कदम पर निछावर हो गए; उनकी चाल पर ये लोट-पोट होते रहे। आतुर० = हड़बड़ी मत करो। नेकु० = थोड़ा फेंट छोड़कर आराम से बैठिए तो। बिसासी = विश्वासघाती। ब्यौरो = विवरण, हाल-चाल। मोहि० = मुझे तो उस विश्वासघाती का बहुत-सा हाल पूछना है। हाय० = उस निष्ठुर को मेरा स्मरण आया तो कैसे आया। दीन० = मुझे विरह से दुखी जानकर कहो। झूठ की० = वह तो झूठ की सचाई से छका (भरापूरा) है, यदि उसमें किसी बात की सचाई है तो झूठ की ही। त्यौं० = इसी प्रकार। हित० = प्रेम के कच्चेपन से पका हुआ है, यदि किसी बात में पक्का है तो प्रेम के कच्चेपन में ही। गुन = (विपरीत लक्षणा से) अवगुण।

तिलक—आपसे मैं जिस प्रिय के संबंध में, जिसके विवरण के हाल-चाल के बारे में, जिज्ञासा कर रही हूँ वे प्रिय मुझे कितने प्रिय थे उसका अनुमान इसी से लगा लो कि वे जिस मार्ग से यहाँ से गए मेरे नेत्रों पर पैर रखकर गए। उस मार्ग पर मेरे नेत्र उनके पैर रखने के पहले हो बिछ गए। मेरे ये प्राण जो प्रिय के विदेशगमन के कारण विवश थे उनके प्रत्येक कदम पर अपने को निछावर सा करते गए। उनकी गति पर लोट-पोट होते रहे, अपनी विवशता को इसी में भुलाए हुए थे। जिन प्रिय के संबंध में मेरे नेत्रों की यह स्थिति थी और जिनका मार्ग आज भी नेत्र देख रहे हैं आप उनकी पत्रिका लेकर आए हैं। साधारणतया प्रिय के निकट से आनेवाले के प्रति प्रेमी की उत्सुकता बहुत अधिक रहती है, पर यदि प्रेमी प्रिय के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हो तो उसकी उत्सुकता भी बहुत हो जाती है। आप जो हड़बड़ी में पत्रिका देकर जाना चाहते हैं (कृपा कर) वैसा न करें। आप बहुत दूर से चलकर आ रहे हैं। कुछ विश्राम तो कर लीजिए। फेंट छोड़कर कुछ बैठ तो जाइए। बैठने से मेरे प्रयोजन की सिद्धि होनेवाली है। मुझे उस विश्वासघाती का बहुत सा विवरण पूछना है। खड़े खड़े आप उतना अधिक न बता सकेंगे। जो बताएँगे उतने से मेरी तृप्ति न होगी और देर तक आप खड़े रह गए तो आपको व्यर्थ कष्ट होगा। उस निष्ठुर को मेरी सुध कैसे आई। इतने दिनों तक उसने हाल-चाल जानने का कोई प्रयत्न नहीं किया, तो यह स्थिति आई तो कैसे आई। इसकी तो मुझे किसी प्रकार से संभावना ही नहीं रह गई थी। केवल सुध आने की ही बात होती तो भी कोई बात थी, उसने तो

पत्रिका भी आपको दी है। वह भी स्वयम् लिखकर दी है। भला यह असंभव कार्य कैसे संभव हो गया। यह परिवर्तन किस कारण उसमें आ गया। मुझे अत्यन्त दीन समझकर यह सब बताइए। मैं प्रिय की अनुकूलता के अभाव में अत्यंत दीन हो गई हूँ, उसकी इस अनुकूलता से मेरी दीनता के कम होने की संभावना है इसलिए इस दारिद्रय को दूर करने के लिए आप ऐसा करें। जो झूठ के ही सच्चेपन से परिपूर्ण हो, कभी सत्य का व्यवहार न करता हो और जो प्रेम के ही कच्चेपन में पक्का हो अर्थात् जो भारी झूठा और भारी अप्रेमी हो उसमें इस वास्तविकता का और इस प्रेम का उदय! उसमें ये दो गुण (अवगुण) नहीं हैं, गुणगण हैं उसमें, इतने कि उनकी क्या गिनती की जाए।

व्याख्या—जहाँ तें० = प्रिय जहाँ से पधारे वहाँ नेत्र इसलिए बिछ गए कि उनके कोमल चरणों को भूमि की कठोरता से किसी प्रकार का कष्ट न हो। नेत्र इतने कोमल हैं कि विधाता ने उनकी रक्षा के लिए पलकों का आवरण ही बना रखा है। अन्य अंगों के लिए ऐसा आवरण या ढक्कन नहीं है। प्रिय के कोमल चरणों को इन कोमल नेत्रों पर चलने से किसी प्रकार के कष्ट की संभावना नहीं। पर हो सकता है कि उन अत्यंत कोमल चरणों को नेत्रों की कोमलता से भी कुछ कष्ट हो इसलिए प्राण, जो निश्चय ही नेत्रों से भी कोमल हैं, उस मार्ग पर उनके प्रत्येक कदम रखने पर उनके नीचे आकर उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देते थे। नेत्र तो मार्ग में बिछ गए पाँवड़े की भाँति, प्राण प्रत्येक कदम के नीचे गद्दी की तरह छा जाते रहे। बिचारे = प्रिय के प्रवास की बात से प्राण बेचारे के हो गए उनका कोई उपाय ही नहीं रह गया, इसलिए उनकी उपयोगिता इसी में थी कि वे निछावर कर दिए जायँ। मनौ = मानो कहने का तात्पर्य इतना ही है कि कल्पना में प्रेमी प्राणों को निछावर कर रहा था। आतुर० = दूत तुरंत लौट जाना चाहता है। यहाँ तक कि वह फेंट भी खोलकर नहीं बैठा। उसकी आतुरता के कारण कई कल्पित हो सकते हैं। प्रिय का आदेश होगा कि तुरंत लौट आना। संभव है उसे अन्यत्र भी कोई और कार्य सौंपा गया हो। उसे प्रेमी की व्यथा का पता हो और यह समझता हो कि यदि प्रेमी ने अपना रामरसड़ा छेड़ दिया तो बहुत बिलंब लग जायगा। हाहा = इससे स्पष्ट है कि वह तुरंत ही लौट रहा है, इस शब्द के द्वारा उसे रोकने का प्रयास व्यक्त हो जाता है। नेकु = इसके द्वारा यह व्यंजित

है कि और अधिक न कीजिए तो थोड़ा फेंट ही खोलकर बैठिए। अर्थात् आपको रुकना चाहिए हाथ-पैर धोने चाहिए, खाना-पीना चाहिए। मार्ग की थकावट दूर करने के लिए विश्राम करना चाहिए। इतना अधिक यदि न कर सकें तो इतना ही कीजिए कि कमर का पटका खोलकर थोड़ा ही बैठ लें। मुझे विवरण 'घना' पूछना है। उसके लिए 'घना' बैठने की आवश्यकता है। उतना न सही तो 'नैकु' तो अवश्य बैठें। फेंट पूरी न खोलना चाहते हों तो बैठने के लिए उसे थोड़ी ही खोल लें। वा = इससे प्रिय के अत्यधिक विश्वासघाती होने का भी व्यंजना है, असाधारण बिसासी। तभी तो उसका घना विवरण चाहिए। ब्यौरो = इससे बातों को साफ-साफ विस्तार से कहने का संकेत है। बूझिबो = बूझना यद्यपि पूछने के अर्थ में चलता है पर पूछना और बूझना में अर्थांतर है। पूछने में केवल पृच्छा है। उसके जानने, बुद्धि में बैठाने की आवश्यकता स्पष्ट नहीं है। बूझना = बुद्ध या बोध से है इसलिए उसमें बात को भलीभाँति समझने की अपेक्षा है। हाय = इसके दो संकेत हैं। प्रिय के पक्ष में उसके घोर निर्दय होने का, अपने पक्ष में अत्यधिक विवशता का। हमारी = प्रिय की तो यह बात थी कि वह औरों की चाहे जिसकी सुध करे पर हमारी सुध नहीं लेता था। 'हमारी' में प्रियपक्ष के लिए तो उसके द्वारा अत्यधिक उपेक्षा का संकेत है और प्रेमीपक्ष में अत्यंत वेदना का। दीन = दीनता के लिए 'हाहा' शब्द पहले ही आया; फिर 'हाय' से भी उसकी व्यंजना हुई, अब उसे स्पष्ट ही कह दिया। दीनो = प्रिय तो सदा लेनेवाले ही हैं देनेवाले कहाँ हैं—छैं ही रहे हो सदा मन और को दैबो न जानत जान दुलारे। भनौ = 'भनौ' 'कहौ' से अंतर है। 'कहना' में घटना-मात्र से प्रयोजन रहता है पर 'भनना' में उन घटनाओं को हृदयंगम करने योग्य बनाकर कहना पड़ता है। वे बातें इस प्रकार कहो कि मेरे हृदय में आ सकें। त्यौं = इसके द्वारा यह संकेत कि वह जितना ही झूठा है उतना ही प्रेम से रहित भी है। एक ही बात होती तो भी काम चल सकता था। प्रेम से रहित ही होता झूठा न होता, झूठा होता तो प्रेम से रहित न होता तो भी किसी प्रकार काम निकल सकता था। घनआनंद = दूसरे पक्ष में कवि के नाम से अतिरिक्त अर्थ में घना आनंद देने-वाले अर्थ से फिर घोर विषाद देनेवाला अर्थ निकल आता है। कहा = एक तो उनके अवगुण ही अगणित हैं, दूसरे उन्हें किसी प्रकार यदि गिना भी जाय तो प्रयोजन की सिद्धि होने से रही।

सूचना—जहाँ तें = इस पहले चरण को दूत के लिए भी नियोजित कर सकते हैं। प्रिय जिस मार्ग से आता है उसी मार्ग से दूत आया है। प्रिय के मार्गावलोकन में नेत्र लगे थे। दूत को देखकर प्रिय के आने की संभावना करके प्राण उसके आने पर निछावर होते रहे। 'भनौ' में जो कल्पना है वह दूत के लिए होने से प्रसंगप्राप्त हो जाएगी। दूत जान लेने पर 'भनौ' का व्यवहार वक्ता ने कर दिया है। अन्यथा 'भनौ' का व्यवहार प्रिय के लिए वैसा उत्तम नहीं।

अलंकार—विरोधाभास (विशेषतया चौथे चरण में)।

(सोरठा)

घन आनँद रसऐन, कहौ कृपानिधि कौन हित।
मरत पपीहा नैन, बरसौ पै दरसौ नहीं॥ २१॥

प्रकरण—प्रिय के दर्शन के अभाव में प्रेमी के नेत्र दुखी हैं। वह अपने आप कह रहा है, एकांत भाषण के रूप में।

चूर्णिका—रस = जल; प्रेम। ऐन = (अयन) घर। निधि = कोश, खजाना। कौन हित = यह प्रेम कैसा है? [अथवा किसके लिए या किसलिए आप कृपानिधि हैं]। पपीहा० = नेत्ररूपी चातक। बरसौ = जल बरसते हैं; अनुकूलता दिखाते हैं। पै = परंतु।

तिलक—हे आनंद के घन, आप रस के घर हैं और कृपा के कोश हैं। जो रस (प्रेम) का घर हो और कृपा का कोश हो अर्थात् अनुकूलता अपनी ओर से दिखाने की वृत्तिवाला हो उसका यह हित (प्रेम और अनुकूलता) कैसा है कि नेत्ररूपी चातक मर रहे हैं। आप बरसते तो हैं पर उसे दिखाई नहीं देते यह पपीहा केवल जल नहीं चाहता है आपके दर्शन चाहता है। इसकी तृप्ति दर्शन के बिना नहीं हो सकती।

व्याख्या—घनआनंद = कोई बादल बादल तो हो सकता है, पर ऐसा भी हो सकता है कि उसमें रस (जल) न हो। जो रस रहा हो वह पहले ही कहीं बरस गया हो। पर जिस 'घन' की चर्चा यहाँ है वह केवल बादल नहीं है, उसमें 'रस' है। रस का वह घर है। उसमें रस बहुत है। पर केवल रस होने से ही बादल उसकी वृष्टि कर दे ऐसा नहीं हो सकता। हो सकता है कि 'आए आए घन पै वे आइकै उघरि गे'। बादल जल भरे दिखाई तो पड़े पर

वर्षा न करें। पर ये बादल ऐसे नहीं हैं। अनुकूलता प्रदर्शित करनेवाले हैं। अनुकूलता माँगने पर भी मिलती है और बिना माँगे भी मिलती है। माँगने पर मिले तो वह उत्तम नहीं, बिना माँगे मिले तो उत्तम। अमृतं स्वादयाचितम्। बिना माँगे जो मिले वह अमृत। माँगने पर मिले तो वह अमृत तो नहीं और चाहे जो कुछ हो। 'कृपानिधि' होने से अनुकूलता स्वयम् करते हैं। कृपानिधि = 'निधि' शब्द का अर्थ कोश होता है, पर हिंदी में यह शब्द 'नीरनिधि' अर्थात् समुद्र के अर्थ में भी चलता है। दोनो में हिंदी ने कुछ अंतर भी रखा है। जहाँ 'कोश' अर्थ लेते हैं वहाँ स्त्रीलिंग है और जहाँ 'समुद्र' अर्थ करते हैं वहाँ पुंलिंग है। यहाँ कृपा के कोश के बदले 'कृपा के समुद्र अर्थ भी कर सकते हैं,। 'रस के घर' के साथ जैसे 'कृपा के कोश' की संगति अधिक है वैसे ही घन के प्रसंग में निधि का समुद्र अर्थ भी सुसंगत हो सकता है। आप आनंद के बादल, रस के घर और कृपा के तो समुद्र ही हैं बादल में उतना जल नहीं हो सकता जितना समुद्र में, घर में उतना जल नहीं हो सकता जितना समुद्र में। कृपा के अंश का आधिक्य व्यंजित होता है। प्रेम और आनंद से आपमें कृपा विशेष है, बहुत अधिक है। कौन हित = यह प्रेम और अनुकूलता होकर भी किस काम की। अथवा वह है किसके लिए। क्या मेरे लिए नहीं है, पपीहे के लिए नहीं है और किसके लिए है। पपीहा = पी पी करनेवाला। पपीहे के लिए यह सोचा जा सकता है कि वह 'पी पी' केवल पानी के लिए किया करता है। इसी से कदाचित् यह समझकर बादल केवल पानी देकर विरत हो जाता है, उसे दर्शन देने के लिए उसके नेत्रों की तृप्ति के लिए वह नहीं ठहरता। पपीहा केवल जीभ की तृप्ति नहीं चाहता, वह नेत्रों की भी तृप्ति चाहता है। बरसौ० = बादल बरसता है पर दरसता नहीं। यह कैसा विरोध! जो बादल कहीं बरसेगा वह दिखाई भी देगा। इसलिए या तो बरसो का अर्थ यह किया जाय कि आप बरसते कहीं अवश्य हैं, पर मेरे सामने नहीं दिखाई देते। अथवा पपीहा का कहना है कि आपके दर्शन के लिए मेरे नेत्र व्याकुल हैं, निरंतर आँसू की झड़ी लगा रहे हैं। यह झड़ी आई कहाँ से बादल ही तो आँखों में बसा है, बरस रहा है। पर दिखाई नहीं दे रहा है। इस पद्य को केवल प्रिय और प्रेमी के पक्ष में ही नहीं प्रेमी भक्त और प्रिय भगवान् के संबंध

में भी लगाया जाएगा। भगवान् की अनुकूलता तो दिखती है पर वह दृश्य नहीं है, अदृश्य है। दृश्य केवल कृपावारि है।

पाठां०—'दरसौ पै बरसौ' भी पाठ है। दिखते तो हैं, जान पड़ता है कि आप हैं पर आपके अस्तित्व का पता वृष्टि से चलना चाहिए, वह नहीं हो रही है।

छंद—यह अर्धसम मात्रिक छंद है इसके पहले और तीसरे चरण तथा दूसरे और चौथे चरण समान मात्रा के होते हैं। सभी चरण समान हों तो सम छंद, दो दो चरण समान हों तो अर्धसम छंद। पहले-तीसरे चरण विषम चरण कहलाते हैं। दूसरे-चौथे चरण सम चरण कहलाते है। इसके विषम चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं और सम चरणों में तेरह-तेरह मात्राएँ। इसके विषम चरणों में तुक मिलते हैं। तुकांत में गुरु-लघु (ऽ।) रखते हैं। सोरठा नाम इसलिए पड़ा कि यह सौराष्ट्र देशवालों में पहले चला, उनमें बहुप्रचलित हुआ। उन्होंने दोहे को ही उलटकर यह छंद बनाया। इसी से इसका नाम 'सोरठिया दोहा' है, उसका संक्षिप्त सोरठा है। सोरठा छंद और सोरठ राग सौराष्ट्र की विशेषता है।

पहचानै हरि कौन, मो से अनपहचान कौं।
त्यौं पुकार मधि मौन, कृपा-कान मधि नैन ज्यौं ॥२२॥

प्रकरण—भक्त की पुकार भगवान् से। संसार के व्यक्तियों से अपरिचय होने के कारण भगवान् ही भक्त को पहचानते हैं और उसकी पुकार सुनते हैं। इसी से उन्हीं से प्रार्थना की जा रही है।

चूर्णिका—हरि = हे ईश्वर। अनपहचान = अपरिचित। पुकार० = मौन में ही पुकार है। कृपा-कान० = जैसे नेत्रों में कृपारूपी कान लगे हैं। त्यौं पुकारे… ज्यौं = जिस प्रकार आपके नेत्रों के बीच कृपारूपी कान छिपे पड़े हैं, आप देख कर ही सुन लेते हैं, समझ लेते हैं, कृपा करते हैं, उसी प्रकार मेरे मौन में ही पुकार छिपी हुई है। मेरी मौन चेष्टा में व्यक्त होनेवाली पुकार को आपकी कृपा के कान सुन लेते हैं, जो आपके नेत्रों में लगे हैं। आप मेरी दशा (मौन पुकार) नेत्रों से ही देखकर समझ लेते और कृपा करते हैं।

तिलक—हे हरि, मुझे संसार में कोई पहचान नहीं सकता। मैं इस संसार के लिए (बहुत) अपरिचित हूँ। संसार जैसों को पहचानने का अभ्यस्त है वैसा

मैं नहीं हूँ, उनसे भिन्न हूँ। पर आप इसलिए पहचान सकते हैं कि मेरी पुकार मौन में है। विरह के कारण मैं इतने अधिक कष्ट में हूँ कि वेदना की पराकाष्ठा के कारण केवल चुपचाप पड़ा रहता हूँ। चुपचाप पड़े रहनेवाले को भला जगत् क्या जाने पहचाने। पर आपके नेत्रों में कृपा के कान लगे हैं जिससे आप चुपचाप रहने पर भी उन कानों से मेरी पुकार सुन लेते हैं। आपके नेत्रों में कान मात्र नहीं लगे हैं, आप केवल पुकार सुन लेते हैं इतना ही नहीं, उस वेदना की पुकार के सुनने पर उसे दूर करने के लिए कृपा भी करते हैं। जगत् में पहले तो कोई पहचानता ही नहीं, सुनता ही नहीं, सुनने की शक्ति नहीं, पर यदि सुन भी ले तो वह मेरा कष्ट दूर करने का सामर्थ्य नहीं रखता।

व्याख्या—पहचाने = 'पहचान' शब्द 'प्रत्यभिज्ञान' से बना है। पहले अभिज्ञान हो तब प्रत्यभिज्ञान होता है। हमने कोई वस्तु एक बार देखी उसका अभिज्ञान हुआ। फिर अन्यत्र वही वस्तु देखी तो उसका प्रत्यभिज्ञान हुआ, उसे पहचान लिया। संसार के लोगों ने पहले मुझे देखा नहीं तो वे मुझे पहचानेंगे कैसे। तो क्या किसी को कोई पहले से पहचान भी सकता है। नहीं। इसलिए पहले से पहचानने का अर्थ हुआ कि संसार में जैसा विरही मैं हूँ ऐसे विरही को किसी ने पहले देखा नहीं, फिर भला मुझे देखकर वे कैसे पहचानें। मेरी विरह-वेदना असाधारण है। हरि = आप 'हरि' हैं, कष्ट हरण करनेवाले हैं। संसार में ऐसा कौन है। सबको आप आप की पड़ी है, दूसरे का कष्ट कौन हरने जाए। मो से० = किसी से अपरिचित होने में दो हेतु हो सकते हैं। एक तो उसका रंग ढंग ऐसा हो कि वह पहचाना न जा सके। दूसरे देखनेवाले की दृष्टि में कोई दोष हो जिससे वह उसे पहचान न सके। यहाँ दोनो स्थितियाँ हैं। विरही असाधारण विरही है। जगत् की दृष्टि में दोष है। संसार की दृष्टि स्वार्थ की दृष्टि है। जिससे स्वार्थ सधता है जगत् उसे पहचानता है। विरही से जगत् का कौन-सा स्वार्थ सधेगा। त्यौं पुकार = 'बिरही बिचारन की मौन मैं पुकार है', मौन में पुकार का तात्पर्य वेदना की चरमावस्था से है। 'मधि मौन' उलटा समास है, 'मधि नैन' भी उलटा समास है। संस्कृत में तो उलटे समास नहीं होते थे, पर अपभ्रंश में कुछ होने लगे। फारसी के संसर्ग के कारण उलटे समास चल पड़े। कृपा-कान० = कृपा अपनी ओर से की जानेवाली अनुकूलता होती है और कृपा-पात्र पर वह अयाचित प्रदर्शित की जाती है।

भगवान् बिना माँगे ही अनुकूलता दिखाते हैं। संसार तो माँगने पर भी करेगा या नहीं इसमें संदेह। फिर जिसकी मौन-साधना है वह कहेगा कैसे। इसलिए उसके कष्ट का निवारण वही कर सकता है जो अपनी ओर से ही अनुकूलता दिखाए।

(कवित्त)

आसा-गुन बाँधि कै भरोसो-सिल धरि छाती
पूरे पन-सिंधु मैं न बूड़त सकायहौं।
दुख-दव हिय जारि अंतर उदेग - आँच
रोम - रोम त्रासनि निरंतर तचायहौं।
लाख-लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि
साहस सहारि सिर आरै लौं चलायहौं।
ऐसें घनआनँद गही है टेक मन माहिं
एरे निरदई तोहि दया उपजायहौं ॥ २३ ॥

प्रकरण—किसी अत्यंत निर्दय के हृदय में भी दया उत्पन्न हो सकती है कि उसका कोई, जिससे वह उदास हो, उसकी आँखों के सामने ही डूब मरने का उपक्रम करे। यहाँ प्रेमी उसी उपक्रम की चर्चा कर रहा है और इस दृढ़ विश्वास से कि निर्दय प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न होकर रहेगी। प्रेमी बतलाना चाहता है कि प्रेम में शारीरिक अथवा मानसिक यंत्रणा का भय बिलकुल नहीं रहता।

चूर्णिका—आसा-गुन = आसा रूपी रस्सी। आसा० = आशा की रस्सी में अपने को बाँधकर, आशा लगाए रहकर। सिल = (शिला) पत्थर। भरोसो० = भरोसा रूपी पत्थर छाती पर रखकर (हृदय कठोर कर); उसका भरोसा किए रहकर। पूरे = पूर्ण। पन-सिंधु = प्रेम की प्रतिज्ञा के समुद्र में। न सकायहौं = शंकित न होऊँगी, डरूँगी नहीं। दुख-दव = दुःख की दावाग्नि से। उदेग = उद्वेग, व्याकुलता। अंतर = भीतर होनेवाले उद्वेग की आँच में। रोम-रोम = रोआँ-रोआँ, सारा शरीर। त्रासनि = पीड़ाओं से। निरंतर = लगातार। तचायहौं = तपाऊँगी। भाँति = प्रकार। जानि = जानकर, जानते-बूझते हुए। साहस सहारि = साहसपूर्वक सँभालकर। सिर० = सिर पर आरे की भाँति (उन दशाओं को) चलवाऊँगी। उन दुस्सह दशाओं को अत्यंत कष्ट होते हुए भी सहूँगी। ऐसे = इस प्रकार (से)।

तिलक—ऐ निर्दय प्रिय, अब तो मैंने मन में यह टेक इस प्रकार से धारण कर ली है कि जैसे हो तुझमें दया उपजाकर रहूँगी। सबसे पहले तो मैं समुद्र में डूबूँगी। साधारण रूप में नहीं छाती पर पत्थर रखकर और उस पत्थर को अपने से रस्सी द्वारा बाँधकर जिससे जल से निकालने की संभावना देखनेवाले को न हो। भरोसा-रूपी पत्थर अपनी छाती पर रखकर आशा की रस्सी से उसे बाँधूँगी और निःशंकपन के समुद्र में डूबूँगी। आपकी आशा लगाए ही रहूँगी, आपका भरोसा किए ही रहूँगी और अपने पूर्ण पन के निबाहने में निःशंक तत्पर रहूँगी, चाहे आप आएँ या न आएँ, चाहे आपसे प्रेम पाने की संभावना हो या न हो और चाहे आप मेरे कष्ट से व्यथित हों चाहे न हों। पानी में डूबने से आग में जलना-भुनना अधिक कष्टकर है। इसलिए यदि आप डूब मरने के प्रयास से आकृष्ट न होंगे तो मैं दुःख की दावाग्नि से हृदय को जलाऊँगी। जिस दावाग्नि से मेरे अंतःकरण में उद्वेग की भीषण आँच उत्पन्न होगी उस आँच से शरीर के अंग ही नहीं रोएँ-रोएँ को तपाऊँगी और निरंतर तपाऊँगी। प्रिय के वियोग के कारण हृदय के भीतर उद्वेग, दुःख और वेदना बराबर होगी। इस प्रकार की कष्टसाधना से प्रिय के प्रभावित होने की संभावना है। डूबने से जलने में अधिक कष्ट है और जलने से भी अधिक कष्ट है आरे से सिर चिरवाने में। अनेक प्रकार की कठिनाई से सही जा सकनेवाली विरह की दशाओं को इस प्रकार जानते-बूझते साहस बटोरकर सिर पर आरे की भाँति चलवाऊँगी। विरह की विविध प्रकार की आकुलता का प्रदर्शन न करूँगी। भीतर ही भीतर रहूँगी।

व्याख्या—आसा-गु० = यदि कोई शव डुबोया जाता है, जैसे संन्यासियों का या जिनका प्रवाह करना ही विहित है, तो उसे पत्थर पर रखकर रस्सी से बाँध देते हैं। जिससे वह फूलकर हलका होकर पत्थर के दबाव के कारण ऊपर न आ सके। यदि किसी को जीते जी डुबोकर मारना हो तो भी यही प्रक्रिया करनी पड़ेगी। कोई स्वयम् आत्महत्या करना चाहे तो भी डूबकर ऐसे ही मर सकेगा। पत्थर यदि न बाँधा जाय तो वह उतरा जाएगा। आशा का बंधन बहुत कड़ा होता है। डूबकर मरनेवाले की रस्सी पत्थर से सुदृढ़ न बँधी हो तो उसके खुलकर ऊपर आ जाने की संभावना रहती है। उसमें कई फेरे देकर और ठीक गाँठ लगाकर डुबोते हैं। आशा दृढ़ होती है। रस्सी भी

दृढ़ चाहिए, पुरानी रस्सी या कमजोर रस्सी बेकार होती है। 'आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्' बहुत प्रसिद्ध है। भरोसो-सिल = भरोसे में बोझ होता है। जो किसी बात का भरोसा रखता है वह दबा रहता है। उस भरोसे के कारण वह कितने ही ऐसे कार्य नहीं करता जिन्हें भरोसा न होने पर अवश्य करता। वह भरोसा उसे रोकता रहता है। 'भरोसा' में भर 'भार' ही है। भरोसा का अर्थ 'भार से दबना' ही है। कदाचित् 'भारोषित' से 'भरोसा' हो। धरि छाती = छाती पर पत्थर बाँधने से शीघ्र छूटने की संभावना नहीं। भरोसे का प्रभाव छाती अर्थात् हृदय पर बहुत पड़ता है। कार्य में प्रवर्तक हृदय ही होता है। उसे दबाने की या उसके दबने की विशेष अपेक्षा रहती है। पूरे पन सिंधु = एक तो किसी के डूबने के लिए पानी अधिक चाहिए। समुद्र भी महासागर हो तो अगाध जल। कोई खाड़ी हो, तो कम जल सिंधु से भी होगा। 'पन' भी पूरा होना चाहिए। अधूरे पन में तो बीच में पराङ्मुख होने या छोड़ बैठने की संभावना रहती है। न बूडत० = इतने पर भी यदि डूब मरने के लिए जो स्वयम् तत्पर हो उसमें शंका, घबराहट, हिचकिचाहट हो सकती है, पर विरही में वह भी नहीं। घबराहट होने से वह स्वयम् तो डूबेगा ही क्या, कोई अपने को स्वयम् बाँधकर डुबो नहीं सकता। बाँधने और डुबानेवाले की आवश्यकता पड़ती है। यदि डूबनेवाला हो हिचकिचाया तो फिर डुबोनेवाले को क्या पड़ी है। विरही साहस-पूर्वक संनद्ध है। दुख-दव० = डूबने से जलने में अधिक कष्ट इसलिए है कि जल में डूबनेवाला पानी पी जाता है और हृदय का चलना बंद हो जाता है। मरने के पूर्व इतनी मात्रा में पानी का शरीर में पहुँच जाना पर्याप्त है कि श्वासावरोध हो और हृद्गति का संचालन बंद हो जाए। बस। शरीर में और कोई विशेष वेदना नहीं होती। यह कार्य भी शीघ्र हो जाता है। पर जलने में देर लगती है। बहुत जल्द जलनेवाला कपूर भी डूब मरनेवाले से देर तक जलता रहता है, फिर जलने में यह भी बाधा है कि एक अंग के जलने पर भी कोई जीता रह सकता है। एक अंग के जलने में देर लगती है सारे अंग रोएँ-रोएँ को जला देने में अधिक समय लगने से इसमें वेदना अधिक होती है। डूबने पर यदि तुरंत निकालकर उपचार करते हैं तो फिर जीने की संभावना भी है, पर जब सब अंग जल गए तो जीने की संभावना ही नहीं रह जाती। जहाँ बीरे-

धीरे बराबर जलना हो वहाँ राख भर रह जाएगी। आशा-भरोसा जिलाने-वाले होते हैं। रस्सी और पत्थर से बाँध देने पर भी कोई जीता रह सकता है। साँस लेता रह सकता है। पर जब पानी में वह पड़ेगा तब डूबेगा। पर दुःख अर्थात् चिंता तो ऐसी आग है कि वह भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। गिरिधर कविराय ने लिखा है--

चिंता ज्वाल सरीर बन दाहा लगि लगि जाइ।
प्रकट धुआँ नहिं देखियै उरअंतर धुधुआइ।
उरअंतर धुधुआइ जरै जस काँच की भट्टी।
हाड़-माँस जरि जाइ रहै बस केवल ठट्टी।
कह गिरिधर कबिराय सुनो रे मेरे मिता।
वे नर कैसे जियें जासु उर व्यापी चिंता।।

निरंतर = आग यदि सुलगे तो धीमी न पड़े, यदि धीमी पड़े तो उसे प्रज्वलित करते रहने के लिए निरंतरता अपेक्षित है। रोम रोम = प्रत्येक रोएँ को अर्थात् शरीर के प्रत्येक अंश को छोटे से छोटे अंश तक को। त्रासनि = त्रास कई प्रकार के—बड़ों का, जाति का, कुल का त्रास। त्रास को रूपक में प्रस्तुत ही रखा गया। इसका अप्रस्तुत नहीं है। निरंतर ताप यही त्रास है। अथवा कोई जलना नहीं चाहता तो उसे डरा-धमकाकर जलाते ही हैं। तचाना = तपाना, परेशान करना। लाख० = आरे में बहुत से दाँते होते हैं इस आरे में लाखों दाँते ही दाँते हैं, दशाएँ विरह की। आरा क्या है इन्हीं दशाओं से बना विरह का आरा। दुसह = दशाएँ दुस्सह हैं, असह्य नहीं। असह्य तो सही ही नहीं जाएँगी। जानि = जानते बूझते आरे से सिर चिरवाना अधिक कष्ट का विषय है जलने से भी। मयूरध्वज ने आरे से अपने को चिरवाया था। कहते हैं कि आरे से चिरवाते समय उसकी आँख में आँसू आ गए। पूछने पर उसने कहा कि आरे की पीड़ा के कारण ये आँसू नहीं आए हैं। दाहिना अंग बाएँ से बिछुड़ रहा है इस वियोगजन्य कष्ट से दोनो भाग एक दूसरे के लिए रो रहे हैं। सीधे स्वर्ग जाने के कई अत्यन्त संतापदायक प्रयोग प्राचीन काल में चलते थे। कंडे की आग में, तुषानल में, त्रिशूल पर कूदकर, पहाड़ से कूदकर प्राण देना आदि। इसी में आरे से सिर चिरवाना भी है। काशी में करवत (करपत्र–आरा) लेने की चर्चा जायसी की पदमावत और सूरदास के भ्रमरगीत में है। 'काशी करवट' नाम का एक स्थान ही काशी

में है, जिसके नाम से वही संकेत मिलता है—करवट>करवत>करपत्र। आरे से सिर चिरवाने में शर्त यह रहती है कि चिरवानेवाला कष्ट के कारण घबराए नहीं। इसलिए इसमें साहस की विशेष आवश्यकता होती है। साहस को सँभालना पड़ता है, वह छूट-छूट जाया करता है। शरीर के जलाने में तो शीघ्र ही बेहोशी आ जाती है, पर आरे से चिरवाने में व्यक्ति देर में चेतनाशून्य होता है, इसी से वेदना का अनुभव इसमें बहुत हुआ करता है। टेक = प्रतिज्ञा। टेक सहारे को भी कहते है। मन उसकी प्रतिज्ञा के सहारे टिका रहता है, उसी पर डटा रहता है, उसे शीघ्र छोड़ता नहीं, इसी से प्रतिज्ञा को टेक कहते हैं। उपजायहौं = उत्पन्न करूँगी, पहले से दया नहीं है, उसकी लता लगानी है, उसके लिए भी टेक-सहारे की आवश्यकता पड़ेगी।

व्याकरण—'पन' शब्द 'प्रतिज्ञा' अर्थ में संस्कृत का ही है। हिंदी में 'र्' का आगम करके 'प्रण' शब्द बना है। यह संस्कृत में अशुद्ध है, हिंदी को कभी-कभी भ्रम होता है कि यह संस्कृत का है ऐसा नहीं हैं। बूड़त = 'व्रुडि' धातु से बूड, फिर वर्णव्यत्यय से डूब हुआ। व्रज में दोनो रूप चलते हैं। खड़ी में बूड़ना के स्थान पर डूबना ही अधिक प्रयुक्त है। पूरबिहा लोग बूड़ना ही बोलते-लिखते हैं। दव = 'दव' दावाग्नि के लिए है। 'दाव' का अर्थ 'बन' है—वनाग्नि। पर भाषा में 'दव' शब्द दावाग्नि के अर्थ में गृहीत है। इससे क्रिया भी बनी। मानस में जिमि रबिमनि दव रबिहि बिलोकी। कोई-कोई 'दव' को द्रव रखते हैं। सूर्यमणि चंद्रमणि की भाँति द्रवती नहीं, प्रज्वलित होती है—

यत्पादस्पृष्टोऽपि ज्वलति सवितुरिनकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते॥

सहारि—सँभारि>सँहारि>सहारि। या सम्हारि>सहारि। प्रश्न होता है कि सँभारि, सम्हारि भी तो लिख सकते थे, सहारि क्यों। दोनो में अंतर है। किसी वस्तु के सँभालने के लिए सँभालना और किसी भाव को बनाए रखने के लिए, सँभाले रहने के लिए, सहारना। अथवा-'सहार' धातु सहारा देने के अर्थ में मानिए। साहस को सहारा देकर अर्थात् सँभालकर।—'एक ही जीव हुतौ सु तौ वार्‌यौ सुजान सँकोच औ सोच सहारियै' (१५)।

पाठांतर—दुख-दव—दोह दुख-दव हिय जारि उर-अंतर। रोम-रोम—निरंतर यौं रोम-रोम त्रासनि तचायहौं। सहारि—सम्हारि। गही—गड़ी।

(सवैया)

अंतर आँच उसास तचै अति अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यौ कहलाय मसोसनि ऊमस क्यौं हूँ कहूँ सु धरै नहि थ्यावस।
नैनउ धारि दियें बरसें घनआनँद छाई अनोखियै पावस।
जीवनि मूरति जान को आनन है बिन हेरें सदाई अमावस।। २४।।

प्रकरण—प्रिय के वियोग में जो कष्ट हो रहा है उसका पावस के अप्रस्तुत व्यापार द्वारा वर्णन कर रहे हैं। वर्षा होने के पूर्व की स्थिति जिसमें गरमी, औंस और उमस होती है, फिर वृष्टि होती है तो अंधकार और अमावस्या को बृष्टि हो तो और भी अंधकार। चंद्रमा दिखता रहे तो कुछ धैर्य रहता है, घन-घोर वृष्टि हो और चंद्रदर्शन का भी दिन हो तो और भी कठिनाई। प्रिय के दर्शन नहीं और नेत्रों से निरंतर वृष्टि। प्रतिदिन अमावस्या का दृश्य।

चूर्णिका—अंतर० = हृदय के भीतर की तपन से। उसास० = उछ्वास (तक) अत्यंत तप उठती है। उसीजै = उबल जाता है। उदेग० = उद्वेग (व्याकुलता) की औंस (भाप) से। ज्यौ = जी, जीव। कहलाय = (गरमी से) व्याकुल होता है, शिथिल पड़ जाता है। मसोसनि = मसोसने की उमस से। क्यों हूँ = किसी प्रकार भी। कहूँ = कहीं भी। सु = सो, वह। थ्यावस = स्थिरता, शांति। धरै० = स्थिरता नहीं धारण करता, स्थिर या शांत नहीं होता। नैन = नेत्र भी आँसू की धारा बरसते हैं। जीवनि-मूरति = जीवन का दान देनेवाली मूर्ति। जान = सुजान; प्रिय। आनन = मुख (चंद्रवत्)। सदाई = सदा, सब स्थितियों में, निरंतर। अमावस = अमावास्या; घोर अंधकार।

तिलक—प्रियवियोग के कारण होनेवाले विरह से अंतःकरण में जो आग उत्पन्न हो गई है उसकी आँच से केवल अंतःकरण नहीं, भीतर से निकलनेवाली उसासें भी अत्यंत तप्त हो जाती हैं। जैसे निदाघ में लू चलती है वैसी ही स्थिति हो जाती है। फिर मारे गरमी के जैसे होनेवाले पसीने से सारा शरीर उबला सा रहता है वैसे ही उद्वेग की औंस से विरह में मेरे भी सारे अंग उसीजते रहते हैं। निदाघ के अनंतर वर्षा के आने के पूर्व जैसी उमस (ऊष्मा) होती है, उसी प्रकार प्रिय के न मिलने से जो मसोसता रहता है, अत्यंत व्याकुल होता रहता है। इतना अधिक कि किसी प्रकार भी और कहीं

भी धैर्य नहीं धारण करता। फिर जैसे वर्षा होती है वैसे ही नेत्र भी धारासंपात वृष्टि करते हैं। विलक्षण पावस ही छा जाती है। उस जीवनी-संजीवनी मूर्ति सुजान के मुख को बिना देखे उस पावस में भी मेरे लिए सदा अमावास्या ही है। पावस में निरंतर वृष्टि होती रहे तो यों ही अंधकार रहता है और अमावास्या की तिथि रहे तो और भी अंधकार रहता है। मेरे हृदय में नित्य वैसा ही अंधकार है जैसा पावस में घनघोर वृष्टि यदि अमावास्या को हो तो होता है।

व्याख्या — अंतर० = भीतर की आँच से भीतरी सभी अंग तप्त हो गए हैं उनके तपने का पता भीतर से आनेवाली उसास से चलता है जो बाहर अत्यंत तप्त होकर निकलती है। अंग = बाहरी अंग पसीने से और भीतरी आँच से उसी प्रकार हो रहे हैं जैसे किसी पात्र में पानी देकर आलू अरवी आदि को उबालते हैं। उद्वेग की औंस भीतर से होती है जिसका पता पसीने से चलता है। गरमी है ही। इस प्रकार भीतर और बाहर दोनों ओर तपन है। ज्यौं कहलाय० = कहलाना वह व्याकुलता है जिसके कारण कोई अपने सहज अभ्यास को भी भूल जाता है —

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ॥

मसोसना वह विवशता की स्थिति होती है जिसमें अभीप्सित को प्राप्ति न होने से कोई पीड़ित रहता है। प्रिय की अप्राप्ति के कारण जो मसोसना हो रहा है वह वर्षा आने के पूर्व की उमस की भाँति कष्ट दे रहा है। क्यों हूँ = किसी प्रकार भी खड़े, बैठे, लेटे, चलते आदि स्थितियों में। कहीं भी नहीं अर्थात् न घर में न घर के बाहर, न ऊपर न नीचे, न जल के निकट आदि आदि। क्यौं हूँ से तात्पर्य उन उपायों से है जो शरीर को विभिन्न स्थितियों में करने या शरीर पर विभिन्न प्रकार के उपचारों के करने से संबंध रखते हैं। इसके लिए शरीर को स्थानांतरित करने की आवश्यकता नहीं। पर 'कहीं' से तात्पर्य देशांतर में शरीर को ले जाने से है। धरै० = शरीर में उमस (ऊष्मा) के आधिक्य के कारण धैर्य भी नहीं टिकता। जी धैर्य को रखना चाहता है पर उसमें इतना बल नहीं कि उसे रोक सके। धैर्य भी मारे गरमी के इतनी शीघ्रता से निकलता है कि पकड़ में ही नहीं आता। जी में मसोसना ही इतना छा गया

है कि धैर्य के लिए स्थान नहीं रह गया है। वह कहाँ रखे उस धैर्य को। नेनउ० = नेत्र भी धारा देकर, निरंतर धारा बनाए रखकर बरसते हैं, केवल बादल ही नहीं बरसते। बूँद-बूँद हलकी वर्षा भी करते हैं और धारासंपातवृष्टि भी करते हैं। नेत्र जो सामान्यतया धाराप्रवाह नहीं बरसते, वे भी वैसे बरस रहे हैं। पर नेत्र बरसते हैं तो उनमें रुकने का नाम नहीं। बादल धारा बाँधकर बरसते हैं तो कुछ समय बरसते हैं। वर्षा के दिनों में चौमासे में भी प्रतिदिन धारा देकर मूसलाधार वृष्टि नहीं करते। नेत्र केवल वर्षा में ही नहीं बारहो महीने धारा बाँधकर वृष्टि करते रहते हैं। ऐसी अनोखी पावस कहीं कभी दिखाई नहीं पड़ी। क्या तो कभी आनंद के घन ही छाए रहते थे और क्या अब यह अनोखी, रुकने का नाम न लेनेवाली पावस ऋतु ही छाई हुई है। जीवनि मूरति० = संजीवनी मूर्ति, जो मूर्ति मरे को भी अपने दर्शन आदि के प्रभाव के जिला दे ऐसी संजीवनी मूर्ति का मुख सुधाधर ही हो सकता है—सुधा को (अमृत को धारण) करनेवाला। वह सदा अमृतवृष्टि से दर्शक को जिलाता रहनेवाला सुधाकर। अमावस = दुःख का प्रतीक। पूर्णिमा सुख का प्रतीक। नित्य वृष्टि ही नहीं, नित्य अंधकार भी।

पाठांतर—'नैनउ धारि दियें' के स्थान पर 'नैन उघारि हियें' पाठ भी मिलता है। वह पाठ अनोखेपन को और स्पष्ट करता है। बादल छाकर बरसते हैं। नेत्र उघड़कर, खुलकर बरसते हैं। 'हियें' के दो अर्थ हृदय, वक्षःस्थल और आकाश।

जान के रूप लुभाय कै नैननि बेंचि करी अधबीच ही लौंडी।
फैल गई घर बाहिर बात सु नीकें भई इन काज कनौंडी।
क्यौं करि थाह लहै घनआनंद चाह नदी तट ही अति औंडी।
हाय दई ! न बिसासी सुनै कछु है जग बाजति नेह की डौंडी ॥२५॥

प्रकरण—पूर्वानुराग का विरही आप भाग्य को ठोंक रहा है कि प्रिय के रूप पर तो नेत्र मुग्ध हुए और मन उसके वश हो गया। प्रिय के प्रति मेरा अनुराग है यह बात भी सर्वत्र फैल गई जिससे जगह-जगह मुँह चुराना पड़ता है। अभी प्रेम का आरंभ है, फिर भी अथाह जल की-सी स्थिति हो रही है। तट ही पर डूब जाने का पूरा खतरा है। सारा संसार जान गया पर

प्रिय को मेरे प्रेम का मानो पता ही न हो। होता तो मेरी ओर वह उन्मुख होता, उसकी सुमुखता दिखती।

चूर्णिका—जान = सुजान, प्रिय। रूप = सौंदर्य, रूपा, द्रव्य। नैननि = नेत्ररूपी दलालों ने। अधबीच ही = केवल प्रिय की ओर देखा, प्रेमी की ओर नहीं देखा, गाहक का विचार तो किया पर जिसे बेचा उससे पूछा तक नहीं। सौदा दोनो ओर से पटता है, पर इन्होंने एक ही ओर से सौदा पटाकर बेच दिया। नीके = भली भाँति। इन काज = इन नेत्रों के पीछे, इनके कारण। कनौडी = दबैल, बदनाम। तट ही = किनारे पर ही, आरम्भ में ही। औंडी = गहरी। बिसासी = विश्वासघाती। डौंडी = डुग्गी। हाय दई० = प्रेम की डुग्गी तो सारे संसार में पिट गई, सबने जान लिया कि इसका प्रिय के प्रति प्रेम है, पर स्वयम् प्रिय ने ही नहीं सुना।

तिलक—इन नेत्ररूपी दलालों को सुजान के रूप (सौंदर्य; द्रव्य) का लोभ हुआ। उस लोभ में पड़कर उस रूप को प्राप्त करने के लिए उन्होंने मुझे अधबीच में ही दासी बना डाला। मुझसे पूछा ही नहीं कि तुम्हें दासी होना, ऐसे की दासी होना पसन्द है या नहीं। प्रिय से भी यह नहीं समझा कि यह दासी भी कुछ शर्तों पर दासत्व स्वीकार करेगी। यह बात भी चारो ओर फैल गई। घर में और बाहर भी अपने परिवार में भी तथा अन्य लोगों में भी, अपने-पराये सभी जान गए। इन नेत्रों के कारण मुझे दबैल होना पड़ा, दासत्व स्वीकार करना पड़ा और बदनाम भी होना पड़ा। इधर इस प्रेम की अथाह स्थिति है। अभी पूर्वानुराग में ही उभ-चुभ हो रही हूँ। प्रेम की नदी किनारे पर ही गहरी है (मझधार में न जाने क्या होगा)। उसकी थाह का पता तो तब चले जब कोई डुबकी मारनेवाला हो, जो डूबने का भय करेगा वह भला उसकी थाह क्या लगा सकेगा। फिर वह आश्वस्त भी कैसे होगा। प्रेम की डुग्गी जग भर में बज गई, सबको पता चल गया, पर वह प्रिय विश्वासघाती ऐसा है कि उसने उसे सुना ही नहीं। उसकी अनुकूलता इतने पर भी नहीं मिल रही है, मैं उसके वश में, जगत् भर में मेरी बदनामी, पर वह निश्चिंत, सुमुखता का नाम नहीं।

व्याख्या—रूप० = सुजान प्रिय का सौंदर्य ऐसा है कि भला उस पर कौन लुभा न जाए। सौंदर्य में खींचने की स्वयम् शक्ति है और नेत्र भी भारी

लोभी हैं, वे जहाँ कहीं भी अपने लिए तृप्तिकारक रूप देखते है वहाँ लुभाने वाले हैं। प्रिय के सौंदर्य में आकर्षक तत्त्व और नेत्रों से लीन होने की वृत्ति, उभयपक्षवैशिष्ट्य के कारण ऐसा चरम कोटि का लुभाना हुआ। अधबीच = बिना बिकनेवाले से पूछे। कहते हैं कि अकबर को जब यह ज्ञात हुआ कि दुलाल न तो अपने व्यवसाय में पैसा लगाते हैं और न कोई उत्पादन करते हैं, केवल सौदा पटाने के बदले गाहक और विक्रेता दोनो तक से दलाली छे लेते हैं तो उसने अपने राज्य में दलाली का व्यवसाय निषिद्ध कर दिया। दलालों की दलाली बन्द होते ही उनमें हाहाकार मच गया। वे एक पुराने बुड्ढे दलाल के यहाँ गये जो दलाली करना छोड़ चुका था। उससे परामर्श किया कि क्या करना चाहिए, जिससे जीविका का मार्ग अवरुद्ध न हो। उसने बहुत सोच-विचार के अनन्तर कहा कि मुझे पालकी पर बादशाह सलामत की माता के पास ले चलो। ऐसा ही किया गया। वहाँ पहुँचकर उसने बादशाह की माँ से कहा कि बादशाह सलामत के ऊपर गहरी आफत आनेवाली है ऐसा नजूमी (ज्योतिषी) ने बतलाया है। माता घबरा उठी और उससे पूछा कि क्या उसने आफत से बचने का कोई रास्ता भी बताया है या नहीं। बुड्ढे दलाल ने कहा कि सरकार उसने वह भी बताया है। माता ने उत्सुकता से पूछा—सो क्या। दलाल ने कहा कि बादशाह को यदि बेच दिया जाय तो आफत टल जायगी। यह पूछने पर कि कौन बेचे और कौन खरीदे, उसने यह कहा कि उस नजूमी ने यह भी कहा है कि हुजूर सलामत को कानोकान इसकी खबर न हो, नहीं तो इसका असर हट जायगा। बेगम साहबा (बादशाह की पत्नी) उन्हें बेच दें और अम्मा जान उन्हें खरीद लें। सहमति मिलने पर बादशाह का मूल्य एक करोड़ रखा गया। दलाल ने प्रार्थना की कि हम लोग तो दलाल हैं; इसलिए हमें इस सौदे की दलाली मिलनी चाहिए। २५ लाख रुपये दलाली के तै पाए। बुड्ढा दलाल बेगम साहबा के पास गया और सब बातें बताकर उन्हें माल बेचने के लिए राजी कर लिया। अन्ततोगत्वा बादशाह अकबर बिक गये और दलालों को २५ लाख दलाली के मिले। दूसरे दिन वे लोग बादशाह के दरबार में उपस्थित हुए। गुस्ताखी माफ करने का वचन लेकर उन्होंने २५ लाख रुपये बादशाह के सामने रख दिए और सारा किस्सा उसे सुना दिया। कहा कि हम दलालों की जीविका

हजूर ने बन्द कर दी थी इसलिए हम सबने हजूर को ही बेचकर अपनी जीविका चालू रखी है। अब जैसा हुक्म हो हम सब करें। बादशाह ने उनकी इस बुद्धि की दौड़ और उनके सौदा पटाने के इस विलक्षण ढंग को देखकर उनके व्यवसाय पर से निषेधाज्ञा हटा ली। यहाँ प्रेमी का कथन है कि जब कोई वस्तु बिकती है तब तो उससे कुछ नहीं पूछा जाता, पर जब कोई व्यक्ति बिकता हो तो भले ही वह दासवंश का ही क्यों न हो, दास से कहा जाता है कि तुम अमुक के हाथ बेचे जा रहे हो। दास की भी कुछ शर्तें होती हैं। राजा हरिचन्द्र की पत्नी शैव्या ने दासीरूप में बिकते समय दो शर्तें रखी थीं—उच्छिष्ट भोजन न करूँगी और परपुरुष से सम्भाषण न करूँगी। इन नेत्रों ने केवल अपनी दलाली (रूप-लोभ) का ही विचार किया। बिकनेवाले की ओर नहीं देखा, ग्राहक की ओर देखा, अपनी दलाली का विचार रखा, पर बिकनेवाले के कष्ट आदि का कुछ भी विचार नहीं किया। अधबीच का तात्पर्य है दोनो पक्षों में से एक ही पक्ष की ओर ध्यान रखना। प्रेम के जिस मार्ग पर प्रेमी चलना सीख रहा था उस मार्ग पर अभी वह आधा ही चला था, अभी चलने का आरम्भ ही किया था कि वह नेत्रों के कारण प्रिय के वश में कर दिया गया। 'बेंचि करी' में यह व्यञ्जना है कि ये नेत्र ऐसे निकले कि केवल दलाली ही नहीं, बेचने का जो भी मूल्य मिला वह सब ये ही पचा गए। जिसे बेचा उसे कुछ नहीं मिला। अधबीच में बेचा ही नहीं, मूल्य भी अधबीच ही में साफ कर दिया। प्रिय के सौंदर्य का सारा लाभ नेत्रों ने ही उठाया। प्रेमी को प्रिय की प्राप्ति का सुख मिलने तक वे रुके नहीं रहे, सौंदर्य पर रीझ कर प्रेमी को विवशता में डाल ही तो दिया। फैल गई = कोई बात ऐसी होती है कि उसे घरवाले तक नहीं जानते। घरवाले भी जान जाएँ तो बाहरवाले नहीं जानते। इस बात को घर के सभी लोगों ने जान लिया और बाहर के सभी लोगों ने जान लिया, चारो ओर बात फैली, सर्वत्र फैली। बात का फैलना हवा के संचार की भाँति शीघ्र हो गया। नीके भई = भली भाँति अर्थात् जिन लोगों ने जान लिया वे चुप नहीं बैठे रहे, फैली बात थी, सो सभी के मुँहों पर यही चर्चा थी, कोई चर्चा करके ही नहीं रहा, सबनें बदनामी की। न जाने क्या-क्या कहा, अथवा क्या नहीं कहा, सब कुछ कहा। कनौडी = इस शब्द के दबैल और बदनाम

दोनो अर्थ प्रसंग में लग रहे हैं। नेत्रों के बेचने पर दबैल होना पड़ा, प्रिय के प्रेमसंबंध की विवशता भी है और अन्य लोगों के बीच दबाव होने से बदनामी भी है। इन काज = नेत्रों के लिए, उनके लोभ की पूर्ति के लिए। अर्थात् अपना कोई काज नहीं सरा, जो कुछ कार्य थोड़ा-बहुत सधा वह नेत्रों का ही। क्यौं करि० = उस प्रेम-नदी की थाह क्या लग सकेगी जो तट पर ही अति गहरी है। 'थाह लगना' मुहावरा केवल नदीपक्ष में ही नहीं है, प्रेमीपक्ष में भी है। अर्थात् टिकाव का स्थान मिलना, वेदना को सहन करने का मार्ग निकलना। चाह-नदी = प्रेम या नेह की नदी नहीं, चाह की नदी, कामनाओं की नदी। कामनाएँ अपने इतने असंख्य रूप में और बड़े रूप में हो रही हैं कि उनका अनुमान लगाना सामान्य काम नहीं। हाय दई = संसार के लोगों से तो कुछ कहने-सुनने से होगा नहीं वे तो बदनामी करने में लगे हैं। दैव से कहने से कदाचित् कुछ हो। बिसासी = विश्वासघाती, यदि नेत्रों ने अपने लोभ के कारण कुछ विचार नहीं किया था तो सुजान प्रिय को तो कुछ सोचना था कि जो मेरी दासी हो गई उसपर क्या बीतती होगी। व्यवसाय करनेवाले ने यदि सहृदयता नहीं दिखलाई तो ग्राहक को तो सहृदयता दिखलानी चाहिए थी, पर उसने भी वैसा नहीं किया। कम से कम मुझमें यह विश्वास था कि सुजान असहृदयता न दिखाएँगे पर उन्होंने विश्वासघात किया। कुछ = पूरा न सुने, कुछ ही सुन ले तो भी आशा बँधे कि भविष्य में धीरे-धीरे उसकी अनुकूलता प्राप्त हो सकेगी। बाजति = अब तक बज रही है। पहले बजकर बंद हो चुकी होती तो कहा जा सकता है कि उस समय नहीं सुना, इस समय बजती होती तो सुन लेता। पर यह कहने की गुंजाइश नहीं। नेह० = प्रेम की डुग्गी, जिसमें बदनामी पहले होती है वह ऐसी नहीं जिसे कोई न सुने। किसी की प्रशंसा की डुग्गी बजने पर ऐसा हो सकता है कि कुछ या बहुत लोग उसे न सुनें अर्थात् उसपर ध्यान न दें, पर किसी की बदनामी की डुग्गी सुनने के लिए तो लोग सारा काम छोड़कर दौड़ते हैं। ऐसी डुग्गी जिसके सुनने की उत्सुकता जग में सभी को होती है उसे भी वह निष्ठुर नहीं सुन रहा है। मेरी आँखों ने तो वह किया और प्रिय के कानों ने यह।

अलंकार—श्लेष, रूपक (चाह-नदी), विशेषोक्ति (सुनने का कारण होने पर भी न सुनना)।

पाठांतर—काज–बात। लहै–लहौं। है जग०–दै जग जाचत। 'काज' के बदले 'बात' में भी अर्थ वही है। इनकी बात के लिए, इनकी प्रतिज्ञा के लिए, इनकी बात रखने के लिए। मेरा चाहे जो कुछ हो इनका कुछ न बिगड़े। 'लहै' का अर्थ 'पाए' और 'लहौं' का 'पाऊँ' है। पहले में कर्ता अन्य पुरुष में है और दूसरे में उत्तम पुरुष में। पहले प्रयोग से 'घनआनंद' के साथ लहै का अन्वय हो जाता है, दूसरे में 'घनआनंद' संबोधन में हो जाता है। प्रयोग दोनो प्रकार के चलते हैं। पहला प्रयोग ऐसी रचनाओं में अधिक चलता है। 'दै जग जाचत' का अर्थ 'संसार प्रेम की डुग्गी पीटकर मेरी जाँच कर रहा, परीक्षा ले रहा है' कर सकते हैं। अथवा संसार प्रेम की डुग्गी पीटकर प्रिय से ही प्रेमी के लिए कुछ कर देने की याचना कर रहा है, सारा संसार चाहता है कि प्रिय प्रेमी की ओर उन्मुख हो पर वह वैसा नहीं करता। मेरी क्या संसार की भी नहीं सुन रहा है वह।

(दोहा)

जानराय! जानत सबैं, अंतरगत की बात।
क्यौं अजान लौं करत फिरि, मो घायल पर घात ॥२६॥

प्रकरण—प्रिय के प्रति प्रेमी का उलाहना। प्रिय सुजान है पर व्यवहार अजानों का सा करता है यह उलाहने का हेतु है।

चूर्णिका—जानराय = सुजानराय, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, चतुरों के राजा। अंतरगत की = अंतःकरण की, हृदय की। घात = आघात, चोट।

तिलक—हे सुजानराय, आप मेरे मन की सभी बातें जानते हैं। यह भी जानते हैं कि मैं घायल हूँ, घायल पर चोट करना अनुचित है इसे भी आप जानते होंगे, सुजानराय जो ठहरे। फिर भी आप मुझ घायल पर आघात कर रहे हैं, यह अजान की भाँति आचरण क्यों कर रहे हैं। आपके नाम और आचरण में वैषम्य है।

व्याख्या—जानराय = प्रिय केवल सुजान नहीं है सुजानों का राजा है, चतुरों का शासक है। जो केवल चतुर हो, पर शासन करने में दक्ष न हो वह कभी अनुरूप आचरण कर सकता है, पर शासक होने पर संभावना कम रह जाती है। जानत० = सभी बातें जानने का प्रयोजन यह कि कोई अनजानी बात हो तो भी अचरज के लिए अवकाश कम हो सकता है। अंतरगत० = जो भीतर की बात जानता है उसके लिए बाहर की बात

जानना सुगम है, बाहर की बातें तो जानता ही है भीतर की भी जानता है। अजान लौं = स्वयम् अजान नहीं, अजान के समान आचरण है। घायल पर घात = घायल पर शासक—रणनीतिवेत्ता—आघात नहीं करते। किसी पर आघात करने का कारण होता है। किसी ने कुछ काम बिगाड़ा हो, ऐसा न हो तो बिगाड़ने की इच्छा हो। यहाँ जब प्रिय हृदय की सब बातें जानता है तो यह भी जानता है कि मैंने न कभी कुछ बिगाड़ा और न बिगाड़ने की इच्छा ही है। फिर आघात क्यों! 'घायल' से यह भी स्पष्ट है कि यदि कोई काम बिगाड़ा ही हो तो उसका दंड मिल चुका। घायल होकर उसे भोग लिया। अजान इन सबका विचार नहीं करता और घायल पर भी घात करता है, पुनः पुनः आघात करता है। जिसे कोई जानता-पहचानता न हो उसपर भी जाने-अनजाने आघात कर बैठता है। पर आप मुझे जानते हैं, मेरे हृदय की बात जानते हैं।

(सवैया)

लै ही रहे हौ सदा मन और को देवो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपनेहूँ कहूँ दुख, त्यागे सँकोच औ सोच सुखारे।
कैसौ सँयोग बियोग धौं आहि फिरौ घनआनँद ह्वै मतवारे।
मो गति बूझ परै तबही जब होहु घरीकहूँ आप तें न्यारे ॥२७॥

प्रकरण—प्रिय की सुखात्मक और अपनी दुःखात्मक परिस्थिति की विषमता को सामने रखकर उसे उलाहना दिया जा रहा है। यह कहा जा रहा है कि उस व्यक्ति ने जिसने कभी किसी दुःख का अनुभव ही न किया हो व दूसरे के दुःख को कथमपि नहीं समझ सकता। संकोच और सोच दुःखात्मक स्थितियाँ हैं, जो दुःख नहीं जानता वह संकोच और सोच भी नहीं जानता। संयोग और वियोग सापेक्ष स्थिति है। जिसने वियोग ही नहीं जाना वह संयोग को भी क्या जाने। जिसे केवल पाना है, देना या खोना नहीं है उसके लिए उसके कष्ट का अनुभव कठिन है जिसने कुछ खोया है। प्रियपक्ष और प्रेमीपक्ष की विषमता इसमें प्रदर्शित है।

चूर्णिका—और = (अपर) अन्य प्रेमी। जान = सुजान। त्यागे = छोड़े हुए। सुखारे = सुखी (हो)। कैसो० = संयोग और वियोग क्या है, दोनों में क्या अंतर है (इसे आप क्या जानें)। धौं = न जाने। धौं कैसो० = न जाने

कैसा । आहि = है । मो = मेरी । गति = दशा, स्थिति । बूझि परै = समझ में आए । जब होहु० = यदि कहीं घड़ी भर के लिए भी आपसे अलग हों, अपने को भूलें (तो) ।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आप सदा दूसरों (प्रेमियों) का मन लेते रहते हैं, किसी को अपना मन देना तो जानते नहीं । फिर मेरी स्थिति क्या समझें । आपने स्वप्न में भी और कहीं भी दुःख देखा नहीं, फिर दुःख के ही परिवार के जो संकोच और सोच हैं उनका परित्याग आपके लिए सहज है । आप इनका त्याग किए हुए केवल सुखी हैं । न जाने संयोग कैसा और वियोग कैसा, आप न इन्हें जानते हैं और न इनका भेद ही समझते हैं । आपके निकट केवल अति आनंद है जिसमें आप मतवाले हैं । मेरी स्थिति तभी समझ में आ सकती है जब आप अधिक नहीं केवल घड़ी भर के लिए अपने आपसे पृथक् हों । ऊपर की सभी स्थितियां ऐसी हैं जिनमें अपने आपसे पृथक् होने की संभावना नहीं । फिर आप दूसरे को जानें भी तो किस प्रकार जानें ।

व्याख्या—लैं ही रहे हो० = आप केवल प्राप्ति का सुख जानते हैं । 'ही' से केवल अर्थ लेने का संकेत है । लेना 'सदा' । 'सदा' से नैरंतर्य का संकेत है । आपका लेना ऐसा है कि वह भी नहीं रुकता । यदि किसी सदा प्राप्त करनेवाले को कभी प्राप्त होनेवाली वस्तु का मिलना न हो तो भी अप्राप्ति का कष्ट हो सकता है । आपको वह कष्ट भी नहीं । दैबो न जानत० = कभी न देने का परिणाम यह है कि देना तो दूर आप देने की क्रिया भी नहीं जानते । यदि किसी को देने का ज्ञान हो तो संभावना हो सकती है कि वह कभी दान में प्रवृत्त हो जाए । वह संभावना भी नहीं रही । सुजान = सुजान, सज्ञान ज्ञानी, होकर भी जानते नहीं । दुलारे = दुर्लालित जिसका लालन-पालन ऐसे ढंग से किया गया हो कि उसे किसी प्रकार के कष्ट का कभी सामना न करना पड़ा हो । जिसे मनमानी करने दिया गया हो । आपका अभ्यास मनमानी करने का है । देख्यौ न है० = स्वप्न में भी दुःख नहीं देखा, प्रत्यक्ष का फिर कहना ही क्या । दुःख को देखा ही नहीं तो उसकी अनुभूति का प्रश्न ही कहाँ उठता है । कहीं भी दुःख नहीं देखा । जहाँ दुःख देखने की संभावना भी थी वहाँ भी नहीं । 'दुःख देखना' = कष्ट उठाना, इस मुहावरे का प्रयोग

केशवदास ने अपनी रचना में बहुत किया है। त्यागे० = संकोच और सोच को कभी ग्रहण ही नहीं किया, त्यागे ही रह गए। संकोच किसी पराए का होता है और सोच अपने से संबंध रखता है। यदि किसी का संकोच होता तो लेते ही न रहते, कभी संकोच में कुछ देते भी। जब अपनी गाँठ का कुछ जाता तो उस जाने का सोच या चिंता होती। इसलिए आप सुखारे हैं, दुखारे तो कभी हुए ही नहीं। 'रिन कै चित न धन कै चोट'—ऋण देने की चिंता और धन जाने की पीड़ा सबसे परे। परम निश्चित। केशो० = संयोग भी नहीं जानते वियोग का तो कहना ही क्या। बिना वियोग के संयोग की प्रकृत अनुभूति नहीं होती। आप संयोग और वियोग कैसा होता है यह भी नहीं जानते। फिर वियोग की उस चरम सीमा का अनुभव जैसा मुझे होता है अर्थात् संयोग में भी वियोग, इसे भला आप क्या जान सकेंगे। जब जानते ही नहीं तब फिर उसमें होनेवाली अनुभूति से आपका परिचय किस बात का। इसलिए घने आनंद में केवल मतवाले घूमते रहते हैं। मतवाला केवल अपने आनंद में डूबा रहता है, उसे दूसरे के बिषाद की छोड़िए, आनंद का भी ध्यान नहीं रहता। मो गति० = मेरी स्थिति जानने के लिए अपने को थोड़ी देर के ही लिए सही, भूलना आवश्यक है। सहृदयता उसे कहते हैं जो दूसरे के साथ समान हृदय कर सके। दूसरे के हृदय से अपने हृदय को मिला सके, दूसरे के हृदय में अपने हृदय को लीन कर सके। जिसकी अहंता प्रबल होगी वह पराए के हृदय में लीन न हो सकेगा, अपनी सत्ता को दूसरे की सत्ता में मिलाए बिना, लीन किए बिना दूसरे की वास्तविक अनुभूति का अनुभव नहीं हो सकता। किसी अनुभूति को स्वयम् करने की आवश्यकता होती है, यदि उसे स्वयम् न किया हो तो दूसरे को करते देखा हो, देखा न हो तो सुना हो, कुछ भी न किया हो तो कम से कम अनुभूति करने की प्रकृति तो हो। आपने देने के दुःख का अनुभव नहीं किया, दुःख देखा भी नहीं, सुना भी नहीं कि संयोग-वियोग क्या हैं और आपमें उस अनुभूति के लिए प्रवृत्ति भी नहीं है, अपनी अहंता का त्याग आप कर ही कहाँ सकते हैं। परार्थ के लिए स्वार्थ का त्याग आवश्यक है, वह आप में नहीं। प्रिय की हृदयहीनता का अंकन है।

पाठांतर—औ सोच–असोच। संकोच को त्यागे हुए सोच से रहित रहकर। यहाँ संकोच का परित्याग ही सोच से रहित होने का हेतु है। 'असोच'

को 'सुखारे' का विशेषण भी कर सकते हैं। इतने सुखी कि उसका चिंतन में आना कठिन है।

खोय दई बुधि सोय गई सुधि रोय हँसे उनमाद जग्यो है।
मौन गहै चकि चाकि रहै चलि बात कहै तन दाह दग्यो है।
जानि परै नहिं जान तुम्हें लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यो है।
सोचनि ही पचिये घनआनँद हेत पग्यौ किधौं प्रेत लग्यो है ॥२८॥

प्रकरण—विरहिणी की विरहदशा का निवेदन कोई दूती प्रिय से कर रही है और बतला रही है कि प्रेम करने के अनंतर उसको जो दशा हुई वह उस व्यक्ति की-सी है जिसे प्रेत लग जाया करता है। प्रेमावेश और भूतावेश में एक सी स्थिति हो जाती है। विरहिणी को प्रेमोन्माद हो गया है।

चूर्णिका—खोय० = बुद्धि उसके पास रह ही नहीं गई। सोय० = स्मृति सो गई, स्मृति जाती रही। उनमाद० = उन्माद छाया है। चकि० = चकपका उठती है, चकित होकर इधर-उधर देखती रहती है। चलि० = चलकर बात कहती है या चंचल बातें कहती है, अंड-बंड बकती है। तन० = शरीर दाह से दग्ध है। ताहि = उसे, प्रेमिका को। कहा = क्या। आहि = है। खग्यो है = समा गया है, शरीर में प्रविष्ट हो गया है। कहा० = न जाने उसे क्या लग गया है, क्या हो गया है। पचिये = परेशान होती हूँ। हेत = प्रेम। हेत पग्यौ० = उसमें प्रेम पग गया है। उसमें प्रेम प्रविष्ट हो गया है।

तिलक—हे सुजान, आपको देखकर उसमें क्या-कुछ समा गया है समझ में नहीं आता। उसने अपनी बुद्धि खो दी है, उसकी सुध जाती रही। कभी रोती है, कभी हँसती है, उसमें उन्माद की भी स्थिति प्रकट हो गई है। कभी तो वह मौन साध लेती है, कभी चकित होकर इधर-उधर देखने लगती है, कभी अंड-बंड बकने लगती है, उसका शरीर दाह से दग्ध हो गया है। मैं चिंताओं से परेशान हूँ कि उसमें (आपका) प्रेम पगा है या उसे प्रेत लग गया है।। क्योंकि प्रेत लगने पर जैसी चेष्टाएँ होती हैं वैसी ही उसकी भी हो गई हैं।

व्याख्या—खोय० = बुद्धि खो गई, उसके मिलने की संभावना कम है, संयोग से खोई हुई वस्तु मिल जाती है, कदाचित् आपके संयोग से उसकी बुद्धि आ जाए तो आ जाए। सोय = सुध सो गई है, स्मृति काम नहीं कर

रही है। सोने के अनेक कारण होते हैं, बुद्धि खो जाने की चिंता से पीड़ित हो सो गई है, स्वयम् आहत होकर सो गई है, किसी प्रकार के कष्ट से ही सोई है। रोय हँसै = रोकर हँसती है उसकी वृत्ति रोदन की है पर वह उस चरम सीमा पर पहुँच गई है जहाँ पहुँचकर रोदन हास में परिणत हो जाता है। उसका हँसना रोदन की चरमावधि है। उनमाद = उन्माद सोते से जगा है। इसलिए उसमें वेग है, अधिक उन्माद है उसमें। जिसकी कोई वस्तु खो जाए वह रोता है। जिसकी सुध सो जाती है वह रोते में, या रोने के अवसर पर हँसता है। सुध सोई है तो उन्माद जगा है। मौन० = रोकर हँसने से मौन में प्रवृत्त होती है, हँसना भी बंद कर देती है। चकि० = चकित होकर चक्कर काटती है। चाकना का अर्थ चक्कर काटना है। चक्कर काटकर 'रहै' स्थिर हो जाती है। चलि० = चलकर या चंचल। चलकर हो तो प्रिय को लक्ष्य कर चलती है और उसके न रहने पर भी उससे बातें करती है। 'चंचल' में अस्थिरता है, अव्यवस्था भी है। बातें अस्थिर वेगवती हैं और अव्यवस्थित हैं। तन० = शरीर में दाह प्रचंड है। चक्कर काटने और बात (वायु) से दाह (आग) का बढ़ना सहज है। तुम्हें = तुम्हें देखकर जब अभी पुर्वानुराग में उसकी यह स्थिति है तब आगे न जाने क्या होगा। खगौ० = खगना समाने को तो कहते ही हैं, कमी होने को भी कहते हैं। न जाने उसे कौन सा अभाव हो गया है, न जाने उसकी कौन सी वस्तु कम हो गई है। मन आपमें लग गया है, आपकी अप्राप्ति की चिंता जगी है आदि आदि।

क्रम भी हो सकता है—बुद्धि खो गई तो मौन रहती है, सुध सो गई तो चकित हो इधर-उधर देखती है, रोकर हँसती है तो चंचल बातें करती है, उन्माद जगा है तो शरीर में दाह हो रहा है। सोचनि० = सोच में मैं भी पक रही हूँ, वही नहीं। हेत० = प्रेम पगा है चाशनी की भाँति। उसमें वह उसी प्रकार भिन गया है जिस प्रकार चाशनी पगती है। सर्वत्र छाया है। अंतःकरण में भी और शरीर में भी।

तुलना—प्रेम का प्रेत लगने की चर्चा केशवदास ने भी की है—

'केशव' सुधि बुधि हरित सु तुम बिनु बिथा अगाध राधिकहि बाढ़ी।
छूटी लट लटकति कटितट लौं चितवति नीठि-नीठि करि दाढ़ी।
तरकति तकि तोरति तन तरफति अति अपार उपचारन डाढ़ी।
सकसकाति लै साँस अचेत सु चेतहु प्रेम-प्रेत गहि गाढ़ी॥

घनआनंद ने संदिग्ध स्थिति रखकर जो चमत्कार या स्वारस्य उत्पन्न किया है वह केशव की इस रचना में नहीं। घनआनंद की दूती उसकी अवस्था से स्वयम् चकित है, उसकी बुद्धि निश्चय करने में समर्थ नहीं रह गई।

पाठांतर—मौन–मान। कभी रूठने की मुद्रा दिखाती है। चाकि–चौंकि। तन–तैं न। तुम पर अर्थात् प्रिय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दाह–दाग। प्रिय को दाग तक नहीं लगा।

(कवित्त)

घेर घबरानी उबरानी ही रहति घन-
आनँद आरति-राती साधन मरति हैं।
जीवनअधार जान-रूप के अधार बिन
ब्याकुल बिकारभरी खरी सु जरति हैं।
अतन-जतन तें अनखि अरसानी बीर
प्यारी पीर भीर क्यों हूँ धीर न धरति हैं।
देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की
भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं ॥२९॥

प्रकरण—प्रिय के प्रति आँखों की वेदना का निवेदन सखी के या दूत के माध्यम से। आँखों की बीमारी असाध्य होती जा रही है। इस असाध्य रोग से बचने की संभावना नहीं है, अतः उनके समाप्त होने के पूर्व प्रिय उन्हें देख लेते तो अच्छा होता।

चूर्णिका—घेर = घिराव, रोग का आक्रमण। उबरानी = उचटी हुई, आँसू बहाती हुई। आरति = लालसाओं में लीन, अत्यंत दुःखी। साध = प्रबल उत्कंठा (देखने की ललक)। जीवन = जल; जिंदगी। रूप के अधार = रूप का अवलंब; सौंदर्य के आधार, अत्यन्त रूपवान्। खरी = बहुत। अतन = काम। अतन० = कामोपचार से, नेत्रोपचार से। अनखि = चिढ़कर, रूठकर। अरसानी = उदास हो गई हैं, यत्नों से मुँह मोड़ लिया है। बीर = हे सखी (संदेश ले जानेवाली दूती या सखी का संबोधन)। पीर-भीर = पीड़ा की भीड़, वेदना की राशि। असाध = (असाध्य) जो (रोग) अच्छा किया ही न जा सके। निपेटनि = (नि + पेटनी) अत्यंत पेटू, अत्यधिक खानेवाली। भस्मी बिथा = भस्म कर देनेवाली व्याकुलता, स्मक रोग की व्यथा। भभंस्मक रोग का उल्लेख

वैद्यक के ग्रंथ 'भावप्रकाश' में है। इसका लक्षण यह बतलाया गया है कि इसके उत्पन्न होने से भोजन शीघ्र पच जाता है। इसलिए भूख बराबर बनी रहती है, अधिकाधिक खाने पर भी पेट भरता ही नहीं। देखियै = आँखें एक तो स्वभाव से पेटू हैं अर्थात् अधिक खानेवाली हैं, थोड़े में उनकी तृप्ति नहीं। उस-पर उन्हें भस्मक रोग हो गया है, जो खाती हैं वह भस्म होता जाता है, उस-पर करना पड़ रहा है लंघन। आँखों को प्रियदर्शन से तृप्ति नहीं। चाहे जितना देखें देखने की इच्छा तृप्त नहीं होती। ऐसा तो नेत्रों का स्वभाव और अभ्यास, और दर्शन मिल नहीं रहा है, फिर ये जिएँ तो कैसे।

तिलक—(सखी से प्रिय के प्रति संदेश) आपके वियोग में दर्शनेप्सु ये आँखें वेदना के घिराव से घबरा गई हैं। ये नित्य आँसू बरसाती रहती हैं। आपके दर्शन की लालसा में लीन ये प्रबल उत्कंठाओं की मार से मर रही हैं (परेशान हैं)। इनके जीवन का आधार था प्रिय का (सुजान का) रूप-दर्शन। उस अवलंब के बिना ये नाना प्रकार के विकारों से भर गई हैं, व्याकुल हैं और अत्यंत जल रही हैं। ये (विरहावस्था में तापशांति के लिए होनेवाले) कामो-पचारों से चिढ़कर पराङ्मुख हो गई हैं। पीड़ा की भीड़ में ये किसी प्रकार धैर्य धारण नहीं कर पातीं। इसलिए आपसे प्रार्थना है कि आप इन आँखों की असाध्य दशा को केवल देख तो लीजिए। ये अत्यंत पेटू हैं (आपके दर्शन की अति लालसा है इनमें) उस दर्शन के न मिलने से इनमें भस्म कर देनेवाली विरहजन्य व्यथा हो रही है। फिर भी इन्हें नित्य लंघन करना पड़ रहा है, आप के कभी दर्शन नहीं होते। अतः इनकी स्थिति उस अकिंचन भस्मक रोग के रोगी की सी हो गई है, जो जन्म से भारी पेटू रहा हो, अधिक खाने का अभ्यासी रहा हो, और फिर भस्मक रोग की चपेट में आकर अधिकाधिक भोजन की उसे आवश्यकता आ पड़ी हो फिर भी उसे खाने को कुछ भी न मिलता हो, नित्य लंघन ही करना पड़ता हो।

व्याख्या—घेर० = जब कोई बहुत से व्यक्तियों के बीच में होता है तब उन व्यक्तियों की गरमी से ही विशेषतया गरमी के दिनों में घबराहट होने लगती है, भले ही वे व्यक्ति उसके अनुकूल ही क्यों न हों। फिर यदि कोई प्रतिकूल व्यक्तियों से घिर जाय तो उसकी घबराहट बहुत अधिक हो जाती है। घेरनेवाले व्यक्ति यदि सबके सब एक ही बेर आकर घेर लें तो और घबराहट। यदि वह

घिराव बराबर बना रहा तो अधिक व्याकुलता। वेदनाओं का घिराव इसी प्रकार का है। उबरानो = उक्त प्रकार के घिराव में पड़ा सिवा रोने के क्या कर सकता है। यदि घिरा हुआ व्यक्ति अबला हो तो उसकी घबराहट और अधिक। यहाँ आँख शब्द इसी से रखा गया है। नयन आदि पुंबोधक शब्द नहीं लाए गए हैं। घनआनंद = घना आनंद देनेवाले के दर्शन की लालसा में अनुरक्त। राती शब्द केवल अनुरक्त अर्थ नहीं दे रहा हैं उससे लाल अर्थ भी निकल रहा है। आंखों में पीड़ा होते ही वे सबसे पहले लाल हो जाती हैं। आँख लाल होकर अपने रुग्ण होने का, पीड़ित होने का संकेत दे देती हैं। साधनि० = आँखों के चारो ओर घिराव से, जिसे वे देखना चाहती हैं उसे देखने में उस घिराव से ही बाधा हो जाती है, फिर भी यदि आंसू बहते हों तो उनके कारण यदि कोई दिखता भी हो तो आँसू देखने में बाधा देते हैं। तीसरी बाधा आँखें लाल होकर गड़ने लगती हैं तो अन्य किसी बाधा के न रहने पर भी वे पलकें खोलकर नहीं देख पातीं। अतः साधों से, देखने की प्रबल इच्छा से, परेशान रहती हैं। मरति हैं = आँखों का जीना यही है कि वे दर्शनीय को देखें। जब दर्शनीय दिखाई नहीं पड़ता केवल प्रचंड दर्शनेप्सा में ही घुलना है तब आँखें मरी दाखिल हैं। जीवन = नेत्रों का पानी सुजान का रूप ही है। वह रूप चाँदी की ऐसी सलाई है जिसके नेत्रों में दे लेने से उसके विकार निकल जाते हैं। यदि वह रूप न दिखे तो विकार भरते ही जायँगे, बढ़ते ही जायँगे। उनके बढ़ने से भीषण जलन होने लगेगी। वही हो रहा है। 'जीवन-आधार' तो नेत्रों का भीतरी आधार है। पर नेत्रों के लिए प्रिय का रूप (निधि-रूप), केवल भीतरी आधार नहीं है। बाहरी आधार भी है। उसी परदे पर वे टिकती भी हैं, अन्यत्र नहीं। खरी० = भीतर तो जलन है ही। बाहर भी जलन, जिन रूपों पर दृष्टि जाती है वे सभी दाहक हो रहे हैं। जितने दृश्य दिखते है सब विकार बन जाते हैं। अतन = विरह को दूर करने के लिए किए जानेवाले उपचार, जलन को दूर करने के लिए किए जानेवाले उपचार। 'अतन' 'जतन' में द्विरुक्ति भी हो सकती है 'जतन बतन'। इन उपचारों से लाभ नहीं होता। जलन घटने के बदले और बढ़ जाती है। अनाख = चिढ़ने का कारण यह है कि सखियाँ तो यह समझती हैं कि इस उपचार से लाभ होगा, इसलिए एक उपचार से लाभ न होने पर दूसरे का प्रयोग साहस बँधाकर करती हैं, पर उससे भी दाह बढ़ता ही है,

इसलिए उपचार मात्र से चिढ़ हो गई है। अरसानी० = उदास होने या मुँह मोड़ने का कारण यही है कि अब आँखें उपचारजन्य दाह सहन करने में अशक्त हो गई हैं। प्रकृति चाहे जो करे, आपसे आप चाहे जो हो, आँखें फूटें या बचें अब उनपर उपचार का प्रयोग व्यर्थ है। बीर = संदेश वहन करनेवाली सखी या दूती के ही लिए नहीं, आँखों के लिए भी विशेषण हो सकता हैं। प्यारी = ये प्यारी आँखें, अथवा इसे 'पीर' का विशेषण भी मान सकते हैं। यह 'पीड़ा' मधुर पीड़ा है, मीठी पीड़ा है, प्रेम की पीड़ा है। यों सामान्यतया यह पीड़ा कुछ अंशों में प्रिय की ओर से होनेवाली होने के कारण स्वयम् प्रिय है। यह पीड़ा पहले तो प्यारी ही लगी, पर जब पीड़ाओं की भीड़ लगी तब 'अति' से कष्टदायिनी हो गई, इस प्रकार 'प्यारी' की संगति 'पीर' से भी बैठा ले सकते हैं। या विपरीत लक्षणा से कष्टद अर्थ भी ले सकते हैं। अथवा पंजाबी का प्रयोग मानकर 'घनी' अर्थ भी ले सकते हैं। क्यौंहूँ = उपचार करने से भी और उपचार न करने से भी। धरति = धैर्य पकड़ में ही नहीं आता है। पीड़ाओं की भीड़ के बाहर है धैर्य, पहले उस भीड़ से निकल आए तब तो उससे भेंट हो। असाध = मर रही है 'साध' से और दशा हो गई 'असाध', साध की पूर्ति से रहित। असाध का अर्थ असाध्य तो है ही पर उसकी दूसरी व्यंजना है कि जिन नेत्रों की साध न पूर्ण हुई हो उनकी स्थिति असाध हो गई, साध की पूर्ति से रहित। किसी पेटू की साध अधिक खाने की, भस्मक रोग से और अधिक खाने की, फिर भी लंघन करने से और अधिक साध, पर स्थिति असाध। भस्मक रोग यदि लघु आहार करनेवाले को हो और उसे खाने को इच्छित मिलता जाए तो औषध से साध्य होता है। यदि भुक्खड़ को हो और पूरा भोजन न मिले तो दुःसाध्य होता है। जब खाने के ही मिलने में कठिनाई हो तो असाध्य होता है। अखियाँ = दोनो आँखें। दो को एक ही प्रकार का एक-सा रोग हो तो विलक्षणता ही है, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के भेद से रोग में अंतर पड़ता है।

अलंकार—विरोधाभास।

पाठांतर—उबरानी-डबरानी। मलिन या उदास ही बनी रहती हैं, मन में खलबली मची रहती है। अधार-अहार। रूप का आहार, भोजन। भोजन न

करने से भी तरह-तरह के विकार शरीर में होने लगते हैं। नेत्रों को आहार नहीं मिलता इससे विकारग्रस्त हो रहे हैं।

बिकच नलिन लखें सकुचि मलिन होति,
ऐसी कछू आँखिन अनोखी उरझनि है।
सौरभ समीर आएँ बहकि दहकि जाय
राग भरे हिय में बिराग मुरझनि है।
जहाँ जान प्यारी रूप गुन को न दीप लहै
तहाँ मेरे ज्यौ परे बिषाद गुरझनि हैं।
हाय अटपटी दसा निपट चटपटी सों
क्यौं हूँ घनआनँद न सूझै सुरझनि है।३०।

प्रकरण—प्रिय के प्रति विरहिणी का विरह-निवेदन। आंखों, हृदय और प्राण की दशा का उल्लेख। विरहदशा की विलक्षणता, उसके वेग और उपायाभाव का निदर्शन।

चूर्णिका—बिकच = खिला हुआ। नलिन = कमल। उरझनि = उलझन। सौरभ = सुगंध, सुगंधित। बहकि = बहककर, सुधबुध खोकर। दहकि जाय = जल उठती है। रागभरे = प्रेमयुक्त। बिराग = विराग के कारण मन मुरझा जाता है। कमल आदि को देखकर उनसे विराग होता है और हृदय में मुरझन हो जाती है संयोग में 'कमल, सौरभ, समीर' आदि प्रेम के उद्दीपक होते हैं हर्ष उत्पन्न करनेवाले, वियोग में इनसे क्लेश उद्दीप्त होता है, विषाद उपजता है)। रूप = सौंदर्य; रूपा, चांदी। गुन = गुण; बत्ती। ज्यौ = जीव, मन (में)। गुरझनि = गांठ। जहाँ = जहाँ प्रिय के रूपगुण का प्रकाश नहीं मिलता (जहाँ वह दिखाई नहीं पड़ता) वहाँ मेरे हृदय में दुःख की गाँठ पड़ जाती है (दुःख जम जाता है)। अटपटी = बेढंगी, विलक्षण। निपट = अत्यंत। चटपटी॰ = अति प्रबल वेग से। न सूझै = सुलझाव का कोई उपाय नहीं दिखाई देता।

तिलक—विरह में वे वस्तुएँ, जो संयोग में सुख देती थीं, दुःखदायिनी हो गई हैं। आँखें जो पहले (संयोग में) कमल को देखकर प्रसन्न होती थीं अब खिला कमल देखकर संकोच से मलिन हो जाती हैं। इन आंखों में कुछ अनोखी, नए ढंग की, उलझन हो गई है। सुगंधित वायु के शरीरगत संस्पर्श

से कभी हृदय शीतल और प्रफुल्लित होता था। पर प्रिय के राग से भरे हृदय में अब उस वायु के कारण विराग हो रहा है, उधर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। पहले हृदय प्रवृत्यात्मक था अब निवृत्यात्मक हो गया है। अब वह पहले तो बहक जाता है फिर जल उठता है। उसमें मुरझाहट हो आती है। मन की स्थिति यह है कि सुजान प्रेयसी के रूप-गुण का दीपक न पाने से इसमें विषाद की ग्रंथियां पड़ती जाती हैं और ग्रंथि में कहाँ क्या पेंच है उसे कैसे खोलें इसके लिए प्रकाश मिलता नहीं, इससे गाँठें ज्यों की त्यों पड़ी हैं। हा विरह की यह कैसो वेढंगी दशा है, इसमें अत्यंत प्रबल वेग तो हो आता है, पर उस वेग के आ जाने से स्थिति बिगड़ जाती है, किसी प्रकार सुलझने का मार्ग ही नहीं सूझता।

व्याख्या—बिकच० = खिला कमल देखने से प्रिय के प्रसन्न मुख का स्मरण हो आता है। इसलिए नेत्र उदास हो जाते हैं। कमल सूर्य को देख कर खिलते हैं और उसे न देखने पर मुरझा जाते हैं। पर उन्हें देखकर कोई खिलता चाहे हो पर मुरझाता नहीं, विरही अलबत उन्हें देखकर मुरझाता हैं। वह सोचता है कि प्रिय के प्रति इन कमलों में कैसी आस्था है कि प्रिय को देखकर खिलते हैं और उसे न देखकर मुरझा जाते हैं। प्रेमी की आँखें भी कमल की भांति हैं वे अपने प्रिय के प्रति कमलवृत्ति दिखाती हैं इससे संकुचित होती हैं और मलिन होती अर्थात् मुरझा जाती हैं। कमलों का प्रिय फिर भी समय पर आया जाया करता है पर मेरे प्रिय के समय पर लौटाने की भी संभावना नहीं हैं, इनकी मलिनता का कारण यह है। कछू अनोखी उरझनि = अनोखी उलझन इसलिए कि आँखें कमल की सजातीय हैं। अपना गोत बढ़ते देखकर सुख होना चाहिए, यहाँ दुःख होता है। अपने से सकुचना उलटी बात है। कोई किसी कारण कुछ संकोच करे भी तो मलिन तो नहीं ही होता। पर आंखें नई बात कर रही हैं। सौरभ० = सुगंधित वायु से प्रिय की सुवास का स्मरण हो जाता है। सौरभ का कार्य है पोषण, पर यहाँ हृदय बहक जाता है। सुगंध से बहके का बहकना बंद होता है, यहाँ उलटी हो रही है। सौरभ-समीर से शीतलता मिलती है, यहाँ; जलन उठती है। राग० = संयोग में हृदय राग से भरा था, वियोग में तो राग अधिक हो होगा। पहले उसमें ऐसा नहीं होता था जैसा अब हो

रहा है। राग से जो भरा है उसमें विराग कहाँ से आया, विशेष राग हो तो हो सकता है, विगतराग नहीं हो सकता। जहाँ = जबतक प्रिय का दर्शन रहता है तबतक तो बात बनी है, ज्यों ही प्रिय के दर्शन का अभाव हुआ, वियोग में ही नहीं संयोग में भी प्रिय का दर्शन न होने पर विषाद होता है। जान० = सुजान, ज्ञानयुक्त, ज्ञान को प्रकाश कहते ही हैं। व्यंजना में चाहें तो 'जान प्यारी' को प्राण-प्यारी भी कह सकते हैं। जो प्राणों को प्रिय हो उसके दर्शन न होने से 'जी' (प्राण) का विषादमय होना ठीक ही है। रूप = सौंदर्य, चाँदी की भाँति उजला भी और शीतल भी। प्रिय के रूप ही नहीं उनके गुण की विशेष प्रकार की मुद्राएँ, चेष्टाएँ आदि। 'रूप गुण का दीपक' कहने में रूप-गुण ही दीपक भी हैं और प्रकाश भी हैं। ज्यो० = जी में प्रकाश नहीं रहता कहने में यह भी है कि उसमें जो ज्योति है वह प्रिय के रूप-गुण के ही कारण है। जी में अपना प्रकाश भी नहीं है। यदि प्रकाश होता तो कुछ तो विषाद या अज्ञान या अंधकार छँटता रहता। जब जी में प्रकाश नहीं तो नेत्रों में भी प्रकाश नहीं रह जाता। परे० = पड़ जाती है, गाँठ गहरी पड़ती है। 'गाँठ पड़ने' और 'गाँठ होने' में अंतर है। गाँठ पड़ी, गहरी पड़ी, गाँठ होगी तो गहरी भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती। बिषाद० = विषाद की गाँठ का तात्पर्य है अनेक विषादों की गाँठ, एक विषाद दूसरे से उलझ जाता है। ऐसा उलझता है कि उनमें से कोई बाहर नहीं हो पाता। यदि गाँठ न होती तो कदाचित् कोई विषाद तो हट जाता। अटपटी० = ऊँची-नीची, एक प्रकार की नहीं, बेढंगी। दशाएँ केवल बेढंगी नहीं हैं उनमें वेग भी बहुत अधिक है। सों = से, सहित; केशवदास के 'स्यों' की स्थिति। क्यों हूँ = न तो आँखों में प्रकाश, न मन में प्रकाश, न गाँठों पर प्रकाश और न गाँठ खोलनेवाले के पास कोई युक्ति। इससे सुलझना तो दूर स्वयम् सुलझना ही नहीं दिखाई देता।

व्याकरण—'होति' = यहाँ बहुवचन है। 'होतिं' के अर्थ में है। व्रज में 'होतिं' तो चलता है, पर 'होति' से दोनो वचनों का काम चला लेते हैं। अनोखो = संस्कृत 'नवक' से नोक, नोख फिर 'अ' का आगमन आरंभ में, 'अनोख', अनोखा, अनोखो। 'नोखे की नायन बाँस की नहरनो' में अपने पूर्वरूप में ही है। 'मेरे ज्यो' में 'ज्यो' अधिकरण में है। विभक्ति लोप के कारण 'मेरो'

का मेरे। सर्वनाम विशेषण हो गया है। अटपटी = अट्ट = ऊँचा, पट = नीचे की ओर, ऊँची-नीची, विषम। निपट = जिससे किसी की पट न सके, जिसका पटाव या समाप्ति न समझी जा सके, अत्यंत।

पाठांतर—लखें—देखें। लखना ध्यान से देखना, किसी विशेष छान-बीन की वृत्ति से देखना होता है। इसलिए लख पाठ ठीक है।

तब ह्वै सहाय हाय कैंसें धौं सुहाई ऐसी
सब सुख संग लै बियोग दुख दै चले।
सींचे रस रंग अंग-अंगनि अनंग सौंपि
अंतर मैं बिषम बिषाद-बेलि बै चले।
क्यौं धौं ये निगोड़े प्रान जान घनआनंद के
गोहन न लागे जब वे करि बिजै चले।
अति ही अधीर भई पीर-भीर घेरि लई
हेली मनभावन अकेली मोहिं कै चले ।।३१।।

प्रकरण—संयोगावस्था से वियोगावस्था में क्या अंतर पड़ गया है और प्राणों पर क्या आ बनी है इसका वर्णन है। प्रिय के संयोग से सभी सुखदायक स्थितियाँ साथ थीं। वियोग में कोई साथ देनेवाला नहीं; अकेले कष्ट भोगना पड़ रहा है। प्राण भी पहले ही निकल गए होते तो अच्छा था! अब उनसे वेदना सही नहीं जाती है। नायिका की उक्ति सखी के प्रति, प्रिय की निष्करुण वृत्ति का उल्लेख।

चूर्णिका—ह्वै = होकर, हुए। सहाय = सहायक, प्रेम में साथ देनेवाले। सुहाई = (अब) ऐसी (दुःखद) बातें कैसे अच्छी लगीं? रस = जल, प्रेम। सींचे० = अपने प्रेम के रंग से युक्त मेरे अंगों को काम के हवाले करके। अंतर = हृदय। बै = बोकर। निगोड़े = स्त्रियों की गाली, जिसके यहाँ कोई गोड़ (व्यक्ति) न हो, निर्वंश; जिसके गोड़ (पैर) न हो, चलने में अशक्त। गोहन = साथ। बिजै = (विजय) हृदय पर विजय प्राप्त करके, हृदय को वश में करके। पीर-भीर = पीड़ाओं की भीड़, वेदनाओं की राशि। हेली = (खेली अथवा हेला करनेवाले) खेल करनेवाले, खिलाड़ी, क्रियाशील ('अथवा हे अली', हे सखी)। मनभावन = मन को भानेवाले प्रिय।

तिलक—हे सखी, पहले जो प्रिय सहायक हुए उन्हें न जाने कैसे ऐसी

करनी अच्छी लगी कि वे अपने साथ समस्त सुखों को लेते गए, केवल बिछोह का दुःख मुझे देकर मुझसे वियुक्त हो गए। जिन्होंने संयोग में प्रत्येक अंग को प्रेम के आनंद के रस से सींचा था उन्हीं अंगों को अपने पास न रखकर अनंग (कामदेव) के हवाले करके और उसी सिंचाव को दूसरी ओर प्रवृत्त करके हृदय में विषम विषाद की लता बोकर वे चले गए। पहले जो रस-रंग अंग को सींचता था वही अब विषाद की लता को सींचने लगा। ये प्राण अब तो छटपटा रहे हैं पर ये निगोड़े प्राण आनंददायक प्रिय सुजान के साथ उस समय ही न जाने क्यों नहीं लग लए जब वे हृदय को वश में करके यहाँ से जाने लगे (कदाचित् इन प्राणों में गतिशीलता ही नहीं रह गई थी इसी से ये उनके साथ नहीं जा सके)। अब तो केवल विषाद या वेदना एक नहीं है, उस वेदना की भीड़ लगी है। उनके घिराव से अधैर्य हो रहा है। वे प्रिय मुझे इस घिराव में अकेले छोड़ गए। सहायक को कष्ट में भी हाथ बँटाना चाहिए था पर उन्होंने कष्ट में मुझे अकेला ही छोड़ दिया।

व्याख्या—तब = संयोगावस्था में, इससे यह स्पष्ट है कि प्रिय की अनुकूलना संयोगावस्था में प्रेमी को प्राप्त थी, या कम से कम प्रेमी संयोगावस्था में उनकी मुद्राओं चेष्टाओं से अनुकूलता अनुभव करता था। प्रेम के क्षेत्र में तीन स्थितियाँ रहती हैं प्रिय की प्राप्ति को लेकर—अयोग, संयोग, वियोग। प्रिय से प्रेमी का जब 'अयोग' रहता है तब वह भी एक प्रकार का 'वियोग' ही होता है। अयोग की इस स्थिति को पूर्वराग या पूर्वानुराग कहते हैं। अयोग की या पूर्वानुराग की स्थिति से संयोग की स्थिति उत्पन्न होने से प्रेमी की धारणा यह है कि पहले जो पूर्वराग का विरह था उसमें तो प्रिय ने सहायक का आचरण किया और संयोग का सुख मिला। अब तो वियोग में उस पूर्वराग से बढ़कर कष्ट हो रहा है, फिर भी वह सहायक नहीं होता। उसके सहायक होने से ही तो इस लालसा का उदय हुआ कि इस समय भी उसकी सहायता हो। सहाय = सहायता करनेवाला जिसकी सहायता करता है उसको या उसकी स्थिति को गौरव देकर ही ऐसा करता है इससे उसका पक्ष गुरु-पक्ष होता है। पहले यह गौरव देकर अब ऐसा क्यों कर रहे हैं। हाय = वेदना की अधिकता व्यंजित करने के लिए। जिससे जो संभावना न हो उससे वही प्राप्त हो तो अधिक वेदना होती है।

उसमें यह प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों हुआ। कैसें धौं = न जाने कैसे, अभी तक वैसा करने के हेतु का पता नहीं चल सका है। आगे भी पता चल जायगा ऐसी संभावना नहीं है। साथ ही अनुकूलता और पराङ्मुखता में विषमता बहुत अधिक है। ऐसा क्यों हुआ, इतना अधिक क्यों हुआ। इसकी स्पष्टता आगे के 'ऐसी' शब्द से होती है। सुहाई ऐसीं = प्रिय यदि किसी प्रेमी को कार्याधिक्य आदि कारणों से भूल जाए तो भी कहा जा सकता है कि उसके आचरण में औचित्य है। जो किसी का प्रेमी हो यदि उसको कष्ट देना प्रिय को अच्छा लगने लगे तो आश्चर्य की बात है। उसे कष्ट देना रुचने लगा है। सब सुख = यदि ऐसा न होता तो वह अपने साथ सब प्रकार के सुखों को क्यों लेता जाता। संग लैं = अपने साथ ही ले गया है। सुखों को यह स्वतंत्रता भी नहीं दे गया कि वे प्रेमी के पास स्वयम् जा सकें। बिछोह० = प्रिय के 'वियोग' का दुःख उसके अभाव का दुःख है। पर उसके 'बिछोह' का दुःख उसके 'छोहरहित' होने का है, प्रिय के वियोग का दुःख होता तो इतना अधिक न होता। प्रिय 'छोहरहित' ममत्वरहित, प्रेमरहित है। 'बिछोह' का दुःख 'वियोग' के दुःख से बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है। अभाव का सद्भाव हो सकता है पर यदि किसी में ममत्व या प्रेम ही न हो तो उसे उत्पन्न करना कठिन होता है। दै चले = देकर चले ही गए; यह भी न देखा कि इससे उसको कितना कष्ट होगा। दुःख भी संग न लग जाए इसलिए चलते बने, रुके तक नहीं। सींचे = जिन अंगों को प्रेम के रंग से सींचा था, स्वयम् उन अंगों का पोषण किया था, किसी से सिंचवाया नहीं था। सींचने में रस लेते थे, 'रंग' या आनंद का अनुभव स्वयम् भी करते थे। वह 'रस' और वह 'रंग' भी उन्हीं का था जिससे सींच रहे थे, कहीं अन्यत्र से नहीं लाए थे। पर विपरीत आचरण यह किया कि जो अनंग है—अंग से रहित है—उसे उन अंगों को सौंप दिया तब गए। भला जिसके अंग हीं न हो वह अंग की चिंता क्या करेगा। सौंपि = सपुर्द कर गए, उसी को भविष्य में अंगों की देख-भाल करने के लिए दे गए। अपने आप जो अतिचार किया, सो तो किया ही जिसे सौंपा वह भी अंगों के प्रति न्याय करनेवाला नहीं। अन्तर में = बाहर होती तो कदाचित् हटा दी जा सकती। भीतर होने से उसकी जड़ दृढ़ होगी, शीघ्र हटाए हटेगी नहीं। बिषम० = जिस विषाद के रूप में समता नहीं है। तीव्र वेग ही हो पर सम हो तो हो सकता है कि उसके सहन

करने की साहस-वृत्ति संचित कर ली जाए। यह तो कभी कुछ और कभी कुछ रहता है। लता की गति मनमानी होती है जिधर ही बढ़ गई उधर ही, विषाद की भी ऐसी ही स्थिति है। बैं = बोकर चले गये, अनंग को अंग सौंपे और विषाद-बेलि भी बोकर सौंप दी। वही माली की भाँति इसके विस्तार के प्रयत्न करता रहेगा। जो अंग रस-रंग से सिंचे हैं उनका रस-रंग अब वह विषाद-बेलि में ले लेकर दे देगा। वह विषाद की बेलि उसी रस-रंग से सिंचकर बढ़ेगी। क्यों धौं = न जाने क्यों। इस समय निकलना चाहते हैं। उस समय यदि प्राण निकल गए होते तो प्रिय का साथ उन्हें मिल जाता। अब यदि निकलें भी तो प्रिय को खोजेंगे कहाँ, वह तो न जाने कहाँ है। ये प्राण मुझे इस समय कष्ट दे रहे हैं प्रिय की ओर ही देखते हैं मेरी ओर ध्यान नहीं देते। यदि ऐसा ही करना था तो प्रिय के साथ क्यों न चले गए, मुझे क्यों कष्ट दे रहे हैं। अपने को सँभालना तो कठिन है फिर प्राणों को कौन सँभाले। ये उन्हीं के लिए रो रहे हैं। उन्हीं के साथ चले जाते तो कम से कम इनके रोने-कलपने से तो राहत मिलती। ये = प्राण नित्य बहुवचन है। एक नहीं अनेक होने से अधिक कष्ट है। एक को ही सँभालना कठिन है, इन पंच प्राणों को कौन सँभाले। निगोड़े० = जिनका कोई न हो उन अनाथों को पालना तो और भी कष्टसाध्य होता है, अपने पास इनके पालने के योग्य सामग्री भी कहाँ है। वे प्रिय के साथ गए होते तो अच्छा था। प्रान० = प्राण को 'जान' के साथ जाने में घन आनंद मिलता। यहाँ तो विषाद है। गौहन = जिसने मुझे जोता जब उसी की ओर इन्हें प्रवृत्त होना है तब मुझ पराजित को उसी समय छोड़ देते, विजयी के साथ ही चले जाते। अब मेरे साथ दुःख भोगते क्यों नहीं। उसके साथ नहीं लगे तो मेरे साथ लगें, मेरा साथ दें। जब = परदेश जाते समम मुझे विवश करके जब वे जाने लगे, उनके साथ भारी लाव-लश्कर था। प्राणों का गुजर उनके साथ हो जाता। मुझ अकेली के पास क्या धरा है। 'वे' आदरार्थ ही बहुबचन नहीं, बहुत्वबोधक भी है। अति० = मेरे अधैर्य का हेतु एक नहीं है, अनेक हैं। ऊपर से ही बहलाती आ रही हूँ। संप्रति उनका नया हेतु भी आ गया है, पीड़ाओं की भीड़ ने घेर लिया है। इस अवसर पर सहायक की अपेक्षा थी। हेली = क्रीड़ाशील, स्वयम् तो कीड़ाशील हैं, केलि में ही पड़े रहते हैं, उनकी यह भी एक केलि (क्रीड़ा) है कि उन्होंने इस प्रकार

मुझे परित्यक्त कर रखा है, उन्हें मेरा इस प्रकार विरह-कष्ट झेलना रुचता है। स्वयम् तो 'स + केलि' हैं और मैं 'अ + केलि' रहती हूँ। मोहिं = मुझे, अथवा मोहित करने के अनंतर मुझे अकेली करके, छोड़कर चलते बने। मनभावन = मन को रुचनेवाले, मेरे मन को तो वे रुचते हैं और उनके मन को कष्ट देना रुचता है।

रोम-रोम रसना ह्वै लहै जो गिरा के गुन
तऊ जान प्यारी निबरैं न मैन-आरतैं।
ऐसे दिनदोन पै दया न आई दई तोहि
बिष-भोयो बिषम बियोग-सर मारतैं।
दरस - सुरस - प्यास भाँवरे भरत रहौं
फेरियै निरास मोहि क्यौंधौं यौं'ब द्वार तैं।
जीवनअधार घनआनँद उदार महा
कैसें अनसुनी करी चातिक पुकार तैं ॥३२॥

प्रकरण—प्रेमी की पृच्छा है प्रिय या प्रिया या प्रेयसी से, मुझे वियोग में क्यों डाला गया, अपने द्वार से निराश क्यों लौटाया गया, मेरी पुकार क्यों नहीं सुनी गई।

चूर्णिका—रोम० = यदि प्रत्येक रोम जीभ बनकर वाणी का गुण पा ले, रोएँ-रोएँ में बोलने की शक्ति आ जाए। तऊ = तो भी। निबरैं न = चुक नहीं सकतीं। मैन-आरतैं = कामजन्य लालसाएँ। दिनदोन = दिन-दिन दीन, सदा दीन। बिष-भोयो० = विष से भींगा या बुझा हुआ। मारतैं = मारते हुए। दरस० = दर्शन-रूपी सुरस (मीठे जल) की प्यास के कारण, उसे बुझाने के विचार से। भाँवरे० = चक्कर काटता रहता हूँ। फेरियै० = इस प्रकार निराश करके मुझे अपने द्वार से क्यों लौटाते हैं ? तैं = तूने।

तिलक—हे सुजान प्रिय, मेरी कामजन्य लालसाएँ इतनी अधिक हैं कि यदि प्रत्येक रोम में जीभ हो जाए और बोलने की शक्ति भी मिल जाए और सब रोम उन लालसाओं का आख्यान करने लगें तो भी वे इतनी अधिक हैं कि कहकर समाप्त नहीं की जा सकतीं। जिसकी प्रिय के प्रति इतनी लालसाएँ रही हों कि प्रियप्राप्ति से ही कुछ पूर्ण हो सकती हों, जो इन लालसाओं की अपूर्ति के कारण दिन प्रति-दिन दीन होता जा रहा हो, दैव के नाम पर आपको

उसे वियोग का विष में बुझा बाण मारते दया नहीं आई । मैं आपके दर्शन से सुरस (मीठे जल) की प्यास बुझाने के लिए आपके द्वार पर चक्कर काटता रहा और मुझे आपने द्वार से न जाने क्यों निराश लौटा दिया । हे जीवन (जल; जिंदगी) के आधार आनंद के बादल अत्यंत उदार आपने अपने चातक की पुकार कैसे अनसुनी कर दी ।

व्याख्या—रोम-रोम० = असंख्यता व्यक्त करने के लिए पहले तो कहनेवाले की संख्या अनगिनत रखी, रोओं का गिनना कठिन है, वे बहुत हैं, अनगिनत हैं । फिर वे बोलें अर्थात् बराबर बोलते रहें । बोलने में नैरंतर्य भी हो, फिर भी वे लालसाएँ कहकर चुकाई नहीं जा सकतीं । रसना = रस का अनुभव करनेवाली रसना, जीभ क्या कहेगी । नाम चुनने में इसका ध्यान रखा है कि वह रसात्मक अनुभूति को ग्रहण करने में समर्थ है । इसी से केवल रसना कहकर संतोष नहीं किया गया । लहै० = वाणी का गुण भी प्राप्त करे, केवल आस्वाद मात्र का अनुभव करके न रह जाए । रसना से आस्वाद भी प्राप्त होता है और यह वाणी को व्यक्त करने में भी समर्थ है । गिरा० = केवल वाणी ही नहीं, स्वयम् वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के गुण, वे जो चाहें उसे व्यक्त कर सकती हैं, निरंतर बोल सकती हैं । जान प्यारी = 'जान प्यारे' पाठ होना चाहिए । 'प्यारी' शब्द ठीक नहीं बैठता । आगे 'घनआनंद' पुलिंग शब्द आया ही है अथवा 'प्यारी' शब्द का अन्वय 'आरतें' से किया जाए । निबरें = निवृत्त हों, समाप्त हों । मैं ० = काम-लालसाओं से पूर्वानुराग की स्थिति का वर्णन स्पष्ट हो जाता है । दिनदीन = 'दिनदानी' का प्रयोग तुलसी ने किया है, उसी ढर्रे पर 'दिनदीन', प्रतिदिन दीन । पहले दिन जितना दीन है अगले दिन उससे अधिक दीन, उससे आगे के दिन और दीन, इसी क्रम से उत्तरोत्तर जो दीन होता चला जाए । दया न आई = किसी दीन पर किसी को दया न आए तो न आए पर जो दिन-दिन अधिकाधिक दीन होता जा रहा हो उसपर निर्दय को भी दया आ जाती है । कोई हृदय से दयाशील हो या फिर दया के आलंबन में आकर्षण हो । यहाँ दया के पात्र में अधिक आकृष्ट करने की स्थिति दिखाई गई है । दई = हे दैव, 'दयी' होने से 'दयावाला' अर्थ भी निकलता है । 'दयी' होकर भी निर्दय यह विरोध । बिष-भोयो० = विष से बुझे बाणों से प्राण निकलने में भारी कष्ट

होता है, बचने की संभावना नहीं रहती, इतनी अधिक क्रूरता। बिषम = जिसकी स्थिति सम नहीं है, जो शरीर में एक ही स्थान पर लगकर वहीं कष्ट नहीं देता कभी यहाँ कभी वहाँ कभी सर्वांग में। विष से बुझे बाण 'विषम' (विषमय) तो होंगे ही। बियोगसर = वियोग के बाण कल्पित करने में कई हेतु हैं। यह वियोग ऐसी दिशा से आया है जिस पर ध्यान नहीं था, संभावना नहीं थी कि उधर से यह दुःख आनेवाला है, दूसरे सहसा, तीव्रता से यह आया। घातक भी सिद्ध हुआ। वियोग-पक्ष में विषम का अर्थ होगा जो एक ही पक्ष में वेदना उत्पन्न करता है, प्रिय में न वेदना है, न प्रेमोन्मुख होने की प्रवृत्ति, केवल प्रेमी में ही यह सब है। दरस-सुरस० = प्रिय का दर्शन 'सुरस' अधिक रसीला, अति आनंद-दायक है, मीठे जल की भाँति। बाण लगने पर भी जो दर्शन की प्यास से ही बाण मारनेवाले के वासस्थान पर चक्कर काटता हो, उसकी उसके प्रति कितनी आस्था होगी। बाण तो दर्शन पर भी लगेंगे। वियोगबाण से दर्शन के समय कटाक्ष-बाण से विशेष अंतर है, ये अच्छे लगते हैं और इनके लगने की प्यास बुझती ही नहीं। इच्छा होती है कि और लगें। भाँवरे भरत रहौं = प्यास लगने पर छटपटाहट होती है जिससे प्यासा इधर-उधर चलता फिरता रहता है, जल की खोज में दौड़ता रहता है। 'भरत रहौं' से नैरंतर्य व्यंजित है। रुकने का नाम नहीं। फेरियै = फिरता तो हूँ पर आप फिरा दें यह ठीक नहीं, स्वयम् आपके चारो ओर चक्कर काट रहा हूँ आप यहाँ से हटाकर अन्यत्र फिरा दें यह ठीक नहीं। पर उसके लिए भी तत्पर हूँ यदि 'निराश' न लौटना हो। निरास = आगे के लिए भी आशा नहीं है। क्यौं धौं = हेतु की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई ऐसा कारण नहीं प्रतीत होता जिससे मेरे लौटा देने का औचित्य सिद्ध हो सके। यौं = भिखारी को भी लोग नहीं लौटाते कुछ दे देते हैं, आपसे तो मैं दर्शन मात्र चाहता हूँ, जिसमें गाँठ का देना भी कुछ नहीं है। द्वार तैं = अन्यत्र किसी की ओर कोई ध्यान न दे पर द्वार पर आए शत्रु से भी अच्छा व्यवहार करते हैं, पर आप अपने द्वार से ही इस प्रकार लौटा रहे हैं। जीवन० = जो प्राणों का आधार है वह यदि विमुख हो जाए तो ठीक नहीं जान पड़ता। घनआनँद = जो आनंद की वृष्टि करनेवाला है वह दुःख की वृष्टि क्यों कर रहा है। उदार महा = बादल चातक को देते-देते सारे संसार को जल दे देता है। तुलसीदास कहते हैं—

तुलसी चातक माँगनो एक, सबै घन दानि ।
देत जो भू-भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि ॥

कैसे० = क्या कारण है, मेरी कोई त्रुटि है अथवा आपमें ही कोई दोष आ गया है । अनसुनी = सुनी अनसुनी की । यदि न सुनते, सुनाई न पड़ता तो भी अपना दोष होता । चातिक = 'चत्' याचने, माँगनेवाले इस प्रेम के भिखारी की पुकार । पुकार तो किसी की भी सुनी जाती है, भिखारी और प्रेम के भिखारी की तो अवश्य सुनी जाती है । व्रज में 'चातिक' बोलते रहे हैं ।

पाठांतर—लहै=लहौं (पाऊँ) । गुन=गन (समूह, अधिक बोलने की शक्ति) । पै = की (षष्ठी, शेषे षष्ठी), दीन-की दया, दीन पर की जानेवाली दया जो सभी करते हैं । 'नागरी-प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित मनोरंजन-पुस्तकमाला के अंतर्गत 'रसखान और घनानंद' पुस्तक में 'ब द्वार' के बदले 'बछार' पाठ दिया गया है । 'बछार' का अर्थ 'बौछार' टिप्पणी में दिया है । यह हस्तलेख पढ़ने की भूल है । 'द्व' की लिखावट कभी 'छ' की लिखावट से मिलती-जुलती हो जाती है ।

चातिक चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कों
सूरे पनपूरे जिन्हैं बिष सम अमी है ।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंजपुंज
ता बिन बिचारनि हीं जोति-जाल तमी है ।
चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै अनंदघन
प्रीतिरीति बिषम सु रोम-रोम रमी है ।
मोहिं तुम एक तुम्हैं मो सम अनेक आहिं
कहा कछू चंदहिं चकोरन की कमी है ॥३३॥

प्रकरण—प्रिय चाहे प्रेमी की ओर प्रवृत्त हो चाहे न हो, पर प्रेमी उसके विपरीत आचरण पर भी उससे प्रेम करना किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता, क्योंकि उसके लिए प्रिय एक ही है, भले प्रिय के लिए प्रेमी अनेक हों, इसमें प्रेमी ने अपने व्रत की दृढ़ता का आख्यान किया है, वह 'प्रियव्रत' है और 'दृढ़व्रत' है । इसके लिए उसने चातक का, कमल का और चकोर का उदाहरण दिया है ।

चूर्णिका—चुहल = विनोदी । चहुँ ओर = सर्वत्र । सूरे० = प्रतिज्ञा पूर्ण करने में जो पूरे वीर हैं । अमी = अमृत । जिन्हैं० = जिन्हें स्वाती का जल

छोड़कर अमृत भी विषतुल्य है। भान = भानु (सूर्य) के उदित होने से। कंज = कमल। ता बिन = बिना सूर्य के। बिचारनि हीं = उन बेचारों के लिए। जोति-जाल = कोई ज्योति का समूह, ज्योतिष्क पिंड मात्र। तमी = तमिस्रा, रात्रि अथवा तम ही अंधकार ही। रमी = समाई हुई, छाई हुई, बसी हुई। कहा० = चंद्रमा को चकोरों की क्या कमी ? एक प्रिय के प्रेमी अनेक हो सकते हैं, पर प्रेमी के प्रिय अनेक अनुचित हैं। सच्चे प्रेमी ऐसा नहीं करते।

तिलक—हे प्रिय, विनोदी चातक सर्वत्र केवल स्वाती को ही चाहता है उसी नक्षत्र में जो जल बरसता है उसी को ग्रहण करता है। वह अपनी इस प्रतिज्ञा में इतना पूरा, ऐसा दृढ़ है कि उसके लिए अन्य जलों की बात ही क्या अमृत भी विषतुल्य है। उसके अतिरिक्त किसी पेय को वह ग्रहण ही नहीं करता। कमल-समूह की ओर देखिए तो सूर्य के उदय पर वह प्रफुल्ल होता है, विकसित होता है, आनंदित होता है। यदि वह न दिखे तो उन कमल बेचारों के लिए और चाहे कोई प्रकाश-पिंड क्यों न हो अंधकारमय ही प्रतीत होता है। मेरी वृत्ति भी उसी प्रकार की है। आप मुझे चाहें अथवा न चाहें, फिर भी मुझमें विषम प्रीति की रीति शरीर के रोम-रोम में समाई हुई ही मिलेगी। सम प्रीति तो आपके मेरी ओर उन्मुख होने पर होती, पर यदि आप मेरी ओर नहीं देखते तो विषम प्रीति भी एकांगी प्रीति भी होकर ज्यों की त्यों बनी रहेगी। उसका कारण यह है कि मेरे लिए तो प्रिय आप एक ही हैं, आपको मेरे ऐसे प्रेमी अनेक मिल जा सकते हैं। वैसे ही जैसे चंद्रमा एक है और उसे चाहनेवाले चकोरों की संख्या अनेक है। चकोर के लिए चंद्रमा की कमी है पर चंद्रमा के लिए चकोर की कमी नहीं है।

व्याख्या—चुहल = विनोद, कौतुकी, बेढंगी प्रतिज्ञा करनेवाला। चहूँ ओर = चारो ओर स्वाती से बढ़कर मीठा निर्मल, पोषक जल देनेवाले (और भी) मिल सकते हैं, पर उसे केवल वही रुचता है। चाहै = देखता है, खोजता है, प्यार करता है। दूसरे को देखने पर भी केवल स्वाती को ही देखता है, दूसरों में भी स्वाती ही देखता है, उसे चारो ओर अपनी अनन्यता के कारण यदि दिखता है तो केवल स्वाती ही दिखता है। सूरे = 'शूर' उस वीर को कहते हैं जो युद्ध में आगे ही बढ़ना जानता हो, पीछे पैर रखना न जानता हो। यह भी वैसा ही है। पनपूरे = अपने पन (प्रतिज्ञा) का पूर्ण

करने में ही दत्तचित्त। जिनमें उनकी प्रतिज्ञा ही भरी-पूरी है, अन्य किसी की समाई जिनके अंतःकरण में नहीं है। विष० = जल के पर्याय विष और अमृत भी हैं। पोषक संजीवनी शक्ति अमृत की और मारक शक्ति विष की। इन्हीं की दृष्टि से जल के दो नाम हैं। जिलानेवाला भी जल और मारनेवाला भी जल। अमृत अमरत्व प्रदान करनेवाला है इससे सर्वोत्तम पेय है। अमृत विष है ऐसा नहीं, विषतुल्य है। अमृतत्व का निषेध प्रेमी चातक नहीं करता, उसमें विष का आरोप कर लेता है। अन्य के लिए अमृत हो, पर उसे विष और उसमें पार्थक्य नहीं लगता। अन्य विष का परित्याग करते हैं वह दोनो का परित्याग करता है। उसके लिए स्वाती का जल ही अमृत है। वह स्वाती का जल विष सम भी हो तो अमृत है। प्रफुलित० = विशेष फूलता है, प्रभात होने पर सूर्य न निकले तो कमल फूलता हैं, प्रफुल्ल तभी होता है जब सूर्य भी दिखाई दे। भान० = सूर्य के उदय से, उसके उत्थान से। प्रिय के उत्थान में उसकी प्रसन्नता है। कंज = एक कमल नहीं अनेक कमल, अनेक प्रेमी। अनेकत्व का संकेत सर्वत्र है। चातक के प्रसंग में 'सूरे पनपूरे जिन्हैं' बहुवचनांत प्रयोग हैं। 'चकोरन' आगे बहुवचन प्रत्यक्ष है। ता बिन=सूर्य के अस्त होने पर। अभाव से वे 'बेचारे' हो जाते हैं। विवश हो जाते हैं। जोति-जाल = एक नहीं सभी ज्योति-पिंड, पृथक्-पृथक् या एक साथ उदित हों तो भी। तमी = तममय, तमजाल, अंधकार का समूह मात्र है। चाहौ० = आपकी ओर से चाहे दोनो में से कोई वृत्ति दिखाई पड़े एकांगी प्रेम की साधना मेरी नहीं छूट सकती। आपके चाहने पर भी मेरी ओर से किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं हो सकता, मैं प्रिय की कोटि में आने के लिए तत्पर नहीं, प्रेमी ही बना रहूँगा। जान प्यारे = प्राणप्यारे का भी संकेत। अनंदघन = कवि का नाम भी और प्रीति-रीति का विशेषण भी हो सकता है। अति आनंददायिनी प्रीति की रीति। प्रीतिरीति = प्रीति भी और उसकी रीति, प्रतिज्ञा के निबाहने का व्रत भी। बिषम = प्रीति तो बिषम है पर रोम में विषमता नहीं है, प्रत्येक रोम उसे समभाव से ग्रहण किये हुए है। सु० = वह अथवा सुष्ठु। रोम० = शरीर का कोई अंश प्रेमरहित नहीं है। रमी है = उसमें इतनी भिन गई है कि अब निकल नहीं सकती। तुम = यों 'तुम' बहुवचन है, आपको आदर में 'तुम'

कह रहा हूँ, वस्तुतः आप एक हैं। मो = एकवचन है, पर मेरे से अनेक दिखाई पड़ेंगे। सम = मैं ही तो अन्यत्र न मिलूँगा, पर मेरे समान प्रेमी बहुत मिलेंगे। आहिं = हैं, भविष्य में होंगे यह भी नहीं, पहले से ही अनेक प्रेमी हैं। कछू = थोड़ी भी कमी।

चातक के द्वारा प्रतिज्ञा-पूर्ति की ओर संकेत है, कमल के द्वारा प्रियदर्शन से प्रफुल्लता की ओर तथा चकोर से प्रिय-प्रेम से कष्ट-सहन की ओर संकेत है।

व्याकरण—'पन' = संस्कृत में शब्द 'पण' ही है, हिंदी में 'र्' का आगम है। 'प्रण' की ही भाँति अन्यत्र भी 'र्' का आगम हिंदी में होता है। शोणित का श्रोणित, शाप का श्राप और धूम का धूम्र।

(सवैया)

जीवन हौ जिय की सब जानत जान कहा कहि बात जतैये।
जो कछु है सुख संपति सौंज सु नैसिक ही हँसि दैन मैं पैयै।
आनँद के घन लागै अचंभो पपीहा-पुकार तें क्यौं अरसैये।
प्रीतिपगी अँखियानि दिखायकै हाय अनीत सु दीठि छिपैये ॥३४॥

प्रकरण—प्रिय ने प्रेमभरी आँखों से प्रेमी को देखा। फिर वह उससे पराङ्मुख हो गया है। इस पर प्रेमी उसे उलाहना दे रहा है। उसकी विमुखता अन्यायपूर्ण घोषित कर रहा है। ऐसी स्थिति में जब प्रेमी के लिए प्रिय ही सर्वस्व हो उसका इस प्रकार व्यवहार अनुचित है।

चूर्णिका—जीवन = प्राण। मेरे प्राण हैं, सर्वस्व हैं। जतैये = जताऊँ, बताऊँ। सौंज = सामग्री। नैसिक = थोड़ा। पैयै = पाती हूँ। अरसैये = आलस्य कर रहे हैं। हाय = खेद की स्थिति है। अनीत = अनीति, अन्याय। सु० = सो, वह। दीठि० = अब आँखें चुराते हैं।

तिलक—हे प्रिय, आप मेरे प्राण ही हैं, आप ही के कारण जी रही हूँ। यदि मैं इसमें मुँहदेखी या बात बनाकर कुछ कहती होऊँ तो आप हृदय की सारी स्थिति जानते हैं। जो स्वयम् सुजान हो उसे भला मैं क्या अपनी बात कहकर बताऊँ। कहना इतना ही है कि मैं आपके दर्शन चाहती हूँ और आपकी थोड़ी सी मुसकान देखने को इच्छुक हूँ। इसलिए कि आपके थोड़ा-सा मुसका देने की छटा के दर्शन से मेरे लिए जो सुख, जो संपत्ति और जो सामग्री सब कुछ हो सकती है वही प्राप्त हो जाती है। भला आप जब आनंद के बादल हैं तो फिर

मुझे आपकी विमुखता में (बड़ा भारी) अचरज लगता है। पपीहे की पुकार से आप घन होकर अलसा क्यों रहे हैं, उसका अभिलषित क्यों नहीं कर देते। पहले तो आपने स्वयम् प्रेम में पगी हुई आँखें दिखाईं और अब अपनी दृष्टि मुझसे छिपाते फिरते हैं। हा, यह कितना अन्याय है।

व्याख्या—जीवन = आप ही प्राण हैं, आपके बिना तो जीना ही संभव नहीं। फिर भी आप विमुख हैं। जिय को = प्राण हैं तो मेरे अंतःकरण में ही हैं, इससे उसकी सब बातें भली-भाँति जानते हैं, मैं भले ही न जान सकूँ, कोई दूसरा भले ही न जान सके। सब = अच्छी-बुरी सभी बातें, सच-झूठ सभी स्थितियाँ। जानत = स्वयम् ही जानते हैं, किसी के जताने की अपेक्षा नहीं है। जान = सुजान हो तो जिन बातों को जानता है उन पर विमर्श भी करता है, यदि किसी बात को नहीं जानता तो उसे जान लेने में समर्थ भी होता है। कहि = अंतःकरण की बातें अनुभूति के विषय हैं, उन्हें कहने से यों ही स्पष्टता नहीं हो सकती। फिर सुजान से कहा क्या जाए। जतैये = मैं क्या बताऊँ मैं तो कहने में स्वयम् असमर्थ हूँ। यदि कहूँ भी तो उसे ठीक से बता नहीं सकती। जो कछु = थोड़ी अधिक सब। सुख = अंतःकरण की अनुभूति से संबद्ध। संपति = सांसारिक मर्यादा से संबद्ध। सौंज = शारीरिक उपभोग से संबद्ध। नैसिक = यदि अधिक मुसकान देखने का अवसर मिले तो फिर क्या कहना है। हँसि दैन = हँस देना, हँसकर देना। जब कोई देता है तभी तो कोई पाता है। आप हो सब हँसकर देते हैं। आपके हँसने की मुद्रा ही मेरे लिए सुखात्मक स्थिति है। उसका न दिखाई पड़ना दुःखात्मक है। हँसने के अतिरिक्त आपकी और अनुकूलता भी मिले तो अहोभाग्य। यदि इतने से अधिक आप न कर सकें तो मेरे लिए इतना ही सर्वस्व है। आप सुखी हों और हँसते रहें, पर संमुख रहें, पराङ्मुख नहीं। पैये = यों अपने पास कुछ नहीं है जो कुछ है वह आपका ही दिया हुआ है, जो मिलेगा वह आपही का दिया मिलेगा। आनंद = सुखात्मक स्थिति है और आलस्य दुःखात्मक। दोनो का साथ ठीक नहीं। घन = वृष्टि करनेवाले, आप बिना भेद-भाव के आनंद सबको देते हैं, फिर जो आपका हो हो उसकी ओर से कैसी उदासीनता। अचंभो = पहले ऐसा कभी नहीं सुना इससे अचरज है। पपीहा० = पुकार किसी की भी कोई सुन

लेता है, अपने की पुकार के प्रति विशेष ध्यान होता है। क्यौं = आपके आलस्य करने की संगति नहीं बैठती, यदि मानें कि पपीहे ने ही अपराध किया हो तो वह बेचारा तो पुकार में लगा है उसने भी अपनी वृत्ति नहीं छोड़ी। उभय पक्ष की स्थिति अतर्क्य है। अरसैयै = पुकार से आलस्य की निवृत्ति होनी चाहिए, आपकी आलस्य में प्रवृत्ति हो रही है। प्रीतिपगी = प्रीति उनमें अंतः-प्रवृष्ट थी, भीतर तक थी, ऊपर-ऊपर से प्रेम का प्रदर्शन मात्र न था, कोई बनावटी स्थिति नहीं थी, सहज स्वाभाविक था सब कुछ। अँखियानि = अन्य अंगों में कोई वृत्ति लक्षित हुई हो तो भ्रम हो सकता है। आँख से संकेत सर्वाधिक स्पष्ट मिलता है। दिखायकैं = स्वयम् उन्मुख होकर। हाय = विवशता, दैन्य, वेदना की व्यंजना। अनीत = जगत् के व्यवहार के विपरीत। संसार में कोई ऐसा नहीं करता। दीठि = यदि उन नेत्रों में प्रेम न भी हो तो कम से कम मुझे उनको देखते तो रहने दीजिए। छिपाने की क्या आवश्यकता है। छिपैयै = कोई दृष्टि तभी छिपाता है जब उसके द्वारा कोई ऐसा कार्य हुआ हो जो ठीक न हो। आपकी दृष्टि औरों से जा लगी है, इसी से कदाचित् ऐसा कर रहे हैं।

पाठांतर—सब–गति (स्थिति), व्यवहार। सु–जु (जो) आप जो ऐसा कर रहे हैं।

(कबित्त)

चोप चाह चावनि चकोर भयौ चाहत हीं
सुषमा प्रकास मुख सुधाधर पूरे को।
कहा कहौं कौन-कौन बिधि की बँधनि बँध्यो
सुरुस्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को।
जाही जाही अंग परयौ ताही गरि गरि सरयौ
हरयौ बल बापुरे अनंग दल चूरे को।
अब बिन देखें जान प्यारे यों अनंदघन
मेरो मन भँवै भटू पात ह्वै बघूरे को॥३५॥

प्रकरण—प्रिय के पूर्वानुराग के अवसर पर प्रिय के जो दर्शन हुए उन्हें देखकर मन की स्थिति क्या हुई थी और अब वियोग में क्या हो रही है इसी का वर्णन है। प्रिय के अंगों को देखकर उनकी छवि में वह डूबा और काम-

नाओं की चोट से वह आहत हुआ। मुख देखकर तो टकटकी लग गई! जूड़े को देखकर उसमें अनेक प्रकार से बँधा। अब पत्ते की भाँति उड़ता है बवंडर में।

चूँ। का—चोप = लालसा। चाह = इच्छा। चाय = उमंग। चाहत हीं = देखते ही। सुषमा = सुषम संस्थान की छटा, प्रत्येक अंग का अन्य अंग के संश्लेष से होनेवाला सौंदर्य। सुधाधर = सुधा को धारण करनेवाला (चंद्रमा); सुधा देनेवाले अधर से युक्त (मुख)। पूरे = पूर्ण; पूर्णिमा का चंद्र। बिधि = प्रकार। बँधनि = बंधन, बंधान। सुकस्यौ = सुष्ठु अर्थात् भली भाँति कस गया (बंधनों से)। न उकस्यौ = उकस न सका, निकल न सका। परयौ = पड़ा, गिरा, देखने में लगा। गरिगरि = गलकर या गड़-गड़-कर। सरयौ = समाप्त हो गया, चुक गया या रह गया। गरि० = गल-गलकर चुक ही गया अथवा गड़ा ही रह गया। बल० = बल हर गया। अनंग = काम की सेना के आक्रमण से चूर-चूर किए गए (मन) का। भँवै = घूमता है। भटू = (वधू) हे सखी। पात = पत्ता। बघूरा = बवंडर। पात ह्वै = बवंडर में पड़े हुए पत्ते की भाँति उड़ा ही रहता है, स्थिर नहीं हो पाता।

तिलक—हे प्राणप्रिय सुजान आनंद के घन, संयोग के समय लालसा, इच्छा और उमंग से युक्त होकर आपके पूर्ण मुख सुधाधर के सौंदर्य-प्रकाश को देखते ही मेरा मन चकोर हो गया। वहाँ आपके मुखमंडल में जूड़े का बनाव देखकर न जाने किस-किस प्रकार के विविध बंधनों में यह बँध गया, वे बंधन कसते ही गए, मैं क्या कहूँ उन बंधनों से यह छूट न सका। मुखमंडल की बात ही क्या, यह जिस-जिस अंग के देखने में जा फँसा, वहाँ गड़गड़कर देखता ही रहा, बड़ी कठिनाई से एक अंग के सौंदर्य-दर्शन के अनंतर दूसरे के सौंदर्य-दर्शन में प्रवृत्त हो सका। उन-उन अंगों के देखने में यह बिचारा अनंग की सेना से ऐसा दलित होता रहा कि इसका बल ही हर गया। जब तक आपके सौंदर्य-दर्शन में प्रवृत्त था तब तक तो फिर भी कुछ शांति थी पर अब वियोगावस्था में आपके दर्शनों के बिना कहीं अन्यत्र न जाकर अपने स्थान पर ही वह वैसा चक्कर काट रहा है जैसा बवंडर की वायु में पड़ा हुआ पत्ता चक्कर काटता है। संयोगावस्था में प्रिय के दर्शन से बल क्षीण हो जाने से वह अत्यन्त हलका हो गया है, उसमें कहीं भी प्रवृत्त होने की शक्ति नहीं रह गई है, इसलिए अंतर्मुख न होकर यहीं का यहीं चक्कर खा रहा है॥

व्याख्या—चोप = देखने की लालसा, बिना देखे उनके सौंदर्य की प्रशस्ति सुनकर हुई। चाह = लालसा एक प्रकार की इच्छा है, यहाँ चाह इच्छा का प्रबल्ल पक्ष है, उसके लिए उद्योग भी किया। चाव = प्रयत्न करने में उमंग बराबर बनी रही, अनेक प्रकार की उमंगें हुईं इसलिए बहुवचन 'चोपनि'। चकोर भयौ = चकोर टकटकी बाँधकर देखता ही रहता है, जब तक चन्द्रमा दिखता है तब तक देखता रहता है। चाहत हीं = देखते ही, शीघ्रता की व्यंजना। सुषमा = अंग एक दूसरे के लगाव या संबंध से सुन्दर, समत्व से युक्त, सुषम न्यास से युक्त हैं। प्रकास = सौंदर्य का प्रकाश, जो नेत्रों के लिए प्रकाशाधिक्य का हेतु हो गया, देखते ही आकर्षण का हेतु उस प्रकाश की शीतलता और नेत्रज्योति वर्धन है। पूरे = पूर्ण मुख में जितने अंग हैं सभी से प्रकाश हो रहा है। कहा कहौं = कहने को नहीं, अनुभूति की स्थिति है, बंधनों की अनेकता भी है, असंख्यता की व्यंजना, प्रकारता की व्यंजना। एक ही, एक प्रकार का बंध हो तब तो कहा जाए। कौन० = ऐसे बंधन तो पहले से अज्ञात थे। विधि = बंधन का ढंग भी अपूर्व था, कदाचित् उनका प्रयोग स्वयम् भी पहले नहीं किया गया था। बँधनि = 'बंधन' के बदले स्त्रीलिंग 'बँधनि, में कोमलता की व्यंजना है। बँध्यो = जो मन बंधन में नहीं आ सकता था वह भी बँध गया। उकस्यौ = उकसने का यत्न भी समाप्त हो गया, वहाँ पड़े रहने की विवशता आ गई। बनाव = मृग की सी स्थिति हुई, उसके सौन्दर्य में इतना लीन हो गया, उस सौंदर्य की बनावट ही विस्मरण कर देने में समर्थ थी। लखि = ध्यान से देखकर, 'लखना' लक्ष्य से है। जाहीं० = अन्य अंगों का पृथक्-पृथक् प्रभाव कहाँ तक कहें। जहाँ-जहाँ जा पड़े वहीं गड़े रह गए। गड़े रहने में भी काम सरता था। हर्यौ = अंगों में जा गिरने से, उनमें गड़ने या गलने से तो सारा बल समाप्त ही हो गया था जो बचा था उस (सबको) हर लिया। बापुरे = कोई न सहायक न अपने में बल। जिसका आक्रमण था वह भी अनंग, अंग का आक्रमण तो सहा ही, अनंग तो दिखाई भी नहीं पड़ता उसका प्रतिरोध कैसे किया जाए। वह भी एक नहीं अनेक, उन्होंने छोड़ा नहीं, चूर्ण करते हो रह गए। चूर्ण हो जाने से और भी विच्छिन्न स्थिति हो गई। हलकापन भी आ गया। उन अंगों को देखना ही रुचने लगा। वैसा ही अभ्यास पड़

गया। अब० = वियोगावस्था में। बिन देखें = उन्हें देखने का अभ्यास पड़ जाने से उन्हें ही देखने की लालसा हो गई, बिना देखे नहीं सरता। वहीं उड़कर जाना चाहता है। मन = है तो 'मन' पर उड़ता है 'पत्ता' होकर। सूखा पत्ता, उसमें सारी सरसता और गौरव प्रिय के संयोग के ही कारण है। भँवै = विवशता में चक्कर काट रहा है, उन्हें खोज रहा है। कामभाव चक्कर उत्पन्न करता है, नचाता है, यह आधुनिक मनोविज्ञान को मान्य है। बघूरे = बवंडर गरमी के दिनों में उठते हैं। इससे विरह-ताप को अधिकता संकेतित है।

पाठान्तर—चावनि—चाड़नि। 'चाड़' मनःकामना, तीव्र कामना को कहते हैं इसका प्रयोग प्राचीन कविता में बहुत है। 'तोरे धनुष चाड़ नहि सरई'। गरि०—रंग संग रस्यौ, रंग संग रँग्यौ। उसी अंग के रंग में सन गया या रँग गया, उसी में लीन बना रह गया।

विशेष—'जान प्यारे' = जूड़े का वर्णन होने से प्रिय नारी है, पर यहाँ संबोधन पुंलिंग है। 'भटू' संबोधन पुरुष नायक भी किसी सखी से कर सकता है यह फारसी-उर्दू का प्रभाव है। ऐसा प्रसाद की रचना में आधुनिक युग में बहुत दिखता है। अथवा 'प्यारी' शब्द ही रहा हो लिखने की भूल से प्यारे हो गया हो।

(दोहा)

सोहौ मोह जनाय कै अहे अमोही जोहि।
सो ही मोही सों कठिन कयौं करि सोही तोहि ॥३६॥

प्रकरण—प्रिय ने पूर्वानुराग में अपना मोह-ममत्व दिखाकर प्रेमी को आकृष्ट किया, फिर मोह-रहित हो गया। इस पर उसका उलाहना है।

चूर्णिका—मोहौ = मोहित किया (प्रमिका को)। मोह = प्रबल प्रेम। जनाय कै = प्रकट करके। अहे = हे। अमोही = मोह से रहित, निर्दय। जोहि = (मेरी ओर प्रेमपूर्वक) देखकर। सो = वह (प्रेम प्रकट करनेवाला तेरा हृदय)। ही = हृदय। मोहीं = मुझसे कठोर हो गया है। सोही = शोभा देती है (ऐसी नीति)। क्यौं करि० = यह (कठोरता) तुझे कैसे फबती है।

तिलक—हे अमोही, पहले तो तूने मुझे देखकर और साथ ही अपना प्रेम प्रकट करके मुझे मोहित किया। सहृदयता का पूरा प्रमाण उपस्थित

किया। अब सहृदयता प्रदर्शित करनेवाला वह हृदय मुझसे कठोर हो गया है, वह सुमुखता विमुखता में परिणत हो गई है। बता तुझे वह कैसे छजती है। यदि तूने स्वयम् आकर्षण न उत्पन्न किया होता तो मुझे इस प्रकार का कष्ट न उठाना पड़ता। जो पहले अनुकूलता दिखाकर इस प्रकार प्रतिकूल हो जाय वह शोभन कार्य नहीं करता। तेरा कार्य नितांत अशोभन है।

व्याख्या—मोहो = मोहित किया अपने अत्यधिक आकर्षण से। मोहित करने में तेरे प्रयत्न ही प्रबल थे। मोह = प्रेम में प्रेमी पड़कर भ्रम, अज्ञान आदि की स्थिति को प्राप्त हुआ करता है इसी से इसे मोह करते हैं। 'मोह' की विशेषता यह होती है कि जिससे कष्ट मिलता है वह यदि रुचता है तो उस कष्ट का कुछ भी ध्यान न देकर उसमें प्रवृत्ति होती रहती है। तुलसीदास ने मोह की यह स्थिति यों स्पष्ट की है—

सोई सेंवर तेइ सुवा सेवत सदा बसंत।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत॥

सेंवर के लाल फल को कोई मीठा फल समझकर सुग्गा चोंच मारता है, पर उसमें से रूई के रेशे निकलकर उसकी आँख में पड़ते हैं, वह कुछ समय के लिए अंधा तक हो जाता है, पर फिर वसंत आता है और वह सुग्गा सेंवर के निकट फिर जाता है। यही मोह का महत्व है। संत इसकी प्रशंसा करते हैं। भगवान् के चरणों में ऐसा ही अनुराग होना चाहिए—कष्ट होने पर भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए।

जनाय कै = मैं जानती नहीं थी मुझे जनाया। अहे = क्रूरता की व्यंजना के लिए जोर है, 'हे' से 'अहे' है। अमोहो = निर्दयता से युक्त, मोह से सर्वथा रहित। तो क्या मोह केवल दिखाने भर को था। जोहि = देखकर, जिस देखने में सातत्य हो उसे 'जोहना' कहते हैं। केवल एक बार देखता तो भी भ्रम न होता, बारंबार तूने देखा, कहीं से यह पता न चला कि तू इस प्रकार का व्यवहार करेगा। सो = जिसमें उतना मोह था, जो मुझपर उतना अनुकूल था, जिसमें उतनी कोमलता थी कि आपसे आप मुझपर द्रवीभूत हुआ। मोहो सो = मुझ ऐसे दीन से जिसने इसका कभी विचार ही नहीं किया कि मोह प्रकट करनेवाले में विपरीत भाव भी हो सकता है। निष्कपटता की व्यंजना की जा रही है। कठिन = मुझमें प्रेम की कोमलता है उसमें यह

कठिनता कैसे मिल सकेगी। क्यौं करि = कोई ऐसा बहाना या हेतु नहीं हो सकता जो इसका समर्थन कर सके। सोहौ० = तुझे जो स्वयम् शोभामय है, सुन्दर है, उसमें यह अशोभन व्यापार, शिव-शिव !

अलंकार—इसमें यमक का चमत्कार दो स्थानों पर स्पष्ट है, 'मोही' और 'सोही' में। यमक के चमत्कार के फेर में प्रायः उक्तियाँ बिगड़ जाती हैं, अनुभूति की व्यंजना ठीक से नहीं हो पाती; पर यहाँ 'यमक' से भी बाधा नहीं पड़ी है।

(कबित्त)

बिष लैं बिसारयौ तन, कै बिसासी आपचारयौ
जान्यौ हुतौ मन तैं सनेह कछु खेल सौं।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रे भली भाँति
नीकें आहि असह उदेग-दुख सेल्ह सो।
गए उड़ि तुरत पखेरू लौं सकल सुख
परयौ आय औचक बियोग बैरी डेल सो।
रुचि ही के राजा जान प्यारे यौं अनंदघन
होत कहा हेरें रंक मानि लीनौ मेल्ह सो ॥३७॥

प्रकरण—मन को प्रेमिका की डाँट फटकार है। विरह में जो कष्ट भोगना पड़ता है उसको बिना जाने ही मन निर्दय प्रिय से प्रेम कर बैठा। अब विरह की ज्वाला में जलना पड़ रहा है, सुख किसी प्रकार नहीं मिलता। प्रिय के देखने मात्र से उसकी अनुकूलता का निश्चय करके दरिद्र मन ने जो कष्ट अर्जित किया है वह भली भाँति भोगे। जैसी करनी वैसी भरनी।

चूर्णिका—बिष = निर्दय से प्रेम करने से मिला कष्ट। बिष० = विरह का विष प्राप्त करके तन की सुधबुध भूल बैठे, उसे विषमय कर दिया। बिसारयौ = भूल गए; विषमय कर दिया। बिसासी = विश्वासघाती; बिषाशी (विष खानेवाला)। आपचारयौ = मनमानी, स्वेच्छाचार। हुतो = था। जान्यौ० = हे मन, तुमने प्रेम को क्या कोई खेल समझ रखा था। प्रेम मनोरंजन के लिए नहीं है, उसकी साधना गंभीर है। ताकी = उस (विरह की आग) की। पजरिबो = (प्रकर्ष) जलना, 'प्रज्वल्' से। नीकें आहि = अच्छा है, अच्छा फल (दंड) मिला (व्यंग्य)। उदेग = (उद्वेग)। सेल्ह = भाला। असह० =

असह्य उद्वेग का दुख बरछे के समान कष्ट देनेवाला है। पखेरू = पक्षी। औचक = अचानक। डेल० = ढेले के समान (जिसकी चोट खाकर सुखरूपी पक्षी उड़ गए)। रुचि = (अपनी) इच्छा। रुचि हीं० = मनमानी करनेवालों के राजा या शिरोमणि [अथवा रुचि = शोभा। रुचि हीं० = सौंदर्य के राजा, अत्यंत सुंदर, शोभाशाली]। होत० = केवल उनके देखने से क्या होता है। रंक = दरिद्र। मेल = प्रेम। मानि० = तुम (उस देखने को ही) प्रेम करना समझ बैठे।

तिलक—हे मन, तुमने प्रेम को क्या खेल (शुद्ध मनोरंजन की वस्तु) समझ लिया था। हे विश्वासघाती, तुमने तो विष लेकर इस शरीर को विस्मरण में (बेहोशी में) डाल दिया, अच्छी मनमानी की तुमने। अब उस विष (विरह) की ज्वाला में भली भांति खूब जलो, भोगो असह्य उद्वेग का भाले सा कष्टद दुःख। अच्छा ही हुआ, जैसी करनी वैसी पार उतरनी। यह वियोग वैरी वैसे अचानक आया जैसे उन पक्षियों के बीच जो मगन होकर चारा चुग रहे हों कोई ढेला सहसा आ गिरता है। जैसे वे तुरंत उड़ जाते हैं वैसे ही मेरे सब सुख दूर हो गए। हे दरिद्र, वे अपनी इच्छा के राजा हैं, किसी दूसरे की इच्छा का विचार करनेवाले नहीं। तुमने उनके ध्यान से देखने को ही प्रेम समझ लिया और उन पर अपने को निछावर कर दिया। उस देखने में हृदय कहाँ था।

व्याख्या—बिष = विष से बेहोशी आती है उसे कोई लेता नहीं। पर मन इतना नासमझ है कि उसने उसे भी ले लिया। बिसारयो = यह भूल गए कि शरीर पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। विष लेते ही तुम स्वयम् होश हवास खो बैठे। विष फैलता है। सो वह तुम तक ही नहीं रहा तन में उसका पूरा प्रभाव पड़ा। तन = सारा शरीर विषमय हो गया, विस्मृत हो गया। बिसासी = विष खाने (विष लेने) वाले मनमानी करते ही हैं किसी की सुनते कहाँ हैं। विश्वासघात शरीर के साथ हुआ। विष लिया तुमने भोगना पड़ा तन को। आपचारयो = अपने मन का आचरण, तुमको समझाया भी औरों ने पर सुनी अनसुनी करके ऐसा किया। किसी की मानते ही नहीं थे। उसका कारण था। जान्यौ० = तुमने समझ लिया था कि यह मनोरंजन

के लिए है। मन = मनन करनेवाला, जो मनन करनेवाला हो उसे तो सोचना-समझना चाहिए। तैं = रोषव्यंजक सर्वनाम। जो जानने की वृत्तिवाला हो उसका ऐसा नासमझी का काम। सनेह = स्नेह में चिकनापन होता है, उसकी फिसलन कुछ बच्चों के खेल की फिसलन नहीं। कछु = कोई, साधारण। यह खेल भी है तो असाधारण। खेल = नाटक, अभिनय जिसमें किसी का वेश बनाकर कोई अभिनेता आता है। बनावटी वेश। प्रेम में बनावटी खेलवाला नहीं चलता। अब = इस विष-विरह की स्थिति में। ताकी० = विष में भी ज्वाला होती है, तीखी झार। पजरिबो = अत्यधिक जलना, घर भर में आग लग गई है। मन का मंदिर शरीर ही तो है। रे = तुच्छता-बोधक, घृणा-रोषव्यंजक संबोधन। भली० = इससे बचाव का मार्ग रह नहीं गया, बुरी तरह जलना (विपरीत लक्षणा से)। नीके० = बुरे फँसे (विपरीत लक्षणा)। असह = जो किसी के सहने के मान का नहीं, तुम क्या सहोगे। उदेग = व्याकुलता, जो भीतर से बाहर कर देती है, अपने स्थान पर स्थित नहीं रहने देती किसी को वह स्थिति। सेल० = भाला या बरछा प्रविष्ट होता है तो घाव करता जाता है। पर जब खींचा जाता है तो उसके साथ शरीर का आस-पास का बहुत सा अंग बाहर आ जाता है। गए० = उड़कर चले गए, अब लौटने की संभावना भी नहीं रही। तुरत = इतनी शीघ्रता से गए कि उन्हें रोकने का उपाय भी नहीं सोच सके। पखेरू = बसेरू नहीं, जो पंखों के ही भरोसे रहनेवाला हो। कहीं टिकनेवाला न हो, रुकनेवाला न हो। सकल० = कोई सुख भी बचा रहता तो कुछ तो कष्ट कम होता। परयौ = न जाने कहाँ से आ गया, किसी प्रकार की कोई संभावना न थी। औचक = सहसा, मुझे तो संभावना थी ही नहीं, प्रिय की ओर से भी संभावना नहीं थी। बियोग = वह असंयोग जो अधिक समय तक रहनेवाला हो। बैरी = इसी ने सब सुखों को दूर किया, दुःखों को बुलाया। सदा कष्ट देता रहेगा, इसलिए शत्रु की कल्पना। डेल = जहाँ आकर गिरा वहीं पड़ा है, हटने का नाम नहीं। रुचि० = इच्छा का शासन अपने ही अधिकार में रखते हैं। सौंदर्य के ही राजा हैं, सुन्दर हैं सहृदय नहीं। स्वार्थी हैं, परार्थी नहीं। हेरैं = उनका ध्यान से देखना स्वभाव ही है, कुछ अपनी सहृदयता का प्रदर्शन नहीं। रंक = तुम ऐसे दरिद्र थे कि उनके देखने में हृदयदान समझ लिया। तुम्हें कोई देखनेवाला

मिला नहीं था, जो ही मिल गया उसी को दानवीर समझ बैठे। मानि० = अपनी ओर से अनुमान कर लिया, वह तुम्हारा ही भ्रम था। मेल = अनुकूलता मिलने की स्थिति, दरिद्र ने समझा कि अब मिला, तब मिला, पर मिला कुछ नहीं, अपना भी छिन गया।

पाठान्तर—बिसारयौ–बिसाह्यौ (खरीदा)। तन = तब (संयोग के समय, अनुराग करते समय)। बिष लै बिसाह्यौ–विष ही खरीद लिया। आपचारयौ–आपचाह्यो (अपना चाहा, मनचाहा)। आहि–सहि (सहो, सहन करो)।

सूझै नहीं सुरझ उरझि नेह-गुरझनि
मुरझि मुरझि निसदिन डाँवाँडोल है।
आह की न थाह दैया कठिन भयौ निबाह
चाह के प्रबाह घेरयौ दारुन कलोल है।
वे तौ जान प्यारे निरधक हैं अनंदघन
तिनकी धौं गूढ़ गति मूढ़मति को लहै।
आगें न बिचारयौ अब पाछे पछिताएँ कहा
मान मेरे जियरा बनी को कैसो मोल है ॥३८॥

प्रकरण—मन को डाँट-फटकार। मन ने पहले तो विचार नहीं किया अब पछता रहा है, इस पर प्रेमी उसे डाँटता है। ऐसे फँसे हो कि निकलते नहीं, ऐसी धारा में पड़े हो कि डूबने की नौबत। प्रिय इतने पर भी नहीं देखता है। जैसा व्यापार किया वैसा लाभ उठाइए।

चूर्णिका—सुरझ = सुलझाव, सुलझने का उपाय (उलझन से) उरझि० = प्रेम की उलझन में पड़ जाने पर। गुरझनि = गाँठ। मुरझि = बेहोश होकर, शिथिल होकर। डाँवाँडोल = अस्थिर, चंचल। आह० = आह की गहराई की तो थाह नहीं मिलती, बहुत गहरी साँसें भरनी पड़ती हैं अथवा इस नदी की गहराई की थाह अपने आह (थहाने के मान) की नहीं है। दैया = दैव। कठिन० = निर्वाह कर ले जाना कठिन जान पड़ता है। चाह = प्रेम। कलोल = उछाल, तरंग। चाह के० = प्रेम के प्रवाह में उसके दारुण कल्लोल ने घेर लिया है, प्रेम की उत्ताल तरंगों में पड़ी हूँ। निधरक = निश्शंक, बेखटके। गूढ़ गति = रहस्य-भरी चाल, उनका भेदभाव।

मूढ़मति = मंदबुद्धि। तिनकी० = उनकी रहस्य-गति का पता मुझ जैसे साधारण या मंदबुद्धिवाले को नहीं चल सकता। आगे = पहले (प्रेम करने के अवसर पर)। मान = समझ। जियरा = जी, मन। बनी = वणिक् या वाणिज्य। मान=हे मन, अब समझो कि इस वाणिज्य में कैसा मूल्य चुकाना पड़ा। सब कुछ देने पर भी सौदा नहीं हो सका (बनी को कैसो मोल है--मुहावरा)।

तिलक—हे मेरे जी, तुमने पहले (पूर्वानुराग के समय) कुछ भी सोच-विचार नहीं किया कि किससे प्रेम कर रहे हैं, अब (वियोगावस्था में) पश्चात्ताप करने से क्या लाभ। जैसा व्यापार किया वैसा लाभ उठाया। समझो कि बस व्यापार में कैसे लेने के देने पड़े। सब कुछ दे देने पर भी प्रिय के मन की प्राप्ति न हो सकी। उधर चिंताओं, दुःखों आदि से व्याकुलता ही हाथ लगी। प्रेम की गुत्थियाँ उलझकर ऐसी पड़ी हैं कि उनके सुलझने का कोई उपाय ही नहीं दिखाई पड़ रहा है। उनके सुलझने में आयास इतना अधिक पड़ रहा है कि बारंबार मुरझा जाते हो, बेहोश हो जाते हो। डाँवाँडोल की यह स्थिति रातदिन बनी रहती है, कभी चैन नहीं। चाह की नदी के इस प्रवाह में तुम्हें दारुण कल्लोलों ने घेर लिया है. पार पाना कठिन हो गया, गहराइ की थाह भी तुम्हारे मान को नहीं है। हे दैव, क्या होगा। तुम्हारी तो यह स्थिति है और वे सुजान प्रिय इतने पर भी बेखटके आनंद की वृष्टि करके स्वयम् ही उसका आनंद लूट रहे हैं। उनकी इस भेदभाव की रहस्यात्मक स्थिति का अंदाज साधारण बुद्धि वाला भला कैसे लगा सकता है।

व्याख्या—सूझै० = सुलझाव सूझता ही नहीं, सुलझने की नौबत तो अभी और भी दूर है। पहले दिखाई दे, उसके लिए उपाय हो, फिर उसमें सफलता मिले, तब वह सुलझे। सुरझ = उलझनें इतनी अधिक हैं और ऐसी उलझी हैं कि सुरझ का पता ही नहीं चलता, कहाँ से कैसे सुलझाएँ इसका अंदाज नहीं मिलता। उरझि = उलझकर एक में दूसरी, दूसरी में तीसरी, न जाने कितनी गुलझें पड़ती चली गई हैं। 'गुरझनि' स्त्रीलिंग है अर्थात् नारी में अपेक्षाकृत गुलझन अधिक होती है, गूढ़ता विशेष रहती है। मुरझि० = एक ही बार मुरझना नहीं होता, कई बार होता है, अनेकत्व की व्यंजना। निसदिन = सातत्य की व्यंजना। डाँवाँडोल = नाव जैसे लहरों में इधर-उधर ऊपर-नीचे होती

है उसी प्रकार की स्थिति तेरी हो रही है। आह० = गहराई इतनी अधिक कि बड़े-बड़े मरजिया भी डुब्बी मारने में घबराते हैं। दैया = विवशता, दैन्य की व्यंजना। कठिन० = पार पाना ही कठिन है, डूबने में तो संदेह रह ही नहीं गया है, बहुत उपाय-प्रयास करने पर भी इससे निकला नहीं जा सकता। चाह० = चाह (इच्छा) का 'वाह' नहीं 'प्रवाह' है, अनेक कामनाएँ बहाए लिए जा रही हैं। घेरयौ० = उनकी लहरें साधारण नहीं हैं, बहुत ऊँची हैं चारो ओर से घिराव है। एक ओर से भी घिराव न होता तो निकलने का मार्ग मिल जाता। दारुन० = भीषण लहरें न होतीं तो भी निबाह की संभावना कुछ होती। कल्लोल = निरंतर, बिना रुके उठनेवाली तरंगें, जिनमें स्थिरता है ही नहीं। वे तौ = असहृदय, निर्दय। निधरक = उनमें 'धरक' नहीं यहाँ 'धड़क' अत्यधिक, उनके हृदय में संवेदना ही नहीं, यहाँ वेदनाओं का ताँता। अनदघन = अपने में आत्माराम में लीन, दूसरे से कोई प्रयोजन नहीं। वे जान, सुजान, ज्ञानी, ज्ञान की साधनावाले हैं। बुद्धिवादी हैं, भाववादी नहीं। इसी से उनमें रहस्यात्मक स्थिति है। तिनकौ० = उनकी न जाने कैसी गूढ़ चाल है, भावापन्न भला उसे क्या समझे। मूढ़मति = मंदबुद्धि नहीं अमंदबुद्धि के समझने योग्य हैं उनकी गूढ़ स्थिति। प्रेमी की मति मंद होती है, हृदय अमंद रहता है। आगे० = प्रेम का आरंभ करने के पूर्व ही, उस समय तो भावुकता फिर भी कुछ कम रही होगी, विचार करने की स्थिति में उस समय थे। अब = जब भाव में डूब गए, विरह के कष्ट में भर रहे हो। पाछें = कोई कार्य सहसा करके पीछे पछताना बुद्धिमानी नहीं—

सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं।
सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

कहा = पश्चात्ताप भी व्यर्थ है। आन = केवल यह गुनावन करते रहो कि इसमें भारी मूल्य चुकाना पड़ा, उसके लिए चिंता मत करो, केवल ध्यान में रखो कि ऐसा हुआ। शाखा-प्रशाखा में विस्तार मत करो।

अंतर उदेग दाह आँखिन प्रबाह-आँसू
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हो हँसिबो न रोइबो हू
खोय-खोय आप ही में चेटक-लहनि है।

जान प्यारे प्राननि बसत पै अनंदघन
बिरह बिषम दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यौ आय
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है ।।३९।।

प्रकरण—विरह की स्थिति की विलक्षणता का उल्लेख। विरोधी स्थितियों का न्यास। दाह भी आंसू भी, भींगना भी जलना भी। सोना-जागना, हँसना-रोना, खोना-शून्य पाना। बिना प्राण के जीना, बिना मृत्यु के मरना। अनिर्वचनीय है यह दशा। मूक की भांति कथन है। सर्वत्र विरोध।

चूर्णिका—अंतर=अंतःकरण, मन। उदेग दाह=उद्वेग की जलन। प्रबाह॰=आँसू का प्रवाह (उलटा समास)। अटपटी=विलक्षण। भीजनि॰=आँसू से भींगना और ताप से जलना दोनो एक साथ। खोय॰= अपने आपमें खोकर, अपने आपमें लीन होते जाकर। चेटक=जादू, भ्रम। लहनि=लाभ चेटक॰=जादू का-सा लाभ है, जादू करनेवाले जैसे नकली रुपए-पैसे दिखाते हैं, पर वह केवल दृष्टिभ्रम होता है, वैसे ही मैं अपने आपमें खोकर केवल भ्रम ही प्राप्त करता हूँ। [अथवा—चेटक॰=क्रीत दास। चेटक॰=क्रीत दास का-सा लाभ है। अपने को खोकर दासता का लाभ होता है, अपनी सुध-बुध खोकर उनकी दासता पाता हूँ]। पै=फिर भी, इतने पर भी। जान॰=ऐसी दशा होने पर भी प्रिय प्राणों में बसे हुए हैं। मूक॰= गूंगे का-सा कहना है, जैसे कहा वैसे न कहा अर्थात् विरह की विषम दशा पूर्णतया व्यक्त की ही नहीं जा सकती। जीवन॰=इसमें प्राण के बिना ही जीना और मृत्यु के बिना ही मरण आ बना है। हाय॰=न जाने प्रेमी के रहने का ढंग कैसा विलक्षण बनाया गया है (जिसमें बिना प्राण के जीना पड़ता है और बिना मृत्यु के मरना पड़ता है)।

तिलक—न जाने प्रेमी के रहने का ढंग कैसा बनाया गया है। अंत-करण में तो उद्वेग का दाह होता रहता है और बाहर आँखों में आंसू का प्रवाह प्रवाहित रहता है। यह चाह ऐसी विलक्षण दिखती है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। उद्वेग के ताप से जलते भी रहते हैं और आँसुओं से भींगते भी रहते हैं। न सोना ही ठीक-ठीक बन पड़ता है न जागते ही बनता है, न हँसना ही

बनता है न रो ही पाते हैं। अपने अंतःकरण में ही अपने को निरंतर खोते रहते हैं, उसी में लीन होते रहते हैं और प्राप्ति होती है केवल भ्रम की। अथवा खोते तो अपने को हैं और पाते हैं दासत्व। ऐसी स्थिति में भी सुजान आनंद की वृष्टि करनेवाले यहीं कहीं प्राणों में बसे भी हैं और व्यथा को दूर नहीं करते। विरह की यह विषम स्थिति केवल गूँगे का कहना है, कुछ भी कह ही नहीं पाते हैं कि क्या कष्ट हो रहा है। जीते हैं अर्थात् प्राणों की सत्ता है, जिसका प्रमाण है कि साँस ले रहे हैं, पर सच मानिए जी है नहीं, प्राणों के होने का जो फल होता है वह नहीं दिखाई देता। मृत्यु अभी नहीं आई है, पर मरण हो गया है। मृत्यु में जितनी वेदना सहनी पड़ती है वह सह चुके। न जाने किस ब्रह्मा ने प्रेमी विरहियों का निर्माण किया।

व्याख्या—अंतर = इसका अर्थ अंतःकरण और भीतरी दोनो है। अंतःकरण में भी आग सुलग रही है। भीतर ही है, बाहर दिखाई नहीं देती। उदेग = (उद्वेग) वेदना के बाहर होने की इच्छा तो होती है, पर वह बाहर नहीं हो पाती। दाह = पुंलिंग है, इसके द्वारा उसकी प्रचंडता व्यंजित है। आँखिन = दोनो नेत्रों में एकतार आँसुओं का प्रवाह है। प्रबाह = आँसू की अधिकता के लिए 'प्र + बाह' है। देखौ० = देखने के अतिरिक्त और कुछ कर भी तो नहीं सकते। अटपटी = चित-पट दोनो की एक साथ स्थिति की भाँति विरोधी वृत्ति वाली। चाह = इच्छा तो होती है, देखना भी होता है। यह प्रेम दर्शनजन्य है। कैसा विलक्षण प्रिय का दर्शन मिला, यह देखना कितना अट-पट दिखता है। भीजनि० = तुकांत के अनुरोध से दहनि पीछे रखा है अन्यथा दहनि भीजनि में क्रम ठीक रहता, उदेग-दाह से 'दहनि' और 'आँसू' से 'भीजनि'। सोइबो = यहाँ क्रम ठीक है। अंतर से सोने का संबंध है, जागने का आँखों से संबंध है। ऐसे ही हँसने का संबंध अंतर या मन से और रोने का आँखों से है। प्रसाद ने भी मन और आँख से सुख-दुःख का संबंध जोड़ा है—

मानवजीवन वेदी पर परिणय है विरह मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का॥

सोना तो इसलिए नहीं बनता कि निद्रा नहीं आती, मन उद्वेग-दाह के कारण सोने की ओर प्रवृत्त नहीं होता और जागते इसलिए नहीं बनता कि-

आँसू का प्रवाह आँखों को व्यर्थ किए रहता है। जैसे जागते रहे वैसे न जागते रहे। सोते हैं तो आँखें ढके पड़े हैं। हँसिबो० = प्रेम का आनंद प्राप्त करने का हर्ष हँसी का हेतु हो सकता है। पर हर्ष का धारण-कर्ता मन ही ठीक नहीं। रोना तो तब होता है जब हर्ष हो तो प्रतिपक्ष में रोदन हो। यहाँ निरंतर रो ही रहे हैं। सारा रोना आँखों के प्रवाह में समा गया है। रोना भी निष्फल है, विफल हैं, कोई परिणाम निकलनेवाला नहीं है। रोना जब अभ्यास हो गया तो उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो गया। खोय० = बार-बार अपने को खोते रहते हैं। अपना खोना भी भ्रम और पाना भी भ्रम। खोया अपने को, अपना स्वामित्व खोया और पाया दासत्व। आपही० = अन्यत्र खोने का स्थान ही नहीं है, इससे अपने में ही खोए जा रहे हैं। प्रिय के संमुख होने पर उसमें लीन होते, विरह में अपने में ही लीन होते हैं। संयोगवृत्ति बहिर्मुखी वृत्ति होती है और वियोगवृत्ति अंतर्मुखी वृत्ति होती है। चेटक० = भ्रम की प्राप्ति है, मिथ्या का पाना है, पाना न पाना समान है। 'चेटक' का अर्थ 'क्रीत दास' लेने से ऐसे दासत्व की प्राप्ति जो कभी छूटनेवाला न हो। सदा के लिए दास हो गए। हानि हुई स्वच्छंदता की और लाभ हुआ आजीवन परतंत्रता का। जान० = सुजान प्रिय, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म। प्रानिन० = प्राणों में ही बसे हैं, अन्यत्र गए कहाँ हैं। प्राणों में रहने पर भी मेरी ओर ध्यान नहीं देते ऐसी निर्दयता, मेरे हृदय पर अधिकार भी कर रखा है, फिर भी मुझमें ऐसी विरह-वेदना को जानते-समझते कुछ नहीं करते। पै = निश्चय, वैदिक 'वै' का विकास। आनंदघन = हृदय में बसे प्रिय स्वयम् वेदनात्मक नहीं हैं आनंदात्मक हैं फिर भी इतनी वेदना, ऐसा कष्ट सहना पड़ता है। बिरह० = वियोग की मेरी दशा इसी से विषम है। मेरी प्रिय के प्रति यह आस्था और प्रिय की मेरे प्रति वह अनास्था। मूक० = गूँगा पहले तो कुछ कह ही नहीं पाता, कुछ कहे भी तो दूसरे उसे समझते नहीं। इस-लिए उभय पक्ष के लिए उसका कहना न कहना समान है, जीवन० = जी भी रहे हैं और मर भी रहे हैं। 'जीना' केवल सत्तात्मक है, उस जीने से किसी प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि होने की संभावना भी नहीं। इसलिए जीना न जीना समान है। मरन = भीषण कष्ट का अनुभव, मरण के समय के अति कष्ट का अनुभव। जीते रहते किसी कष्ट का अनुभव न करते या

अल्प कष्ट का अनुभव करते होते तो भी कोई बात थी। जीव० = प्राणों का होना न होना समान। प्राण हैं नहीं, मारे कष्ट के अब गए तब गए की स्थिति है। मीच० = मृत्यु आई नहीं, न जाने कितने दिनों तक यह कष्ट इसी प्रकार भोगना पड़ेगा। बन्यौ आय = बन गया है, मिटने का नाम नहीं, यह स्थिति शीघ्र बदले इसकी संभावना नहीं है। लोग इसे 'बनना' कहते हैं जबकि इसे 'बिगड़ना' कहना चाहिए। हाय० = अत्यंत वेदनाव्यंजक। कौन० = ब्रह्मा ने किस प्रकार बनाया यह भी अचरज है, दूसरा ऐसा उदाहरण ब्रह्मा की सृष्टि में भी मिलनेवाला नहीं। रचि = रच-रचकर बनाया, कोई कोर-कसर बनाने में भी नहीं रखी। नेही = प्रेमी विरही, विरह में प्रेम के बढ़ते रहने से ऐसी कष्टदायिनी स्थिति है। नेह-चिकनाहट से कोई वस्तु अधिक स्थिर रहती है इसलिए 'नेही' शब्द प्रयुक्त है। रहनि = ऐसे ही निरंतर जीवन-यापन करना है। हर समय ऐसे ही रहना है।

(सवैया)

नेह-निधान सुजान-समीप तौ सींचति ही हियरा सियराई।
सोई किधौं अब और भई दई हेरत ही मति जाति हिराई।
है बिपरीति महा घनआनँद अंबर तें धर कों झर आई।
जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई ॥४०॥

प्रकरण—संयोग में प्रकृति सुखदायिनी प्रतीत होती है पर वही वियोग में दुःखदायिनी हो जाती है। प्रेमी चंद्र-दर्शन से व्यथित होकर चंद्र की चंद्रिका के संबंध में यह सोच रहा है कि यह वही चंद्रिका है या दूसरी। वही होने में संदेह है क्योंकि यह शीतल नहीं है। तब यह अग्निदाह है, पर आग जलकर ऊपर की ओर लपट फेंकती है। यह नीचे की ओर लपट (किरणें) फेंकती है।

चूर्णिका—नेह-निधान = प्रेम के खजाने (प्रिय)। ही = थी। हियरा० = हृदय को शीतल करके उसे ठंढा करते हुए। सियराई = शीतलता से। सींचति० = हृदय को शीतलता से सींचती थी। सोई = वही चाँदनी (संयोग-वाली शीतल)। और० = अन्य हो गई, बदल गई। दई० = हे दैव, इसे देखते ही बुद्धि खो जाती है। बिपरीति = उलटी बात। अंबर = आकाश। धर = पृथ्वी। झर = ज्वाला। है बिपरीति = सबसे

विलक्षण बात तो यह है कि आकाश से पृथ्वी को ओर ज्वाला आ रही है (ज्वाला नीचे से ऊपर की ओर जाती है, पर यह ऊपर से नीचे की ओर फैलती है)। अनंग = काम की आँच से, काम-वेदना से। जोन्ह = (ज्योत्स्ना) चाँदनी। नई० = नए प्रकार का अग्निदाह।

तिलक—यह ज्योत्स्ना पहले प्रेम के कोश प्रिय सुजान के निकट तो शीतलता से हृदय को सींचती (ठंढक बराबर पहुँचाती) रहती थी। पर अब यह वही कदाचित् नहीं रह गई है, संभवतः दूसरी हो गई। इसको तो देखते ही बुद्धि ही खो जाती है (जैसे कड़ी धूप की गरमी या कड़ी आग के सामने रहने से होता है)। है तो यह अग्निदाह ही, पर नए प्रकार का। पहले तो आग से इसमें विलक्षणता यह है कि यह अपनी लपट आकाश से पृथ्वी की ओर फेंकती है। दूसरे यह अंग को अनंग की आँच से जलाती है (दूसरी आग अंग को अंग की आँच से ही जलाती है, अपनी ही गरमी पहुँचाती है।)

व्याख्या—नेह-निधान = दूसरों का स्नेह एकत्र करके जिनका कोश संवृद्ध हुआ है। सुजान० = प्रिय अच्छे जानकार हैं इसलिए उनकी सुजानता का प्रभाव चंद्रिका पर भी है। उनकी सुजानता मुझे ही नहीं चंद्रिका तक को प्रभावित करने वाली है। प्रिय के प्रभाव की व्याप्ति आकाश तक है। समीप=प्रिय की समीपता, उसकी समीपता का लाभ नहीं करती, अन्यों की सुखद समीपता का ही लाभ करती है। तौ = भेदकता-सूचक, उस समय तो ऐसा था अब वैसा नहीं है। सींचत ही = निरन्तर सींचती रहती थी। हियरा = हृदय में कभी उष्णता बढ़ने ही नहीं पाती थी। सियराई = केवल शीतलता की ही प्राप्ति, सुखदता का ही लाभ। सोई० = वही होती तो कुछ शीतलता अवश्य होती, नितांत उष्णता उसमें न आ जाती। किधौं = है तो वही पर अन्य कारण से उसमें अब परिवर्तन हो गया है। अब = वियोग ने ही उसमें परिवर्तन कर दिया है। और = एकदम भिन्न हो गई, पूर्वावस्था का पता उसमें नहीं चलता। भई = ऐसी बदली है कि पूर्वरूप इसे प्राप्त होने की संभावना नहीं है। दई = अत्यंत अंतर की व्यंजना के लिए। हेरत ही = देखने से ही, इसे देखने में भी अधिक समय तक देखने की अपेक्षा नहीं है। मति = मनन करनेवाली, जिसका कार्य स्वयम् दूसरे की खोज करना है। जाति० = ऐसी खो जाती है कि फिर मिलने

की संभावना नहीं रह जाती। है० = अत्यंत उलटा, जिसमें पहले रूप का कुछ भी गुण न रहे। हिम का अग्नि हो जाना। घनआनंद = आप अपने घने आनंद में सुखी हैं, मैं घने विषाद में दुःखी हूँ। अंबर = आकाश में ही ज्वाला रह जाती तो भी बचाव का मार्ग रहता। धर को = अन्य ज्वाला चाहे जितनी ऊँची हो आकाश को पाती नहीं, पर यह तो आकाश से पृथ्वी तक पहुँच गई। झर = आकाश से पानी की झड़ी नीचे आती है, ज्वाला इस प्रकार नहीं आती। जारति = जलाकर भस्म ही कर देती है। अंग = सभी अंगों को, सारे शरीर को। अनंग की = कामदेव स्वयम् भस्म हुआ था कदाचित् इसी से वह अंग से बदला ले रहा है। 'अंग' स्तन को भी कहते हैं और स्तन महादेव माने जाते हैं—'आँगि न आँग समाय' में 'आँग' (अंग) स्तन के लिए है। कामदेव के जलने की आँच आज तक बनी है वही जलाती है। आँच से ही जलाए डालती है, स्वयम् बहुत तीखी होगी। जोन्ह = ज्योत्स्ना, 'ज्योति', जोत, लपट, केवल प्रकाश के लिए ज्योति नहीं है। यह जलानेवाली लपट है। सु = सो, वह। नई = ऐसी कभी देखी सुनी नहीं। अगिलाई = आग का लगना।

अलंकार—अपह्नुति, व्यतिरेक, विरोध।

(कबित्त)

नैनन में लागै जाय जागै सु करेजे बीच
या बस ह्वै जीव धीर होत लोट-पोट है।
रोम-रोम पूरि पीर ब्याकुल शरीर महा
घूमैं मति गति-आसैं प्यास की न टोट है।
चलत सजीवन-सुजान-दृग-हाथन तें
प्यारी अनियारी रुचि रखवारी ओट है।
जब जब आवै तब तब अति मन भावै
अहा कहा बिषम कटाछ-सर चोट है ॥४१॥

प्रकरण—कटाक्ष-पात के आघात का वर्णन है। कटाक्ष बाण कहे जाते हैं, पर बाणों से बढ़कर इनका आघात होता है, बाणों से इनमें जो अन्तर है वही प्रेमिका सखी से कह रही है। लगते कहीं हैं, पीड़ा कहीं होती है। सहनशील

भी सहन नहीं कर पाते। पीड़ा जहाँ लगती हैं वहीं नहीं होती, शरीर में सर्वत्र होती है। प्यास कभी नहीं बुझती। जो चलाता है वह मारनेवाला नहीं जिलानेवाला है। जिसके द्वारा चलते हैं उसी की छटा रक्षा भी करती है। जब जब ये बाण आते हैं बहुत अच्छे लगते हैं।

चूर्णिका—नैनन० = कटाक्ष के बाण लगते तो हैं नेत्रों में पर जाकर कसकते हैं कलेजे में (असंगति)। या ब्रस० = (बाणों का प्रहार तो वीर-वीर सह लेते हैं पर) कटाक्ष की चोट से वे भी लोट-पोट हो जाते हैं (सामान्य व्यक्तियों की चर्चा ही व्यर्थ है)। रोम० = (बाणों से पीड़ा वहीं होती है जहाँ वे धँसते हैं, पर कटाक्ष की) पीड़ा रोएँ-रोएँ में समा जाती है और सारा शरीर अत्यंत व्याकुल हो जाता है। घमैं० = बुद्धि गति (मार्ग पाने) की आशा में चक्कर खाने लगती है। टोट = (त्रुटि) कमी। प्यास० = (बाण की चोट में प्यास पानी पाकर कम पड़ जाती है) पर इसके प्रहार से तो प्यास की कमी होती ही नहीं। सजीवन = जिलानेवाले। दृग-हाथन० = नेत्ररूपी हाथों से या नेत्र के हाथों से (नराकृति कल्पना)। चलत० = ये जिलानेवाले सुजान प्रिय के नेत्ररूपी हाथों द्वारा छोड़े जाते हैं। अनियारी = तीखी चुभनेवाली, प्रभाव-शालिनी। रुचि = कांति, शोभा। रखवारी० = रक्षा करनेवाली आड़, ढाल या कवच। कांति की ओट लेकर ये बाण चलाए जाते हैं। जब जब = (अन्य बाण अपनी ओर आते अच्छे नहीं लगते पर ये) जब-जब आते हैं तब-तब मन को अत्यंत प्रिय लगते हैं। अहा = आश्चर्यजनक शब्द। कहा = क्या ही। बिषम = विलक्षण। कटाछ० = कटाक्ष रूपी बाणों का प्रहार।

तिलक—अहा इन कटाक्ष-बाणों की चोट भी कितनी विलक्षण है कि कुछ कहा नहीं जा सकता? ये लगते नेत्रों में हैं और जाकर प्रकट होते हैं कलेजे के बीच। इनकी चोट की चपेट में पड़कर धीर व्यक्ति भी लोट पोट हो जाते हैं। इनकी पीड़ा रोएँ-रोएँ में भर जाती है, सारा शरीर अत्यंत व्याकुल हो जाता है। शरीर ही नहीं अंतःकरण भी। बुद्धि मार्ग पाने की आशा से चक्कर काटने लगती है और मार्ग नहीं पाती। उन बाणों के लगने से पानी पिलाने से प्यास कम पड़ जाती है, पर इनमें प्यास बढ़ती है (और अधिकाधिक चोट खाने की इच्छा होती है)। ये बाण सजीवन प्रिय सुजान के नेत्ररूपी हाथों से

छूटते हैं, उनकी शोभन तीखी छटा की ओट लेकर बाण चलते हैं। अपना बचाव बाण चलानेवाला सौंदर्य की छटा से कर लेता है। अथवा जिसको बाण लगते हैं उसको अपना बचाव प्रिय के सौंदर्य की ही ओट लेकर करना पड़ता है। ये जब-जब छूटकर आघात करने के लिए चलते हैं तब-तब मन को अत्यंत भाते हैं। इनमें प्रत्येक बात उन बाणों से विलक्षण है।

व्याख्या—नैनन० = दोनो नेत्रों में लगती है। लागै० = लगती है, कुछ आघात की भाँति वेदनामूलक प्रहार नहीं होता। नेत्रों में जाकर लुप्त हो जाती है। जाय जागै = जाकर जगती है, प्रकट होती है। तुरंत वहाँ पहुँच जाती है। जागने के समय स्फूर्ति रहती है, यह भी अपना तीखापन प्रकट करती है। सु= सो, वह; कटाक्ष-बाण की चोट। करेजे० = कलेजे के बीच, अर्थात् चोट का पूरा प्रभाव दिखाती है, इधर-उधर कलेजे में भी जगती तो पीड़ा कम होती। नेत्रों में चाहे जहाँ लगे, पर कलेजे पर प्रभाव पूरा पड़ता है। या इस० = इस चोट की चपेट में पड़कर, भली भाँति इसके प्रभाव में आकर। जीव = जीवटवाले, सहन करने में प्राणवत्ता को सँभाले रहनेवाले। धीर = जो अपने मार्ग से विचलित होनेवाले नहीं हैं—'पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः'। लोट-पोट = उभयपक्ष में लगता है। चोट से भी लोग लोट-पोट होते हैं और सौंदर्य पर भी लोट-पोट होते हैं। खड़े नहीं रह सकते। उन पर भी प्रभाव पड़ने में देर नहीं लगती। रोम०= प्रत्येक रोम में जो पीड़ा पूरी हो जाएगी वह मन और तन पर कितना अधिक प्रभाव डालनेवाली होगी, सहज ही इसका अंदाज लग सकता है। रोएँ में भी वह अधूरी नहीं पूरी है। इसी से शरीर महा व्याकुल है। घूमै = बुद्धि जो कुशाग्र होती है उसे भी मार्ग नहीं मिलता, वहीं चक्कर काटती है। केवल कलेजे में ही उसकी चोट नहीं है, शरीर भी आहत है और बुद्धि भी आहत है। बुद्धि विशेष आहत है, इसी से चक्कर आ रहा है उसे। प्यास=उभयपक्ष में, बाण-पक्ष में पानी की प्यास और कटाक्ष-पक्ष में कटाक्षपात की इच्छा। टोट = ज्यों ज्यों प्यास बुझाने के प्रयास होते हैं त्यों-त्यों वह बढ़ती ही जाती है। चलत=बराबर उनका प्रहार होता ही रहता है। सजीवन = जिलानेवाले। जिलानेवाले और मारनेवाले का विरोध। सुजान = बाण चलाने में भी अत्यंत निपुण। इसी

से इस प्रकार का विलक्षण प्रहार होता है। दृग० = नेत्र भी दो और हाथ भी दो। बाण चलाने में दोनो हाथ काम करते हैं। प्यारी० = प्यारी भी और तीखी भी। चुभती भी है और रुचती भी है। रुचि = छटा, रुचनेवाली होने से ही छटा रुचि कहलाती है। रखवारी = रक्षा करनेवाली, इन बाणों से रक्षा भी वही छटा करती हैं, नेत्रों की छटा प्रहार भी करती है और वही रक्षा भी करती है। ओट = रक्षा का स्थान। 'ओट' उभयपक्ष में अन्वित हो सकती है—प्रिय पक्ष में भी और प्रेमी पक्ष में भी। बाण चलानेवाला भी ओट लेकर बाण चलाता है और प्रहार्य भी अपने बचाव के लिए ओट खोजता है। जब = प्रत्येक प्रहार पहले से अधिक भाता है, उत्तरोत्तर उसकी रोचकता बढ़ती जाती है। बिषम = विषमता प्रत्येक व्यवहार में है, उस बाण से इससे समता ही क्या।

पाठांतर—दृग-हेतु (प्रेम)। मन भावै–भावै ज्यावै (मारती नहीं जिलाती है)।

पाती-मधि छाती-छत लिखि न लिखाए जाहि
कातो लै बिरह घाती कोने जैसे हाल हैं।
आँगुरी बहकि तहाँ पाँगुरी किलकि होति
तातो राती दसनि के जाल ज्वाल-माल हैं।
जान प्यारे जौन कहूँ दीजिये सँदेसो तौब
आँवाँ सम कीजिये जु कान तिहि काल हैं।
नेह-भीजी बातैं रसना पै उर-आँच लागैं
जागैं घनआनँद ज्यों पुंजनि मसाल हैं॥४२॥

प्रकरण—विरहिणी अपने विरह का निवेदन कर रही है और बता रही है कि विरह की यह वेदना पत्रिका में लिखकर नहीं बताई जा सकती, स्वयम् लिखी नहीं जा सकती, लिखाई भी नहीं जा सकती। विरह की चोटें बहुत हैं, कहाँ तक लिखा-लिखाया जाय। लिखने में उस विरह वेदना को जब उँगली तक पहुँचाते हैं लिखने के लिए तो वही पंगु हो जाती है, विरह की दशा में बहुत ज्वाला है। संदेश भी नहीं दिया जा सकता। जब आँवाँ के समान कान

कोई करे तो उस ज्वाला को धारण करे। जीभ पर ही बातें जल उठती हैं, मशालों की भाँति।

चूर्णिका—पाती० = पत्रिका में। छाती = छाती में लगे हुए विरह के घाव। छत = (क्षत)। लिखि० = न स्वयम् लिखे जा सकते हैं, न दूसरे से ही लिखाए जा सकते हैं (असंख्य और अकथनीय हैं)। काती = घातक छुरी। बिरह घाती = इस घातक बिरह ने। बहकि = लिखना छोड़कर। तहीं = त्यों ही। पाँगुरी = पंगुल, पंगु। किलकि = चिल्लाकर। आँगुरी = यदि पत्र लिखने का उपक्रम किया जाता है तो (विरह-दशा के ताप से) उँगली लिखना छोड़कर कहीं की कहीं जा पड़ती है और चिल्लाकर लँगड़ी हो जाती है, चलती ही नहीं। ताती = तप्त, गरम। राती = लाल; अनुरागमय। दसा = (दशा) अवस्था (विरह की); बत्ती। ताती० = (क्योंकि) संतप्त विरह दशा के समूह को ज्वाला का समूह ही समझना चाहिए (जो उँगलियों को जलाने लगता है)। जौब = (जौ + अब) अब जो यदि। तौब = (तौ + अब), तो अब, तो तब। जौब० = पत्र लिखने में तो ऐसी दुर्गति है। यदि कहो कि (पत्र मत लिखो) संदेश ही भेज दो, तो सुननेवाला संदेश सुनते समय यदि अपने कानों को आँवाँ की भाँति बना ले तब कहीं सुन सकता है। नेह = प्रेम; चिकना, तेल। बातें = (संदेश की वार्ता) वचन; बत्तियाँ। रसना = जीभ। उर आँच = अंतःकरण में छिपी विरह की आग की आँच। जागैं = जल उठती हैं। नेह-भीज० = (संदेश सुननेवाले की तो यह दशा है, अब सुनानेवाले की दशा सुनिए) स्नेह से भींगी हुई बातें (वचन और बत्तियाँ) ज्यों ही जिह्वा पर लाई जाती हैं हृदय (के भीतर) से विरहाग्नि की ऐसी लपट उनमें लगती है कि वे (बातें) मशालों की भाँति जल उठती हैं (कहें भी तो कैसे कहें)।

तिलक—हे सुजान प्रिय, पत्रिका में वे छाती में लगे हुए घाव न तो लिखे ही जा सकते हैं और न दूसरे से लिखाए ही जा सकते हैं। घातक विरह ने अपनी छुरी से अनेक घाव करके ऐसी स्थिति ही उत्पन्न कर दी है। लिखते समय अँगुली ज्यों ही विरह की प्रेमाकुल तप्त दशा (गरम लाल बत्ती) के संपर्क में आती है त्यों ही वह लिखने के कार्य से विरत होकर चिल्लाती हुई पंगु हो जाती है। विरह की दशाओं में इतना अधिक ज्वाला-पुंज है कि उन्हें

वह सँभाल नहीं पाती। (यदि कहो कि लिखने लिखवाने के फेर में मत पड़ो, संदेश ही भेज दो तो) यदि कोई संदेश को सुनते समय जब अपने कान को आँवाँ की भाँति भीषण आग का धारणकर्ता बना ले तब उसे संदेश दिया जाय। किसी के कान उस भीषण विरह-ज्वाला को सहने को प्रस्तुत ही नहीं हो सकते। संदेश सुननेवाले की तो बात ही पृथक् है। मैं जब उन विरह की दशाओं को कहने में प्रवृत्त होती हूँ तब स्नेह (प्रेम; तेल) से सिक्त बातें (वार्ताएँ; बत्तियाँ) जब जीभ पर आती हैं तब उनमें हृदय में की विरह की आग की आँच लग जाती है और वे मशालपुंज की भाँति जल उठती हैं। मैं कह भी पाऊँ तो किस प्रकार कहूँ।

व्याख्या—पाती = पत्ती, जिसका आकार बहुत छोटा है उससे इन अनगिनत घावों का विवरण कैसे अँटेगा। छाती० = घावों की बात पृथक् 'छाती' स्वयम् पाती से बड़ी, छानेवाली है। छत० = घाव यदि केवल चित्र ही से व्यक्त करने हों तो भी पाती में स्थान नहीं, विवरण तो उनसे कहीं अधिक होगा। लिखो० = 'न लिखि जाहिं, न लिखाए जाहिं' का अन्वय है। कहीं 'लखाए' पाठ है वहाँ 'लिखकर लक्षित नहीं कराए जा सकते, बतलाए नहीं जा सकते' अर्थ करना पड़ेगा। लिखने में जो बाधा है उसका उल्लेख आगे है ही। अनुभव की जानेवाली स्थिति लिखी नहीं जा सकती, यह भी व्यंजना है। जो अनुभव करनेवाला है वही जब नहीं लिख पाता तब दूसरा क्या लिखेगा। लिखाए० = अपने लिखने में स्वयम् सोचो भी और लिखो भी दो आयास करने होते है, लिखाने में केवल एक आयास रह जाता है सोचकर कहते भर जाना है लिखने से छुट्टी मिली। काती० = काती का आघात गहरा भी होता है और वह बराबर आघात करती रह सकती है। छोटी होती है, चलाने में आयास उतना नहीं पड़ता। 'काती' द्वारा यह व्यंजित है कि चोटें बहुत अधिक की गई हैं। लें० = लेकर, बराबर लिए रहकर, छोटा ही नहीं, आघात का नैरंतर्य भी व्यंजित है। बिरह = विरह स्वयम् बड़ा घाती है, आघात करने में दक्ष है, उसे चोट करने में मजा मिलता है। कोने = अभी तक जितना कर चुका वही बहुत है, भविष्य में न जाने और क्या होगा। जैसे० = जैसी हालत हो गई है

उसमें कोई कुछ कह सके यही उसके लिए अचरज है। आँगुरी० = जो सामान्यतया भोजन आदि बनाते समय तप्त वस्तुओं का स्पर्श कर लेने में दक्ष है वह उन विरह की दशाओं को सँभाल नहीं पाती। बहकि = जो लिखने में कभी बहकती नहीं है। तहीं = शीघ्रता की व्यंजना। पाँगुरी० = भविष्य के लिए भी, अन्य कार्यों के लिए भी बेकार हो जाती है। किलकि = अँगुली की नराकृति कल्पना, अँगुली चिल्लाती है, छटपटाती है। 'बहकने' में तो कुछ का कुछ लिखना भी है और लिखना छोड़ देने पर भी उस कार्य से हट जाना मात्र है। पर 'किलकने' में कार्य के छोड़ देने पर भी उसको वेदना से कराहते चिल्लाते रहने की स्थिति की व्यंजना है। होति = सदा के लिए हो जाती है, सुधार की संभावना नहीं रह जाती। ताता० = केवल तप्त होतीं तो कदाचित् सहन की जा सकतीं। 'राती' होने से वे अंगारे की भाँति हैं इससे उन्हें स्पर्श करना ही कठिन है। दसनि० = एक दशा हो तो भी कुछ सह्य हो, अनेक होने से असह्य स्थिति हो गई है। जाल = एक दूसरी में उलझी भी हैं, एक दूसरी के प्रभाव से और भी तीखी हो गई हैं। ज्वाल० = ज्वाला की माला कहने में उनका घिराव व्यंजित है। यदि ज्वालाएँ माला की भाँति घेरे रहें तो उनकी आँच निरंतर लगती रहेगी। जान० = इन विरह की वेदनाओं के अनंतर भी आप ज्यों के त्यों प्रिय हैं। जौ कहूँ = संदेश देने के लिए संदेश ले जानेवाला ही पहले नहीं मिलता यदि कहीं मिला और उसने संदेश सुनना स्वीकार किया। दीजियै = पहले तो संदेश ही भेजने की इच्छा नहीं होती यदि कहीं संदेश देने की प्रवृत्ति हो जाए। सँदेसौ = एक ही संदेश बहुत है अधिक की भी अपेक्षा नहीं। तौब = अचरज की भी व्यंजना है तब तो विलक्षण स्थिति हो जाती है। आँवाँ = कुम्हार के मिट्टी के बर्तन जिसमें आँच देकर पकाए जाते हैं वह, जिसमें आग भीतर ही भीतर सुलगती रहती है। इसमें भी आँच केवल थोड़ी देर के लिए न होगी। सम = कान छोटे होते हैं, आँवाँ बड़ा होता है। इसलिए आँवाँ ही नहीं उसके समान कह दिया। कीजियै = पहले तो कोई उतना अधिक ताप सहन करने को प्रस्तुत नहीं यदि कोई प्रस्तुत भी हो गया तब। जु = यह 'जो' भी संभावना ही प्रकट करता है, होने में कठिनाई है फिर भी यदि। कान = जो बहुत कोमल है,

कड़ी आवाज सुनने में भी जिसे अरोचक प्रतीत होती है। तिहि० = उस समय यदि कोई वैसा कर ले तो फिर क्या, भविष्य में तो हो जा सकता है। उस वेदना की अभिव्यक्ति के समय ही वे सुनने में असमर्थ हो जाते हैं। सुनाते समय क्या सुनाएँगे। नेह० = स्नेह से 'आर्द्र' नहीं 'भीजी', बहुत अधिक स्नेह की व्यंजना। बातें=एक होती तो भी कदाचित् वैसा न होता। रसना=रसवाली, जलवाली है, इसलिए हृदय की आँच कुछ रोकती भी रहती है, पर स्नेह की बात ही जल उठे तो उसमें भी भाप बनने लगेगी। पै = जीभ पर आने के पहले उनमें आँच नहीं लगती, यहीं आने पर लगती है। रसना, आस्वाद का अनुभव करानेवाली भी है। उर०=भीतर की आँच ही से बत्तियाँ जल उठती हैं, शीघ्र आग पकड़नेवाली हैं। लागैं = लगने पर विलंब नहीं लगता, तुरंत ही। जागैं= प्रचंडता से जलती हैं। पुंजनि० = मसाल-पुंजनि ज्यौं; उलटा समास है। हैं = इसका अन्वय 'जागैं' से है—'जागैं हैं' जहाँ जगीं तो फिर जगी ही रह जाती हैं। मसालें तेल से जलती हैं, उनमें तेल बराबर देते रहते हैं। इन (बातों) में भी स्नेह बराबर आता रहता है।

पाठांतर—लिखाय–लखाए। बहकि–चहकि (कदाचित् लिखावट से 'ब' का 'च' हो गया है।) कहूँ–काहू (किसी व्यक्ति को जो उसे सुनने-सुनाने को प्रस्तुत हो)।

(सवैया)

कंत रमैं उर-अंतर में सु लहै नहीं क्यौं सुखरासि निरंतर।
दंत रहैं गहैं आँगुरी ते जु बियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनँद रैन-दिना बिन जान सुतंतर।
जानैं वेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर ॥४३॥

प्रकरण—इस जिज्ञासा पर कि जब अंतःकरण में ही प्रिय बसे हैं तो विरही को सुख की प्राप्ति क्यों नहीं होती, विरही उसका उत्तर दे रहा है कि जिस वियोगाग्नि में मैं जल रहा हूँ वह इतनी प्रचंड है कि जो वियोग सह चुके हैं वे भी इसकी भीषणता पर अचरज करते हैं। मेरी वेदना ऐसी है कि जिस समय उसका अनुभव किया गया उस समय के अतिरिक्त फिर ज्यों का त्यों उसका अनुभव हो ही नहीं सकता, कहने की क्या कथा।

चूर्णिका—कंत = कांत, प्रिय। कंत रमैं = यदि यह कहा जाय कि प्रिय तो हृदय के भीतर ही बसा है फिर भी तू सतत सुख की राशि क्यों नहीं पाती (तो उसका उत्तर यह है कि)। दंत० = दाँतों तले उँगली दबाए रहते हैं, अचरज करते हैं। तें=वे (लोग)। जु=जो (लोग)। तेह = आँच। तचे = पके। परतंतर = परतंत्र (होकर)। दंत रहैं = वे लोग भी जो प्रेम की वश्यता स्वीकार कर वियोग की आँच में पक चुके हैं (मेरी भीषण विरह ज्वाला देखकर अचरज से) दाँतों तले उँगली दबाते हैं। रैनि = (रजनी) रात। दिना=दिन। सुतंतर = स्वतंत्र, स्वच्छंद मनोवृत्तिवाले ('जान' का विशेषण)। जान० = जैसा दुःख मैं दिन-रात सह रही हूँ उसे वे दिन-रात ही समझ सकते हैं (अन्य कोई नहीं)। जाय परै = जा पड़ता है, हो जाता है। बखाने तें० = यदि उस दुःख को कहूँ तो दिन-रात का-सा अंतर पड़ जाता हैं। विरह-वेदना अनुभवगम्य ही है, वह कही नहीं जा सकती।

तिलक—(प्रेमिका की उक्ति सखी से) जब कोई यह जिज्ञासा करता है कि प्रिय हृदय में ही बसा है तो तू क्यों निरंतर सुख-राशि का लाभ नहीं करती तो उसका उत्तर यह है कि मेरी विरह व्यथा को देखकर वे भी दाँतों तले उँगली दबाकर अचरज प्रकट करते हैं जो विरह-वेदना की आँच में तपकर परिपक्व हो चुके हैं। वास्तविकता यह है कि स्वच्छंद मनोवृत्तिवाले प्रिय सुजान के विरह में रात-दिन मैं जो दुःख सहन कर रही हूँ वह ऐसा दुःख है कि उसे वे रात-दिन ही समझ सकते हैं, और तो उन्हें समझ ही नहीं सकता। यदि कोई कहे कि उसे बताओ वह कैसा है तो उसके संबंध में इतना ही कहना है कि जो दुःख अनुभूत हुआ है और जो कहकर बतलाया जाएगा उन दोनो में उतना ही अंतर हो जाएगा जितना दिन और रात में अंतर है। कहाँ अनुभूत दुःख की प्रचंडता और कहाँ उसके कहने में शब्दावली का अभाव। वह अनिर्वचनीय है।

व्याख्या—कंत = प्रिय की कांति-छटा पर प्रेमिका मुग्ध हो गई है, वह छटा हृदय में बसी है। रमैं = रमण कर रहे हैं, हृदय उसी सौंदर्य में लीन रहना चाहता है। जो सौंदर्य में लीन है वह दुःख का अनुभव किस प्रकार करेगा। उर० = हृदय के अंतरतम में जहाँ से शीघ्र निकल जाने की कोई

संभावना नहीं है। सु = (जो) वह (जिसके हृदय में प्रिय बसे हैं वह अथवा सुख की वह राशि)। लहै० = नैकट्य इतना अधिक है कि प्राप्ति में कोई कठिनाई होने की संभावना नहीं है। क्यों = कारण का पता नहीं है; अतर्क्य है। सुख० = सुख ही नहीं, सुखों की राशि, दुःख यदि हो भी तो सुखराशि में वह कितना होगा। निरंतर = हृदय में रहने से प्राप्ति का नैरंतर्य भी है, अन्यत्र रहने से ऐसा न हो सकता। दंत = दाँतों में उँगली तब दबाई जाती है जब उँगली में कोई कष्ट होता है। मेरी वेदना की ओर उँगली से संकेत करने पर वह उँगली इतनी दग्ध हो जाती है कि उसे शांत करने के लिए मुँह में ले जाना पड़ता है। कहीं वह बाहर न आ जाय इसलिए उसे दाँत से पकड़े रहते हैं। रहैं = बराबर पकड़े रहते हैं, थोड़े समय के लिए भी नहीं छोड़ते। गहैं = केवल पकड़े रहते हैं, दाँतों का आघात आदि नहीं लगने देते। आँगुरी = अर्थात् अँगुलियाँ, कई अँगुलियाँ। सामान्यतया तर्जनी दाँतों तले दबाते हैं। दाँतों तले उँगली दबा लेने से मुख का बोलना रुक जाता है, ऐसे प्रसंग में भी उँगली दबा ली जाती है जहाँ कुछ बोल देने से खतरा होने की संभावना रहती है। बियोग = प्रवासजन्य वियोग, जिसमें प्रिय का अभाव बहुत समय तक रहने की संभावना होती है। तेह = तीखापन, कड़ी आँच, अति विरह। तचे = विशेष परितप्त हुए हैं, उसके अधीन हो चुके हैं, जो उसके अधीन नहीं हुआ उसके लिए तो कहा जा सकता है कि वह बिरह को क्या समझे। देखति० = प्रत्यक्ष देखती हूँ, साक्षात् अनुभव करती हूँ, कुछ सुना नहीं है, स्वयम् ही अनुभव किया है। घनआनँद = आप (प्रिय) तो सदा आनंद की सघनता में ही रहते हैं, यहाँ दुःख की सघनता है। रैनि-दिना = रात को पहले और दिन को बाद में कहा है, रात में दुःख अधिक और दिन में अपेक्षाकृत कम होता है। इससे पूर्वापर का न्यास है। बिन = अभाव में, बिना उनके दर्शनों के, जब दर्शनाभाव में यह स्थिति है तो अन्य परिस्थिति में न जाने क्या होगा। जान = सुजान। सुजान न कहकर जान कहने में केवल ज्ञानी होने का संकेत है, 'सुजान' में तो संभावना रुकती है कि ज्ञान सुष्ठु है तो चाहे अनुभूति का ग्रहण न करे पर उसके प्रति विरुद्ध नहीं हो सकता, पर जो शुद्ध या कोरा ज्ञानी है वह तो

अनुभूति या सहृदयता के ही विरुद्ध होगा। सुतंतर = स्वतंत्र और सुतंत्र दोनो का अर्थ निहित है। वे अपने तंत्र की ही चिंता रखते हैं और उस तंत्र में परिपक्वता भी है। मनमानी ही करते हैं, खूब मनमानी करते हैं। जानै० = वे दिन-रात जानते हैं, मैं भी नहीं जानती। प्रेमिका में ज्ञानात्मक अंश का इतना अभाव है कि जहाँ तक जानने का प्रसंग है वह दुःख को जानती नहीं, अनुभव अवश्य करती है। दुःख की अनुभूति कालावच्छिन्न है, अर्थात् जिस समय उसकी अनुभूति हुई, वैसी अनुभूति उसी समय तक परिमित है, उसके अनंतर जिसने अनुभव किया वह भी उसी रूप में कालांतर वैसा अनुभव नहीं कर सकता। वेई = अनेक दिन-रातों में दुःखानुभव होता है और अनेक प्रकार का होता है। अनुभूति में गंभीरता, प्रकारता, असंख्यता और अनंतता है। दिन-राति = दिन का अनुभव रात और रात का अनुभव दिन में भी नहीं हो सकता। एक दिन का अनुभव दूसरा दिन भी नहीं कर सकता। 'वेई' में भी 'ई' अर्थात् 'ही' की व्यंजना इसी ओर है। बखानै० = 'बखान' शब्द 'व्याख्यान' से बना है, विशेष रूप से विवरण सहित कहने में। प्रत्येक विवरण एक दूसरे से भिन्न, मूल से भिन्न हो जाता है। जाय० = सदा के लिए हो जाता है, यह नहीं कि अभी नहीं कह पाते हैं तो कदाचित् कभी कह सकें। कभी नहीं कह सकते। दिन० = अंतर प्रायः विपरीत हो जाता है, आकाश-पाताल का अंतर। कहते समय जिस दुःख की अभिव्यक्ति हो पाती है वह कुछ-कुछ दुख के निकट पहुँचता प्रकट हो जाता है। वाणी को कहना है, अनुभूति हृदय की है, हृदय ही अनुभव करना चाहे तो कदाचित् कुछ अनुभव हो भी सके। वाणी में अभी उन अनुभूतियों के लिए शब्द नहीं बने, किसी ने ऐसा अनुभव पहले किया नहीं। अब कोई शब्द नहीं बन पाता, कहनेवाला केवल अनुभूति-संपन्न है, वह वाणी की वह विशेषता ही नहीं जानता। कहे भी तो कैसे कहे, उसकी साधना तो मौन की साधना है। चुपचाप सहते रहो, बोलो मत। जब वियोग में परिपक्व लोग ही अचरज करते हैं तब अन्यों के संमुख वह वेदना कहना ही बेकार है, वे न तो उसे समझेंगे और न उसके निवारण का कोई मार्ग ही बता सकेंगे। वियोगदग्ध भी मुँह नहीं खोलते तो और क्या खोलेंगे।

व्याकरण—मुहावरों की विशेषता प्रत्येक चरण में—हृदय में रमना, सुखराशि लहना, दाँतों अँगुली पकड़े रहना, वियोग के तेह में तचना, दुःख देखना, दिन-रात का अंतर पड़ना।

विशेष—दुःखानुभूति के साथ 'रैनि-दिना' ('रात-दिन') का व्यवहार पर 'जानै वेई दिन रात' में क्रम पलट गया। विषमता को शब्दों द्वारा भी संकेतित किया है।

चंद चकोर की चाह करै घनआनँद स्वाति पपीहा कौं धावै।
त्यौं त्रसरैनि के ऐन बसै रवि मीन पै दीन ह्वै सागर आवै।
मोसों तुम्हैं सुनौ जान कृपानिधि नेह निबाहिबो यौं छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अंक बसावै॥४४॥

प्रकरण—प्रिय के प्रति प्रिय और प्रेमी की स्थिति का उदाहरणों द्वारा निवेदन। आप मेरी ओर उन्मुख हों यह वैसी ही स्थिति है जैसी तब होगी जब चंद्रमा चकोर की चाह करे, स्वाती पपीहे के पास दौड़ा आए, त्रसरेणु के घर सूर्य आ बसे और मीन के निकट दीन होकर समुद्र आए तथा कुबेर किसी दरिद्र को अपनी गोद में बैठा ले।

चूर्णिका—चाह०=प्रेम करे, प्रेम करने के लिए उसके पास आए। पपीहा कौं=पपीहे के लिए, पपीहे के पास दौड़े। त्रसरैनि=त्रसरेणु, छेद में से होकर आती धूप में चमकनेवाला विशेष कण (सबसे छोटे को परमाणु, उससे बड़े को अणु और अणु से बड़े को त्रसरेणु कहते हैं)। पुराणों में सूर्य की एक पत्नी त्रसरेणु भी है। ऐन=अयन (घर)। मीन पै=मछली के पास। दीन ह्वै= विनम्र बनकर, प्रेमी की कोमलता से युक्त होकर। नेह=प्रेम का निबाहना, प्रेम करना। यौं=ऐसी शोभा पा सकता है, ऐसी विलक्षणताओं से उसकी उपमा दी जा सकती है। अपनी रुचि=अपनी इच्छा से, अपने आप। रुचि०= अनुरक्त होकर। सु=वह (कुबेर)। रंक=दरिद्र। अंक बसावै=गोद में बिठा ले, बहुत अधिक प्रेम प्रदर्शित करे।

तिलक—हे कृपा के सागर प्रिय सुजान, आप ध्यान से सुनिए। आप मुझसे प्रेम का निर्वाह करें तो उस स्थिति की छटा कुछ इस प्रकार की होगी जिस प्रकार के उदाहरण आगे दिए जा रहे हैं। चंद्रमा ही चकोर की चाह करने लगे,

आनंद के बादलोंवाला स्वाती पपीहे की ओर दौड़ पड़े। सूर्य स्वयम् जाकर त्रसरेणु के घर में निवास करने लगे, मछली के निकट समुद्र दीनता के भाव से आ उपस्थित हो और अपनी इच्छा से अनुरक्त होकर कुबेर भी रंक को अपनी गोद में बिठा ले (अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित करे)।

व्याख्या—चंद = चंद्र और चकोर के प्रेम में रूप का आकर्षण है। चंद्रमा के रूप से चकोर आकृष्ट होता है, चंद्र आकाश में, चकोर पृथ्वी पर, दूरी भी बहुत है। चकोर = किसी विशेष चकोर को, सब चकोरों को नहीं। चाह० = इच्छा करे, स्वयम् सहृदयता का प्रदर्शन करे और उसकी इच्छा करके उसके निकट आए। चंद्र में वह चेतना नहीं है जो चकोर में। एक पक्ष अचेतन और दूसरा चेतन है। पहले तो चाह होना ही कठिन है फिर चाह निरंतर बनी रहे यह और भी कठिन है। 'करै' का तात्पर्य नैरंतर्य से है, करता रहे। 'चाह हो' नहीं, 'चाह करै' इसमें प्रयत्न-पक्ष भी स्पष्ट है। घनआनँद = कवि के नाम के अतिरिक्त 'आनंद के बादल' अर्थ भी है और पूरा पद 'स्वाती' का विशेषण है। स्वाती का बादल आनंददायक होता है, विशेष रूप से चातक के लिए। स्वाती = जिसमें 'स्व' की 'अति' है, जिसमें आत्मपक्ष प्रबल है, वह पपीहे की ओर दौड़े। पपीहा = जिसकी निरंतर रट 'प्रिय-प्रिय' की ही है। चातक माँगनेवाला, 'पपीहा' प्रिय की रट लगानेवाला। जो प्रिय से कुछ माँगता नहीं प्रिय का सान्निध्य चाहता है। धावैं = यह समझकर कि यदि उसके निकट नहीं पहुँचता तो वह 'पी पी' करता प्राणत्याग कर देगा। माँगनेवाला जो माँगता है उसके मिलने से उसको तुष्टि हो जाती है, पर प्रिय का नाम स्मरण करनेवाले को प्रिय की प्राप्ति अपेक्षित होती है, उसका दान नहीं। पपीहे को बादल चाहिए, जल नहीं। त्रसरैनि = उसका घर बहुत छोटा होगा, पर उसमें भी सूर्य आकर बसे। ऐन = घर में आकर बसे केवल दर्शन देकर चला न जाए। रबि = आकाश के सभी ज्योतिष्क पिंडों में प्रधान, कोई साधारण अस्तित्व नहीं। मीन = एक मछली, विशेष मछली। दीन० = अपनी तरंगों का प्रचंड आघात त्याग कर, उग्रता के बदले कोमलता में परिणत होकर। पहले चरण में पहला पिंड चंद्र प्रकाशपिंड है। दूसरे चरण में भी प्रिय प्रकाश-पिंड है सूर्य। पहला चंद्र शीतल है, दूसरा रवि प्रचंड है। पहले

चरण का दूसरा प्रिय स्वाती का घन है, शांतप्रकृति है। दूसरे चरण का सागर प्रिय उग्र है। दोनो जीवन (जल) तत्त्ववाले हैं। चंद्र में रूप का आकर्षण, घन में गुण का आकर्षण, सूर्य से प्रताप का आकर्षण और सागर में मर्यादा का आकर्षण है। समुद्र मर्यादाशील होता है। मीन के पास आने का तात्पर्य है कि मीन वियुक्त है, सागर से दूर है, इसलिए उसे अपनी मर्यादा का त्याग करके आना पड़ेगा। दीन होने का एक हेतु यह भी है। सागर० = उसका अपार विस्तार व्यंजित हैं। मोसों = मुझ ऐसे साधारण व्यक्ति से। तुम्हें = आप ऐसे असाधारण व्यक्ति का। सुनौ० = सुनने में भी प्रिय की वृत्ति उन्मुख नहीं है, इससे उसकी प्रार्थना है। जान = सुजान, आप स्वयम् जानते हैं कहने की आवश्यकता नहीं है, 'सुनौ' अर्थात् ध्यान दीजिए। कृपानिधि = कृपासागर, आप स्वयम् अनुकूल होनेवाले हैं, फिर भी आपसे कहना पड़ रहा है। नेह० = प्रेम करना नहीं, प्रेम का निभाना, प्रेम का अंत तक निर्वाह करना। निर्वाह ही आपके लिए कठिन है। प्रेम तो कर सकते हैं। छबि = अत्यंत आकर्षण की स्थिति हो यदि ऐसी हो, सभी का ध्यान उधर जाए। अभी तो कोई मेरी ओर ध्यान तक नहीं देता। अपनी रुचि = कुबेर में प्रवृत्ति जगाई न जाए, स्वयम् ही दूसरे की रुचि से नहीं। राचि = केवल रुचि होकर न रह जाए उसमें अनुरक्त होने की वृत्ति हो। कुबेर सु = संपत्ति का वह अधिष्ठाता जिसे किसी का मुँह ताकने की अपेक्षा नहीं है। रंकहिं लें = रंक की ओर से कोई प्रयास न हो सारा प्रयास कुबेर के ही पक्ष से हो। निज अंक = गद्दी पर न बैठाए, अपनी ही गोद में बैठाए। अपना उत्तराधिकारी न बनाए, गोद में न ले, प्रत्युत गोद में बसाए, वहाँ से फिर उतारे भी न।

ज्यौं बुधि सों सुघराई रचै कोऊ सारदा कों कबिताई सिखावै।
मूरतिवंत महालछमी-उर पोत-हरा रचि लै पहिरावै।
रागवधू-चित-चोरन के हित सोधि सुधारि के तानहि गावै।
त्यौं ही सुजान तियै घनआनँद भो जिय-बौरई-रीति रिझावै ॥४५॥

प्रकरण—प्रिय का प्रेमी को अपने अनुकूल करने का प्रयास दुरूह है। बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी के सामने अपनी चतुराई, शारदा को काव्योपदेश, लक्ष्मी को साधारण माला का अर्पण, रागिनी के संमुख तान छेड़ना जैसा है वैसा ही प्रिय सुजान को अपने मन की पगली रीति से रिझाना है।

चूर्णिका—बुधि = बुद्धि से, बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी से। सुघराई = चतुरता। सुघराई रचं = चातुर्य की बातें बघारे। सारदा = (शारदा) सरस्वती, काव्य की अधिष्ठात्री देवी। कबिताई = काव्य करना। मूरतिवंत = मूर्तिमती। महालछमी = महालक्ष्मी, संपत्ति की अधिष्ठात्री देवी। उर = अर्थात् गले में। पोत = काँच की गुरिया। हरा = हार, माला। रागबधू = रागिनी, राग-रागिनी की अधिष्ठात्री देवी। हित = लिए। सोधि = शोध करके, विचारपूर्वक। सुधारि कै = ठीक करके, बनाकर भली भाँति। तान = आलाप। तियें = स्त्री को, प्रेमिका को। मो जिय = मेरे मन की। बौरई = पागलपन की रीति। त्यौं ही = उसी प्रकार सुजान को मेरे मन की पागलपने की रीति रिझा लेना चाहती है। मैं अपने पगलेपन से ऐसी सुजान (सज्ञान) को वश में करना चाहता हूँ।

तिलक—मेरे मन की पागलपने की रीति का प्रेयसी सुजान को रिझाने का प्रयास उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्रयास कोई बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी को रिझाने के लिए अपने चातुर्य के द्वारा करे, कविता की अधिष्ठात्री देवी शारदा के सामने अपनी कविता के गुणों का आख्यान उसे वश में करने के लिए करे। साक्षात् महालक्ष्मी संपत्ति की अधिष्ठात्री के लिए काँच की गुरियों की माला अपने हाथों गुहकर पहनाए। रागिनी के चित्त को वश में करने के लिए तान को विचारपूर्वक परिष्कृत रूप में गाए।

व्याख्या—बुधि = बुद्धि की अधिष्ठात्री, विद्या। सुघराई=पश्चिमी अंचल में इस शब्द का अर्थ चतुराई है और पूर्वी अंचल में सुंदरता। घनआनंद ने पश्चिमी अर्थ में ही इस शब्द का सर्वत्र प्रयोग किया है। रचं = रच-रचकर, चातुर्य के प्रयोग गढ़-गढ़कर कर। कोऊ = साधारण व्यक्ति, कोई जन्मजात या परंपरा से चतुर व्यक्ति नहीं। सारदा॰ = विद्या से शारदा को पृथक् रखा है। विद्या में केवल ज्ञानात्मक शुष्क अंश है। शारदा में भावात्मक सरस अंश है। कबिताई = साधारण कविता। सिखावैं = यहाँ शिक्षा देने के अर्थ में नहीं है, व्यंजक शब्द है। 'कविता सिखाना, कविता पढ़ाना' प्रयोग वैसे ही हैं जैसे किसी को अपनी चालाकी दिखाने पर कोई उसे डाँटता है कि 'मुझे सिखाने या पढ़ाने चले हैं'। अर्थात् मुझे धोखा देने, ठगने चले हैं। इस प्रकार इसका अर्थ

हुआ सरस्वती को काव्य के द्वारा ठगने का प्रयास। मूरतिवंत = हार पहनाने के लिए मूर्ति का प्रत्यक्ष होना आवश्यक था, इसी से मूर्तिमती विशेषण रखा गया है। महालछमी = लक्ष्मी नहीं, महालक्ष्मी, परा शक्ति। पोत-हरा = कांच की बड़ी माला। जो संपत्ति की अधिष्ठात्री है उसे वश में करने के लिए अर्थात् उसको प्रसन्न करके द्रव्य पाने के लिए। भक्त की वृत्ति से नहीं व्यापारी की वृत्ति से। भक्त तो बिना माला के भी अपनी भक्ति से वश में कर ले सकता है। रचि = विशेष ध्यान लगाकर गुरियों को ठीक-ठीक पोहकर। पहिरावै = सुसज्जित करे। लक्ष्मी की साज-सज्जा पोतहार से भला क्या होगी। रागबधू = रागिनी। राग की अपेक्षा रागिनी में कोमलता और सूक्ष्मता विशेष होती है। बित-चोरन = चित्त विशेष चंचल होता है उसे सामान्यता सहज स्थिति से प्राप्त करना कठिन है, कुटिलता से, चुराने से ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। हित = 'लिए' के अर्थ में कई शब्द चलते हैं सबमें कुछ न कुछ अर्थांतर है। 'हित' में भावात्मक अंश है, 'निमित्त' में ज्ञानात्मक अंश है। सोधि = जहाँ तक छान-बीन करनी संभव है वहाँ तक। सुधारि = जहाँ तक सँभालकर गाते बने वहाँ तक। तानहि = एक ही तान। अधिक तानें हों तो भी कुछ प्रभाव पड़ने की संभावना है। सुजान तियें = इस शब्द से स्पष्ट है कि सुजान नाम की कोई स्त्री अवश्य थी जिसे 'घनआनंद' रिझाने का प्रयास कर रहे थे। घनआनँद = सुजान का विशेषण करके घने आनंदवाली अर्थ भी हो सकता है, छाप के अतिरिक्त। मो जिय० = मेरा जी जो अजान है। अजान ही नहीं है, उसमें पागलपन भी है, 'बौरई रीति' है। सुजान के लिए सुजान रीति चाहिए। 'मेरा जी बौरई रीति से रिझाता' भी अर्थ कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'जो' कर्ता होगा, 'रीति' कर्ता न होगी।

पाठांतर—रचै-कथै (कहे, 'रचै' में 'रचकर कहे' अर्थ।) कबिताई-सुघराई। दोनो स्थलों पर 'सुघराई' शब्द ठीक नहीं लगता। संगति बैठने के लिए 'बुधि' और 'सारदा' को एक ही मानना पड़ेगा।

(कबित्त)

हिये मैं जु आरति सु जारति उजारति है
मारति मरोरैं जिय डारति कहा करौं।

रसना पुकारि कै बिचारी पचि हारि रहै
कहै कैसें अकह, उदेग रुँधि कै मरौं।
हाय कौन बेदनि बिरंचि मेरे बांट कीनो
निघटि परौं न क्यौं हूँ ऐसी बिधि हौं गरौं।
आनँद के घन हौ सजीवन सुजान देखौ
सीरी परि सोचनि अचंभे सों जरौं भरौं ॥४६॥

प्रकरण—विरहिणी मर्मांतक वेदना सहते हुए भी जी रही है। इसी अपनी विषम वेदना का निवेदन वह प्रिय के प्रति कर रही है। उसमें प्रिय-दर्शन की लालसा है। वह जलाती ही नहीं उजाड़े भी दे रही है, प्राणों को मरोड़े भी डाल रही है। लालसा के अतिरिक्त उद्वेग है। वह घेरकर मारता है, फिर भी नहीं मरती। जीभ पुकारकर भी कुछ कह नहीं पाती, कंठावरोध होने पर नहीं मरती। शरीर गल रहा है, फिर भी समाप्त नहीं होती। ठंढी पड़ती हूँ सोच से, फिर भी नहीं मरती। अचंभे से जलती हूँ, फिर भी नहीं मरती।

चूर्णिका—आरति = लालसा। जारति = जलाती है। उजारति = उजाड़े डालती है। मारति = मारती है, जी को मरोड़ डालती है। मरोड़कर मारे डालती है। कहा = क्या। रसना = जीभ। बिचारी = जिसका कोई वश नहीं चलता। पचि = परेशान होकर। हारि० = थक जाती है, हार मान बैठती है। कैसें = किस प्रकार से। अकह = अकथ्य, न कही जा सकने योग्य। उदेग = (उद्वेग) घबराहट। रुँधिकै० = (उद्वेग से) घिरकर भीतर ही भीतर मरी जाती हूँ। बेदनि = वेदना, पीड़ा। बिरंचि = (विरिंचि) ब्रह्मा। मेरे० = मेरे हिस्से में डाली। निघटि० = चुक क्यों नहीं जाती। ऐसी० = इस प्रकार (अत्यधिक) मैं गल रही हूँ। निघटि परौं० = इस प्रकार (कष्ट सहकर) गलती जा रही हूँ, क्यों नहीं एकबारगी ही चुक जाती। सीरी = ठंढी। भरौं = दिन काट रही हूँ। सीरी० = सोच के मारे ठंढी पड़कर। अचंभे = आश्चर्य से जलती हूँ। भरौं = इस प्रकार मैं दुःख की विषमता में पड़ी हुई दिन काट रही हूँ।

तिलक—हे आनंद के बादल सजीवन सुजान, देखिए मेरी कैसी विषम स्थिति है। मरने की सभी स्थितियाँ होने पर भी मैं मर नहीं रही हूँ। घोर कष्ट सह रही हूँ। सबसे पहले हृदय को ही देखिए। उसमें आपके दर्शन की जो लालसा है वह भीतर आग लगाकर जला रही है, उजाड़े डाल रही है, जी को भी मरोड़कर मारे डाल रही है, बोलिए क्या करूँ। जीभ बेचारी पुकारकर परेशान होकर थक जाती है, वह हार मान बैठती है। जो कहा ही नहीं जा सकता उसे कहे भी तो कैसे कहे। भीतर से उद्वेग गले को रूँधे दे रहा है, मैं मर रही हूँ (मरणांतक वेदना सह रही हूँ)। ब्रह्मा ने भी मेरे भाग्य में न जाने कौन सी वेदना दे रखी है कि मैं कुछ ऐसे ढंग से जल रही हूँ कि नित्यप्रति क्षीण होती जाती हूँ, पर ऐसा नहीं होता कि किसी प्रकार एकबारगी ही समाप्त हो जाती, जिससे नित्यप्रति होनेवाली वेदना से तो राहत मिलती। मारे चिंताओं के तो ठंढी पड़ती हूँ और फिर अचंभे से जलने लगती हूँ, इस प्रकार की विषम विरोधात्मक स्थिति में अपने कष्ट के दिन काट रही हूँ।

व्याख्या—हियै० = हृदय में जो जमकर बैठी है। जु = जो (भीषण)। आरति = लालसा के कारण होनेवाली वेदना। सु = सो, वह (भीतर ही भीतर प्रज्वलित होनेवाली)। जारति = भीतर से जलाकर राख किए डालती है। उजारति = घर जलने पर कुछ अंश फिर भी रहने के योग्य बच सकता है, पर जब नहीं बचता तो घर उजड़ जाता है, वहाँ कोई बसता नहीं। 'आरति' के कारण अंतःकरण में और वृत्तियों के रहने का स्थान तक नहीं रह गया है। मारति = प्राण उस उजाड़ खंड में भी बसे हैं, उसे छोड़ नहीं रहे हैं, इस पर उन्हें मार-मारकर निकाल रही है। मरोरै० = प्राणों को मरोड़े डाल रही है, नहीं निकल रहे हैं इसलिए बरबस खींचकर निकाल रही है। जिय० = जो जी इस उजाड़ में भी पड़ा रहकर जी रहा है। कहा० = मुझे तो कोई उपाय नहीं सूझ रहा है, आप कुछ बता सकें तो बताएँ। रसना = आस्वाद करनेवाली जीभ को आस्वाद तो मिलता नहीं। केवल चिल्लाना पड़ रहा है। पुकारि कै = जितनी शक्ति थी उतनी लगाकर वह पुकार चुकी। बिचारी = न आस्वाद ही मिला, न पुकारने में ही कोई सफलता मिली। पचि० = केवल परेशानी ही हाथ लगी। हारि रहै = पहले कभी ऐसी स्थिति उसकी नहीं

हुई है, पहली ही बार उसने हार मानी है। कहै० = मौन साधने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा नहीं है, पुकारने में सफलता नहीं मिली, कोई कहे कि क्या पीड़ा है इसका विवरण मिलने से कदाचित् कोई सफलता मिलती तो उसका उत्तर यह है कि वेदनाएँ अनिर्वचनीय हैं, विलक्षण हैं; कही कैसे जा सकती हैं। उद्वेग = बाहर जब जीभ ने नहीं कहा तो भीतर वे ही वेदनाएँ लौटकर व्याकुलता उत्पन्न करती हैं। रुँधि० = न बाहर जाते बनता है न भीतर रहते। श्वासावरोध हो रहा है। मरौं = मर रही हूँ, लालसा ने प्राणों को मारा पर नहीं मरी, अब व्याकुलता से मर रही हूँ, अब मरी तब मरी फिर भी नहीं मरी, केवल कष्ट भोगती रह गई। हाय = अत्यंत वेदना व्यंजक। कौन = जैसी किसी दूसरे के बाँटे नहीं आई, सबसे विलक्षण और भीषण। बेदनि = वेदना, पीड़ा, कष्ट की अनुभूति जिसका अनुभव मैंने ही पहले नहीं किया, किसी ने नहीं किया। बिरंचि० = ब्रह्मा ने कुछ भी सोचा-विचारा नहीं। मेरे० = मैं सहन करने में सब प्रकार से असमर्थ हूँ। बाट कोरी = इनके हटने की कोई संभावना नहीं, भाग्य में ही ऐसा लिख रखा है। निघटि० = नितराम् घट जाना, सर्वतोभावेन समाप्त हो जाना! धीरे-धीरे घटने में न जाने कितने दिनों तक कष्ट भोगना पड़े। क्यों हूँ = परिस्थितियाँ भी कैसी हैं, मैं चाहती भी हूँ फिर भी वैसा नहीं होता। ऐसी० = इस रीति से, इतना तिल-तिल कर घट रही हूँ कि बहुत दिनों के लग जाने की संभावना है। गरौं = भीतर ही भीतर से क्षीण हो रही हूँ। अब कैसे गली इसका अंजाद नहीं लग रहा है। आनँद० = आप आनंद के बादल, मैं विषाद की पपीही। सजीवन = जीवन के सहित, पानी के सहित, जिलानेवाले। जब मरते हुए भी मर नहीं रही हूँ तब इसका कारण यही हो सकता है कि आपकी ही संजीवनी शक्ति, आपकी ही प्रीति मुझे जिला रही है। सुजान = ध्यान देकर आप देखिए; आपको भी कभी इस प्रकार की स्थिति दिखाई न पड़ी होगी, सुनाई चाहे पड़ी हो। सीरी = ठंढी, संकुचित, सोच में संकोच करने की वृत्ति होने से। परि = पड़कर पहले ठंढी पड़कर, जो सूखा होता है उसे जलने में बिलंब नहीं लगता, पर, ठंढे को, गीले को देर लगती है। फिर भी जल जाती हूँ। सोच से ठंढा पड़ने का कारण है निरंतर आँसू का प्रवाह। अचंभे० = आश्चर्य विकासशील है इससे

उसे जलानेवाला (बढ़ानेवाला) कहा है। भरौं = सोच से जो संकोच हुआ था वह अचंभे से भर गया, पूरा हो गया।

व्याकरण—'भरना' क्रिया का अर्थ 'दिन काटना' होता है। तुलसीदास ने भी लिखा है—

नैहर जनम भरबि बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई ॥

पाठांतर—रुँधिकै = रुँधियै (रुँधी हुई मैं)।

(सवैया)

पाप के पुंज सकेलि सु कौन धौं आन घरी में बिरंचि बनाई।
रूप की लोभनि रीझि भिजायकै हाय इतै पै सुजान मिलाई।
क्यौं घनआनँद धीर धरैं बिन पाँख निगोड़ी मरैं अकुलाई।
प्यास-भरी बरसैं तरसैं मुख देखन कौं अँखियाँ दुखहाई ॥४७॥

प्रकरण—प्रेमिका की आँखें प्रिय-दर्शन के लिए लालायित हैं। उन्हीं के संबंध में वह कह रही है। इन आँखों का निर्माण न जाने ब्रह्मा ने किस सामग्री से और किस घड़ी में किया। इन्हें रूप का लोभी बनाया और सुजान के रूप पर इन्हें मुग्ध किया। ये अब प्रिय का रूप न देखकर बेपंख के पक्षी की भाँति व्याकुल हैं।

चूर्णिका—सकेलि = एकत्र करके। धौं = न जाने। आन = (अन्य) विलक्षण, बुरी। घरी = (घड़ी) मुहूर्त। बिरंचि = ब्रह्मा, विधाता। रूप० = सौंदर्य का लोभ करनेवाली। रीझ० = रीझने की सरसता में भिगोकर। इतै पै = इतने पर, इसके अनंतर। सुजान० = सुजान के सौंदर्य से जा मिलाया। पाँख = (पक्ष) डैने। निगोड़ी = (गाली) अभागी। प्यास० = प्यास से भरी हुई भी (आँसू) बरसाती हैं (विरोध)। तरसैं = कलपती हैं। दुखहाई = दुःख की मारी, अत्यंत दुखिया।

तिलक—न जाने ब्रह्मा ने पाप की किस ढेरी को एकत्र करके इन आँखों का किस मुहूर्त में निर्माण किया है कि इन्हें केवल दुःख ही दुःख भोगना पड़ रहा है। निर्माण कर लेने पर भी उसने इन्हें जो प्रकृति दी वह यदि न दी होती तो भी कुछ बचत होती। इन्हें उसने सौंदर्य का लोभी बनाया। इनमें रीझ से सरस होने की टेव डाली और हा मिलाया भी जाकर तो उसने इतने पर सुजान के रूप से जा मिलाया (उधर रूप अपरंपार और हृदय अत्यंत कठोर)। भला

ये किस प्रकार धैर्य धारण करें। इनकी लालसा है कि प्रिय जहाँ हैं वहीं जाकर उनके दर्शन करें, पर बिना पंख के ये अभागिनें व्याकुल हो-होकर मर रही हैं। न प्रिय आते हैं और न ये वहाँ उड़कर ही जा सकती हैं। प्रिय के दर्शन की पिपासा इनमें लबालब भरी है फिर भी आँसू बरसाती रहती हैं। प्रिय का मुख देखने के लिए तरसती ही रह जाती हैं ये दुखिया !

व्याख्या—पाप० = ब्रह्मा दो ही तत्त्वों से निर्माण करता है, पुण्य से या पाप से, पुण्य से जिनका निर्माण होता है वे भाग्यशाली होते हैं और पाप से जिनका निर्माण होता है वे अभागे होते हैं। के पुंज = पाप को एक ही ढेरी नहीं, न जाने कितनी ढेरियाँ उसने निर्माण में व्यय की हैं। इससे पापों का वैविध्य और आधिक्य दोनों व्यंजित हैं। सकेलि = (संकलन), भली-भाँति एकत्र करके, कुछ भी छटकने न पाए, सब सामग्री मिलकर एकरूपता हो जाए। सु = (सो) वह (बहुत बुरी)। कौन धौं = आज तक जिस प्रकार के मुहूर्त का कभी योग किसी के लिए नहीं पड़ा है। पहले-पहल वह मुहूर्त इन्हीं के निर्माण में आया है। आन = सामान्यता जैसी घड़ी होती है उससे एकदम भिन्न। घरी = घड़ी भर से वह मुहूर्त अधिक समय नहीं टिका, बनाते देर नहीं लगी। कुछ भी सोचने विचारने का अवसर नहीं रहा। बिरंचि० = स्वयम् विधाता ने ही गढ़ा है, दूसरे ने नहीं। दूसरा गढ़ता तो साधारणतया जैसा निर्माण होता है वैसा ही होता। ब्रह्मा स्वयम् उन्हीं को गढ़ता है जिनके निर्माण में विशेषता होती है। बनाई = विपरीत लक्षणा से बिगाड़ी। रूप = सौंदय और रूपा (धन) दोनों अर्थ हैं लोभनि = लोभिन, लोभिनी, सौंदर्य-दर्शन में ही जिनकी प्रवृत्ति हो। रीझि = लुभाना। यदि ये लुभाने में सराबोर न होतीं तो भी कुछ बचाव होता। भिजायकै = ऐसी सरलता से युक्त करना जिसकी आर्द्रता कभी न जाए। हाय = सबसे अधिक कष्टद बात इसके आगे की है इसी से यहाँ 'हाय' का प्रयोग है। कवि 'हाय' शब्द वहीं रखता है जहाँ परिस्थिति सबसे विषम होती है। इते पै = इतने से तो कोई अधिक हानि नहीं थी। हानि सबसे अधिक तो ऐसे प्रिय की प्राप्ति है जो कुछ सुनता नहीं। सुजान = विपरीत लक्षण। महा अजान, प्रेम-मार्ग के उचित कर्तव्यों से पराङ्मुख। मिलाई = क्या मिलाया, कुछ दिन

के संयोग के अनंतर सदा के लिए वियोग। ऐसे मिलाने से तो न मिलाना ही अच्छा था। क्यौं = कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। घनआनँद = केवल कवि की छाप अथवा धीर का विशेषण भी मान सकते हैं। वह धैर्य जो घने आनन्द की ओर ले जानेवाला हो, संतोष देनेवाला हो। धरैं = धैर्य धारण करने का भी बल नहीं रह गया। बिन पाँख = (पक्ष्म) पलक लगती ही नहीं है। नेत्र खुले ही हैं। यदि बन्द हो जाते तो भीतर प्रिय के ध्यान से कुछ व्याकुलता कम हो जाती। निगोड़ी = यदि पंख उड़ने को नहीं है तो पैर से ही चलकर जातीं, पर 'गोड़' भी नहीं हैं। कोई भी सहायता करनेवाला नहीं है। मरैं = अत्यंत परेशान हो रही हैं। मरणवत् कष्ट सह रही हैं। अकुलाई = अकुलाकर, बहिरंग से अतरंग व्यथा बढ़कर है। प्यास० = थोड़ी प्यास भी नहीं है। भरी = सर्वत्र व्याप्त। बरसैं = निरंतर वृष्टि होती है। प्रिय आ भी जाए तो उस झड़ी में दिखाई न पड़े। तरसैं = केवल तरसना ही तरसना रह गया है। मुख देखन को = मुख देखने के अनंतर तो मर ही जाएँगी। मरने के पहले मुख देखना अथवा दिखाना चाहती हैं। अँखियाँ = अन्य अंग उतने कष्ट में नहीं हैं। दुखहाई = जिसके दुःख ही दुःख हो।

पाठांतर—आन = और। दुखहाई = दुखदाई।

साधनि ही मरियै भरियै अपराधनि बाधनि के गुन छावत।
देखौं कहा सपनो हूँ न देखत नैन यौं रैन दिना झर लावत।
जौ कहूँ जान लखैं घनआनँद तौ तन नेकु न औसर पावत।
कौन बियोग-भरे अँसुवा जु सँजोग में आगेई देखन धावत ॥४८॥

प्रकरण—प्रिय वियोग में तो दिखाई ही नहीं देता संयोग में भी नहीं दिखता। इसी स्थिति का निरूपण यहाँ किया गया है। संयोग होने पर, प्रिय के दिखाई पड़ने पर आँसुओं की ऐसी झड़ी लगती है कि आँखें प्रिय को देख नहीं पातीं। इसलिए प्रिय के दर्शन के लिए छटपटाते ही रह जाना पड़ता है। प्रत्यक्ष क्या, झड़ी के कारण निद्रा नहीं इससे स्वप्न में भी प्रिय नहीं दिखाई पड़ता।

चूर्णिका—साधनि० = देखने की उत्कट इच्छा से मरती ही रहती हूँ। भरियै = दिन काटती हूँ। बाधनि = बाधाओं के। गुन = समान; जाल।

अपराधनि० = अपराधों की सी बाधाओं का जाल फैलाते हुए अर्थात् सामने आने पर ये आँसू अपराध ही बनकर उनको देखने में बाधा डालते हैं। **देखैं०** = (उनके बिना) प्रत्यक्ष तो देखूँ ही क्या, उनका स्वप्न भी नहीं देखती, स्वप्न देखने में भी आँसू बाधा देते हैं। **रैन०** = रात-दिन। **झर** = झड़ी (आँसू की)। 'झर' शब्द जलवाची हो तो पुंलिंग होता है, ज्वालावाची हो तो स्त्रीलिंग। **तौ तन०** = (यदि प्रिय कहीं जाते दिखाई भी पड़ते हैं) तो शरीर बेचारा उनसे मिलने का थोड़ा भी अवसर नहीं पाता (आँसू ही पहले मिलने को दौड़ पड़ते हैं)। **बियोग** = विरह का दुःख। **कौन०** = न जाने कितने अधिक वियोग-दुःख से ये आँसू भरे रहते हैं। **सँजोग** = उनका संयोग (मिलना, दिखाई पड़ना) होने पर आँखों से भी पहले ही दौड़ पड़ते हैं (न इनके मारे दृष्टि से उन्हें देख पाती हूँ और न शरीर ही उन्हें भेंट पाता है, इस प्रकार संयोग में भी वियोग बना रहता है)।

तिलक—इन मेरे आँसुओं में न जाने विरह की कैसी व्यथा भरी हुई है कि यदि प्रिय कहीं दिखाई भी पड़े तो उस संयोग में भी ये प्रिय के दर्शन नहीं होने देते। ये ही आगे-आगे देखने दौड़ पड़ते हैं। आँसुओं की ऐसी झड़ी लग जाती है कि आँखें तक प्रिय के रूप के दर्शन नहीं पातीं। शरीर के अन्य अंगों का तो कहना ही क्या, वे तो कुछ भी अवसर नहीं पाते। उनकी झड़ी संयोग में तो रहती ही है, कुछ बढ़ी हुई रहती है; वियोग में भी रात-दिन इनकी झड़ी लगी रहती है। न आँखें सो पाती हैं न स्वप्न दिखाई पड़ता है। स्वप्न में जो प्रिय के दर्शनों की संभावना थी वह भी गई। इसलिए प्रिय को प्रत्यक्ष देखना तो दूर उनका स्वप्न भी नहीं दिखाई देता। इन्होंने तो अपराध का रूप धारण कर बाधाओं का ऐसा जाल छा रखा है कि केवल उत्कट अभिलाष में परेशान होने के सिवा और कोई चारा नहीं। इसी प्रकार के कष्ट में दिन काट रही हूँ। न वियोग में चैन, न संयोग में चैन।

व्याख्या—**साधनि** = साध भी एक नहीं अनेक हैं। देखने की, बातें सुनने की, बातें कहने की, आलिंगन की आदि आदि। **मरियै** = प्रिय के दर्शन पर मरना होता तो कोई पछतावा न होता। **भरियैं** = कष्ट से दिन काटे जाते हैं। कटते नहीं, काटे जाते हैं, शीघ्र बीतते तक नहीं। **अपराधनि** = अपराध करनेवाले

को किसी के निकट जाने में संकोच होता है। अपराध उसे सामने नहीं होने देता। जिसका अपराध होता है वह भी अपराधी से मिलने में संकोच, रोष, तनाव आदि रखता है। बाधनि = अनेक प्रकार की और गहरी तथा अधिक बाधाएँ। गुन = जाल में उलझनें विलक्षण होती हैं, शीघ्र निकल नहीं सकते। छावत = यदि जाल रखा हो फैला न हो तो भी फँसने से बचाव हो जाए। यह जाल तो फैला है, बिछा है। प्रतिदिन, निरंतर ऐसा ही है। देखैं कहा = अन्य पदार्थ तो दिखाई ही नहीं देते। एक प्रिय दिखता था, वह भी प्रत्यक्ष नहीं दिखता। सपनो हूँ = स्वप्न ही नहीं दिखता तो स्वप्न में देखने का प्रश्न ही नहीं उठता। न देखत = कभी किसी समय निद्रा नहीं लगती तो स्वप्न दिखे तो कैसे दिखे। रैन दिना = दिन में बरसते, रात में न बरसते या इसका विपर्यास होता तो भी अवसर मिल जाता स्वप्न देखने का। झर = झड़ी में भी रुकावट का नाम नहीं है। जौ कहूँ = सामान्यतया ये दिखाई पड़ते ही नहीं, इधर आते ही नहीं, उनके देखने के अवसर ही बहुत कम हैं। जान = हे सुजान, वे ज्ञानमय प्रायः लक्षित ही नहीं होते ब्रह्म की भाँति। यदि लक्षित हुए भी दिखे भी विशेष कठिनाई के अनंतर तो नेत्र झड़ी के कारण देखते भी कहाँ हैं, उनका आभास मात्र मिलता है, बोलने से या किसी के बताने से प्रिय का आगमन जाना जाता है। घनआनँद = छाप के अतिरिक्त जान का विशेषण, आनंद के घन या घने आनंदवाले, आनंदस्वरूप। तन = शरीर के सभी अंग। नेकु० = कुछ भी अवसर मिल जाता तो उनकी वेदना कम पड़ जाती। औसर० = अवसर ही नहीं मिलता तो प्रिय क्या मिलेंगे, पहले अवसर तो मिले। वह स्थिति तो उत्पन्न हो। कौन = अत्यंत। बियोग० = उनमें वियोग ही वियोग भरा है संयोग कुछ भी नहीं भरा है। अँसुवा = निदार्थ 'आँसू' का 'अँसुवा' दोनों वचनों में एकरूप रहता है। जु = जो। संयोजक अव्यय 'कि'। सँजोग = ऐसा अवसर मिलने पर भी। आगेई = वियोग की अपेक्षा संयोग के अवसर पर झड़ी बढ़ जाती है। धावत = बड़े वेग से निकलते हैं।

पाठांतर—गुन = गन। सपनो = ('सपने' कहने से 'स्वप्न होता है है फिर भी' अर्थ करना पड़ेगा, इससे अधिक स्वारस्य 'सपनो' में है।) लखैं = परै ('जानि परै' वही 'प्रिय') का आभास मिलता है (नेत्रों को भी कहाँ दिखते हैं)।

तन = तब ('तब तौ' = वियोग में तो कुछ संभावना भी थी, संयोग में वह भी नहीं)।

(कबित्त)

उठि न सकत ससकत नैन-बान बिधे
इतेहू पै बिषम-बिषाद जुर लू बरें।
सूरे पन पूरे हेत-खेत तें हटैं न कहूँ
प्रीति-बोझ बापुरे भए हैं दबि कूबरे।
संकट समूह में बिचारे घिरे घुटैं सदा
जानी न परत जान कैसे प्रान ऊबरे।
नेही दुखियानि की यहै गति आनंदघन
चिंता-मुरझानि सहैं न्याय रहैं दूबरे ॥४९॥

प्रकरण—प्रेम के विरहियों की स्थिति का निरूपण है। उन्हें प्रेमयुद्ध का योद्धा बताया गया है ! अन्य युद्धों से प्रेमयुद्ध में विलक्षणता प्रतिपादित की गई है। प्रेमी नयन-बाण-विद्ध होता है। भीषण ज्वर उसे चढ़ता है फिर भी वह प्रेमक्षेत्र से हटता नहीं। संकटों के समूह में उसके प्राण कैसे बचे रह जाते हैं, अचरज इसी बात का होता है। वे अनेक ऐसी स्थितियों में होते हैं जिनसे उनका दुबला होना उचित ही है।

चूर्णिका—ससकत = सिसकते हैं, वेदना से कराहते हैं। नैन० = नेत्र के कटाक्षरूपी बाणों से विद्ध (वे प्रेमी)। जुर = ज्वर। इतेहू० = इतने पर भी विषम विषाद का ज्वर लू की भाँति जलता रहता है। सूरे० = प्रतिज्ञा-पूर्ण करने में वीर। हेत-खेत = प्रेमरूपी क्षेत्र (रणक्षेत्र)। हटैं न = टलते नहीं। कहूँ = कभी। बापुरे = बेचारे। दबि = प्रेम के बोझ से) दबकर। कूबरे = कुबड़े हो गए हैं, कमर टूट गई है (भाराधिक्य से, अंग-भंग हो गया है)। घुटैं = दम घुटता रहता है। कैसें = किस प्रकार। ऊबरे = बचे हैं। गति = दशा। न्याय० = (प्रेमियों का) दुबला रहना ठीक ही है।

तिलक—प्रेम के विरही ऐसे योद्धा हैं कि वे प्रेम का बोझ लिए हुए दबकर कुबड़े हो गए हैं, फिर भी प्रेम के रणक्षेत्र से हटते नहीं। केवल प्रेम का ही भारी बोझ उनपर नहीं है। कटाक्ष के बाणों से ऐसे विद्ध हैं कि केवल वेदना से कराहते हुए पड़े हैं, उठने की भी शक्ति उनमें नहीं रह गई है।

उठने का प्रयास करने पर बाणों का ही केवल आघात नहीं है, विषाद का ज्वर भी भीषण चढ़ा है, लू जला रही है, प्रचंड उष्ण वायु बह रही है। इतने पर भी कदाचित् वे वहाँ से सुरक्षित स्थान पर आ जाते पर संकटों के समूह ने घेर भी रखा है, वे निकलने नहीं देते। इससे उन बेचारों के प्राण सदा घुटते रहते हैं। हे प्रिय सुजान, समझ में नहीं आता कि उनके प्राण बचे हैं तो कैसे बचे हैं। प्रेमी विरही अत्यंत दुखिया होते हैं, उनकी यही दशा होती है। चिंता में मुरझाते रहते हैं। उनका दुबला-पतला हो जाना ठीक ही है। योद्धा बाणों से विद्ध होकर कराहते हैं, अधिक बाण लगने पर रणक्षेत्र से हट नहीं सकते, उन्हें भीषण ज्वर चढ़ आता है, वे कवच आदि के बोझ से दबे रहते हैं। सेना से घिरते हैं, फिर भी बचते हैं। बेहोशी में आ पड़ते हैं। विरही प्रेमी कटाक्षों से विद्ध होकर वेदना में कराहता है, विरह का भीषण ताप उसमें रहता है, अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति में वह इस क्षेत्र का त्याग नहीं करता। प्रेम का बोझ उसके निरंतर क्षीण होते जाने से उसकी कमर तोड़ देता है। वे प्रेम की दाब में ही रहते हैं। संकट, विषाद सभी उन्हें घेरे रहते हैं। फिर भी प्राण नहीं निकलते। उन्हें बारंबार बेहोशी आती है। वे दुबले हो जाते हैं।

व्याख्या—उठि० = उठने की शक्ति होती तो उठ ही जाते। आघात गहरा है 'न सकत' और 'ससकत' में शब्द-विरोध दर्शनीय हैं। केवल यमक का चमत्कार नहीं है। ससकत = केवल सिसकने की शक्ति है, और शक्ति नहीं है। नैन० = बाणों का आधिक्य, उनका गहरा वार व्यंजित है। बिंधे = बाण निकले कहाँ हैं, निकल जाते तो वेदना कम हो जाती। इतेहू पै = केवल बाणों का आघात ही उठने नहीं देता था अब भीषण ज्वर भी उठने नहीं देता। बिषम = जो सम न हो, एक-सा न रहे कभी तो भीषण ताप हो जाए और कभी ठंढक हो। जैसे मलेरिया का ज्वर। बिषाद० = विरह का ज्वर, संयोग में प्रसाद, वियोग में विषाद। लू = लू की भाँति स्वयम् भी जलता और दूसरे को भी जलाता है। बरै = निरंतर प्रज्वलित है। सूरे = वह वीर जो कभी पीछे पैर नहीं धरता। पन० = प्रतिज्ञा में किसी प्रकार की कमी नहीं, उससे भरे हुए हैं। हेतु०—प्रेम का यह क्षेत्र उनके लिए हितकारी है, उन्हें रुचता है। हटैं न = कभी नहीं हटते; हटना ही नहीं चाहते। कहँ = कभी नहीं, कहीं से भी नहीं। प्रीति = प्रीति,

कवच की भाँति सारे शरीर में छाई है, इसी से उस पर बोझ अधिक हो गया है। बोझ = इस भार को वे हटाते भी नहीं, प्रीति उनके लिए रक्षक भी है। बापुरे = प्रतिज्ञा की विवशता से विवश। भए हैं० = आघात और ज्वर ही नहीं, बोझ से दबे भी हैं जिससे कमर झुक गई है। दबि = बोझ केवल झुकानेवाला नहीं है दबानेवाला भी है। कोई अंग जिसमें हिल न सके। कूबरे- सदा के लिए कुबड़े हो गए, उससे ठीक होने की भी संभावना नहीं है। संकट० = घिराव हटा नहीं है, अब भी घिरे हैं। अपर पक्ष इतना निर्दय है कि इतने पर भी छोड़ नहीं रहा है। बिचारे = बापुरा वह होता है जिसके अपनी समाई कोई न हो। बेचारा वह होता है जो परिस्थिति से विवश हो। घिरे = घिराव इतना है कि साँस लेने के लिए भी अवकाश नहीं। घुटें = मरणांतक स्थिति हो गई है, कंठावरोध हो रहा है, भीतर की साँस भीतर और बाहर की बाहर है। सदा = थोड़े समय का भी अवकाश नहीं है। जानी० = कुछ भी इस विलक्षणता का अंदाज नहीं लगता। जान = हो सकता है मैं अजान होने से न समझती होऊँ, आप सुजान हैं कुछ समझते हों तो बताइए। कैसे० = कोई बचाव का मार्ग नहीं रह गया था। प्रान० = प्राण साधारण आघातों तक से निकल पड़ते हैं, पर ये बच गए। ऊबरे = अभी निकलने की संभावना भविष्य में भी बहुत दिनों तक नहीं है। नेही = वह प्रेमी जिसमें चिकनाहट अधिक हो। दुखियानि = कुछ मेरी नहीं अनेक विरहियों की यही स्थिति है। यहै गति = दूसरी स्थिति यदि हो तो वह सच्चा प्रेमी नहीं। अनंदघन = यही स्थिति उनके लिए आनंददायिनी है। चिन्ता०-चिंता की मूर्छा आ जाती है, बराबर आती रहती है। न्याय रहैं०- दुबले होने के सभी हेतु है। बाण लगने पर रक्तस्राव से दौर्बल्य, ज्वर होने पर शोष से दौर्बल्य।। दबने से पिचककर दौर्बल्य। दम घुटने से शक्तिक्षीणता से दौर्बल्य। दूबरे = दुबले हो गए हैं, होते जाते हैं, पर प्राणांत नहीं होता। प्राण निकलने के अनेक कारण दिखाए गए, पर प्राण नहीं निकलते।

पाठांतर—तें हटें = मैं लहैं (कोई दाँव अपने आघात का नहीं मिलता)। बापुरे = बावरे ('बापुरे बेचारे' की पुनरुक्ति बचाने के लिए 'बावरे'—प्रेम के पागलपन में बोझ भी अधिक लाद लिया)। यहै = ऐसी।

सुखनि समाज साज सजे तित सेवैं सदा
जित नित नए हित-फंदनि गसत हौ।
सुख-तम-पुंजनि पठाय दै चकोरनि पै
सुधाधर जान प्यारे भलें ही लसत हौ।
जीव सोच सूखै गति सुमिरें अनंदघन
कितहूँ उघरि कहूँ घुरि कै रसत हौ।
उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ ॥ ५० ॥

प्रकरण—प्रिय के यहाँ और प्रेमिका के यहाँ परस्पर विपरीत स्थिति है। इसी का उल्लेख प्रेमिका, प्रिय को संबोधित कर, कररही है। प्रिय जहाँ रहते हैं वहाँ सुखों की अवस्थिति है, नित्य नए-नए प्रेमी उनके प्रेम में फँसते रहते हैं। वहाँ सुख का प्रकाश है। पर प्रेमिका के यहाँ दुःख का अंधकार है। प्रिय वहाँ प्रेमियों से घुल-घुलकर बातें करता है और यहाँ प्रेमिका से वह मिलता भी नहीं, दर्शन भी नहीं देता, दूर-दूर ही रहता है। जहाँ प्रिय है वह स्थान बसनेवालों से भरा-पूरा है, यहाँ केवल उजाड़ है।

चूर्णिका—तित = वहाँ, प्रिय जहाँ है। हित० = प्रेम के फंदों में। गसत० = डालते हो। सुखनि० = जहाँ आप नित्य नए नए प्रेम के फंदों में लोगों को फँसाते रहते हैं वहाँ तो अनेक प्रकार के सुखों का साज सजाकर सदा आनंद मनाते रहते हैं। दुख तम० = दुःखरूपी अंधकार का समूह चकोरों के पास भेज दिया है। सुधाधर = चन्द्रमा(के समान), सुधा + अधर। भले ही = भली भाँति, क्या ही अच्छे। जीव० = हे आनंद के घन, आपकी चाल का ध्यान करके हृदय सोच के मारे सूख जाता है। उघरि = उद्घाटित होकर, हटकर उचट-कर। घुरि कै = घुलकर। रसत० = रस बरसाते हो। कितहूँ० = (कहीं तो आप) उघड़कर (हटकर) रह रहे हैं, रसवृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं और कहीं तो घुलघुलकर (निरंतर घिरे रहकर) रस बरसाया करते हैं। उजरनि० = हमारी आँखों में तो उजड़न बसी हुई है। (हमारी आँखें उदास, मलिन रहती हैं)। सुबस = भली भाँति बसा हुआ। भावते = (भानेवाले) प्रिय। सुबस० = जहाँ आप जा बसे हैं वहाँ सुदेश (सुंदर बस्ती) भली भाँति बसा हुआ है। 'उजरनि बसी' तथा अन्यत्र भी विरोध का प्रदर्शन है।

तिलक—हे सुजान प्रिय, जहाँ आप जा बसे हैं और नित्य नए नए प्रेमियों को अपने प्रेमपाश में फँसाने के लिए फंदे डालते रहते हैं वहाँ सुखों के समाज के समाज पूरी साज-सज्जा के सहित आपकी सदा सेवा करके रहते हैं। आप कैसे सुधाधर हैं कि आपने सुख का प्रकाश तो केवल अपने लिए ही रख लिया है और दुःख के अंधकार का पुंज का पुंज अपने प्रेमी चकोरों के पास भेज दिया है। इस प्रकार के कृत्य करके आप अच्छे सुशोभित हो रहे हैं (यह कार्य अशोभन है)। आप हैं तो आनंद के घन पर आपकी गतिविधि का स्मरण करने पर उसके सोच से प्राण सूख जाते हैं। इतना ही नहीं, आप कहीं तो (मुझ जैसे प्रेमियों के यहाँ) उद्घाटित हो गये हैं (एकदम हट गए हैं, दूर चले गए हैं) और कहीं (जहाँ आप नए-नए प्रेमी फँसाते हैं घुलकर (जमकर) रसवृष्टि कर रहे हैं। हमारी आँखों में देखिए केवल उजड़न बसी हुई है और हे रुचनेवाले प्रिय जहाँ आप हैं वह सुंदर देश भली भाँति बसा है।

व्याख्या—सुखनि = अनेक सुख, विविध प्रकार के सुख, अत्यधिक सुख। समाज = पूरे परिकर के सहित। साज० = साज-सामान से रहित वे सुख और परिकर नहीं हैं, वे भी सब प्रकार से सज्जित हैं। केवल 'सजे' न कहकर 'साज सजे' कहने में अधिक स्वारस्य है। 'सुनना' और 'कान से सुनना' में 'कान से सुनना' ध्यान से सुनने के अर्थ में जैसे होता है वैसे ही 'सजे' और 'साज सजे' में 'रच-रचकर साजे' यह व्यंजना है। तित = अन्यत्र जाते ही नहीं। सेवैं = वहाँ रहते ही नहीं आपकी सेवा में संलग्न रहते हैं, आपको किसी प्रकार कोई कष्ट उठाने न देने की वृत्ति से आपके पास रहते हैं। सदा = प्रत्येक समय आपके लिए संनद्ध हैं। जित = आप जहाँ जा बसे हैं, आप जहाँ रहेंगे वहीं यह स्थिति रहेगी। नित = प्रतिदिन नवीन प्रेमी की प्राप्ति, नवीन प्रकार के फंदे का प्रयोग। नए = पुराने का परिपूर्ण त्याग, नए-नए। हित० = एक काम नहीं आया तो दूसरा फंदा। गसत० = ग्रस्त करते रहते हैं प्रेमियों को, वे फंदे डालकर। ग्रस्त करने के लिए डालते हैं। छूट जाने का नाम नहीं। दुख = अंधकार का लेश भी आप के पास नहीं रहा, सब यहीं भेज दिया है। पठाय दैं = उन दुःखों को आपके पास लौटाने की आशा नहीं है, जो मेरे पास भेजे गये हैं वे अब लौटेंगे नहीं। चकोरनि० =

'चकोरों' बहुवचन प्रयोग प्रेम की व्यक्तिबद्धता हटाने के लिए है। चंद्र आकाश में रहता है पुरानी रूढ़ि के अनुसार आकाश सुखभूमि है और चकोर पृथ्वी पर है जो उस रूढ़ि के अनुसार दुःखभूमि है। आधुनिक छायावादी कवियों ने इस रूढ़ि का पालन कहीं-कहीं स्पष्ट किया है। 'प्रसाद' में यह बहुत स्पष्ट है। **सुधाधर** = केवल प्रकाश को ही धारण करनेवाले आप नहीं हैं, सुधा को भी धारण करते हैं। आपका प्रकाश ही तो सुधा पहुँचाता है। अन्यत्र प्रिय पक्ष में 'सुधायुक्त अधर' करके अमृत तत्त्व की अवस्थिति वहाँ भी सिद्ध की गई है। **जान** = सुजान प्रिय, प्राणप्रिय आप ही हैं केवल मेरे प्रिय। भले ही० = अच्छे ढंग हैं आपके, खूब छजते हैं इस कर्तृत्व से आप। व्यंग्य से इसके विपरीत आपके कार्य बुरे लगते हैं। लसत = आपके लिये जो स्थिति शोभन है वही दूसरे के लिये अशोभन हो रही है। जीव = प्राण, जीवन (इसका श्लिष्टार्थ 'जल' भी)। सोच = चिंता की ज्वाला उत्पन्न हो जाने से। सूखैं = सरसता का नाम नहीं रहा जा रहा है। गति० = इसके स्मरणमात्र से यह स्थिति है, देखने से न जाने क्या हो। आनन्दघन के स्मरण से सूखने में विरोध है। आनन्द का विरोध 'सोच' से, 'घन' का विरोध 'सूखैं' से। कितहूँ = मुझ जैसे अभागे प्रेमियों के यहाँ। उघरि = बादल के पक्ष में आकाश से हटकर, प्रेमी प्रिय पक्ष में 'खुलकर', जिसके दो अर्थ होंगे—हटकर दूर जा कर तथा प्रत्यक्ष खुल्लमखुल्ला परित्याग करके। कहूँ = जहाँ आप जा बसे हैं। घुरि = बादल के पक्ष में 'घुरि' में केवल 'स्रवना' ही अर्थ नहीं, रसवृष्टि घोर (= घोष) पूर्वक गर्जन के साथ होती है यह भी अर्थ है। प्रिय पक्ष में 'घुलकर' में अत्यन्त तल्लीन और एकांत दोनो की व्यंजना है। रसत = जलवृष्टि, आनन्द की वृष्टि करते ही रहते हैं, कभी हटते नहीं। उजरनि = आँखों में और कोई नहीं बसा है केवल उजाड़ बसा है, उनमें दर्शन के अभाव के कारण सुबसता नहीं है, वे उदास, मलिन, दुखी हैं। **बसी है** = अब शीघ्र हटनेवाली नहीं है। स्थायी निवास कर लिया है। **हमारी** = व्यक्तिबद्धता के निरसन के लिए बहुवचन का प्रयोग। **अँखियानि** = दोनो से। **देखौ** = मुझे तो दिखता नहीं, आप इन आँखों की यह स्थिति देख लें, इसी बहाने आइए तो आपके दर्शन हों, तमाशबीन

बनकर ही मेरी स्थिति देख जाइए । सुबस = बस्ती के लिए अपेक्षित साधनों से युक्त । सुदेस = स्थान प्रकृत्या भी सुन्दर है । जहाँ = यदि वहाँ सुन्दरता आदि न होती तो आपके सांनिध्य से अवश्य हो जाती । जहाँ आप बसें वह देश, अतिसुंदर की व्यंजना सुबस, सुदेश और आपके सांनिध्य का गौरव । भावते = सभी को भाते हैं, इतने विपरीत कृत्यों पर भी मुझे भाते हैं । सौंदर्य बाहरी है, बहिरंग हैं, अंतरंग में सुन्दरता नहीं है । सहृदयता नहीं है, रमणीयता है । बसत = कहीं रहने का विचार कर लिया है, स्थायी वासस्थल कर लिया है ।

विशेष—इस छंद में फारसी की शैली स्पष्ट झलक रही है । वहाँ 'माशूक' गैरों से मिला करता है, उन रकीबों पर उसकी ज्यादा निगाह होती है ।

पाठांतर—समाज = समान (मानपूर्वक सेवा करते हैं) ।

तपति उसास औधि रूँधियै कहाँ लौं देया
बात बूझें सैननि हो उतर उचारियै ।
उड़ि चल्यो रंग कैसें राखियै कलंकी मुख
अनलेखें कहाँ लौं न घूँघट उघारियै ।
जरि बरि छार ह्वै न जाय हाय ऐसी बैसि
चित चढ़ी मूरति सुजान क्यौं उतारियै ।
कठिन कुदायँ आय घिरी हौं अनंदघन
रावरी बसाय तौ बसाय न उजारियै ॥५१॥

प्रकरण—प्रेमिका का प्रिय के प्रति विरह-निवेदन और उससे उद्धार करने की प्रार्थना । प्रिय लौटने की जो अवधि देकर गया उस पर नहीं लौटा—वह सीमा बढ़ाता जा रहा है अथवा उसने लंबी अवधि बदी है । इस पर विरहिणी कहती है कि विरह अब रुकता नहीं है, अवधि की आशा उसे नहीं रोक पा रही है, अब तो केवल संकेत से ही बात भी की जा सकती है । मुख काला पड़ रहा है, मुझे कलंक लग रहा है, कहाँ तक उसे प्रकट न किया जाय । यौवन विरह में जला जा रहा है । फिर भी प्रिय का ध्यान विरह की विवशता के नाते नहीं त्यागा जा सकता । बड़े कुब्यौंत में मेरी स्थिति है, आप बचा सकें तो मुझे इससे बचा लें ।

चूर्णिका—तपति० = उसासें (विरह-ताप से) तप्त हो रही हैं। औधि० = अवधि की आशा में कब तक प्राणों को रोककर बचाए रहूँ। कब तक धैर्य धारण करूँ। रूँधना = पेड़ों की रक्षा के लिए काँटों या काँटेदार झाड़ी से घेरना। देया = हाय दैव, खेद-व्यंजक अव्यय। बात० = (किसी के पूछने पर कि तुम्हारी यह दशा क्या क्यों है) मैं संकेतों से कब तक लोगों को उत्तर देती रहूँ। उचारियै = कहूँ। उड़ि० = रंग उड़ने लगा है, विवर्ण हो गई हूँ। कैसे = किस प्रकार से। राखियै = बचाऊँ, छिपाऊँ। अनलेखें = बेहिसाब (बहुत दिनों तक)। अनलेखं० = (अपना कलंकी मुख) कब तक इस प्रकार घूंघट में छिपाए रखूँ। छार = राख, भस्म। बैसि = वयस्, उम्र। जारि० = चाहे यौवन की ऐसी उम्र जल-बलकर भस्म ही क्यों न हो जाय। चित चढ़ी० = हे सुजान, आपकी चित्त में बसी हुई मूर्ति कैसे हटाऊँ। कुदायँ = कुदावँ में, बुरे अवसर पर। रावरी० = यदि आपका वश चलता हो तो। बसाय = एक बार बसाकर अब (इस प्रकार) उजाड़िए मत, अपने प्रणयदान से पहले सुखी कर वियोग की दुःखद स्थिति में अब मत डाले रहिए।

तिलक—हे प्रिय, उसासें तक तप्त होकर बाहर निकल रही हैं। हाय दैव, भला अवधि के भरोसे कब तक प्राणों को रोका जाय। शरीर इतना अधिक क्षीण हो गया है कि अब बोलने को भी शक्ति नहीं रह गई है। कोई प्रश्न पूछने पर उसका उत्तर संकेत से ही बोलकर दे पाती हूँ। शरीर का रंग तक उड़ गया है, रक्ताल्पता से पीली पड़ गई हूँ। मुख भी झाँवरा हो गया है। उसमें जो यह श्यामता कलंक बनकर आ लगी है इसे कोई देखे न ऐसा प्रयत्न जो मेरी ओर से हो रहा है वह कब तक किया जाय। अनिश्चित काल की किस सीमा तक घूँघट में मुख छिपाए रखा जाए, उसे खोला न जाए, मेरा यह भरा-पूरा यौवन वियोग की इस भीषण आग में जल-बलकर खाक ही क्यों न हो जाय। प्रिय की जो मूर्ति हृदय में बस गई है वह वहाँ से हटाई नहीं जा सकती। इस प्रकार हे आनंद के घन, कठिन कुअवसर से घिर गई हूँ, आपका आनंदात्मक घिराव यदि न हुआ तो यह आग नहीं बुझ सकती। इससे आपसे प्रार्थना है कि यदि अपका वश चलता हो तो आपनें मुझ दुखिया को अपने

प्रेमदान द्वारा जैसे बसाया था (सुखी बनाया था) वैसे ही बसाए रखने का प्रयास कीजिए, स्वयम् ही उजाड़िए मत ।

व्याख्या—तपति० = निरंतर तप-तपकर अधिक तप्त होती जाती है। उसास = लंबी साँसें, ऊँची साँसें। साधारण साँसें भी अब नहीं निकल रही हैं। 'भूतज्वर' के चढ़ने की-सी स्थिति हो गई। औधि = रूँधने के लिए झाड़ी काँटेदार लगती है, अवधि आशाप्रद होने से निष्कंटक है। रूँधियै = रूँध तो रही हूँ, पर आगे क्या होगा उसके रोके क्या रुकेगा। कहाँ लौं = अवधि की लंबाई अधिक होने पर भी उसाँसों की लंबाई इतनी अधिक है कि वह पूरी हो नहीं पड़ रही है। दैया = अति कष्ट में 'दैया' कहते हैं। अर्थात् यह अवधि तो बहुत कम पड़ रही है, पूरे को क्या अधूरे को भी रोक-छेक नहीं पा रही है। बात = वार्ता और वायु दोनो अर्थ हैं। वायु से आग बढ़ती है। किसी ने जब बात पूछी तो उसकी बात से ही आग धधक उठी, अब यदि मैं भी 'बात कहूँ' तो उससे और अधिक उस आग की प्रचंडता हो जाएगी। बूझें = पूछने पर ही संकेत करने का भी प्रयास करती हूँ अन्यथा यों ही पड़ी रहती हूँ। सैननि = संकेतों से एक बार कोई नहीं समझता तो दूसरा, फिर तीसरा संकेत करती हूँ। 'बात' द्वारा बोलकर उत्तर न देने के कई कारण हो सकते हैं। अशक्ति, उत्तर की अनिर्वचनीयता, भेद खुल जाने की भीति। उत्तर० = एक उत्तर ही बहुत कठिनाई से दिया जा सकता है। बारबार उत्तर देना और भी कठिन हो रहा है। उड़ि० = धीरे धीरे तो उड़ता ही रहा है अब सहज पूर्ववाला रंग समाप्ति पर आ गया है। रंग = रंग तक उड़ा जा रहा है। मुख का रंग अर्थात् वर्ण ही नही उसका 'रंग' छटा-हर्ष सब उड़ गए। कैसें = किस-किससे मुँहचोरी करूँ। राखियै = मुख भी समाप्त होगा और कलंक भी प्रकट हो जाएगा। कलंकी = आपसे प्रेम करने पर समाज ने जो कलंक लगाया, संसार मुझे ही थूकता है कि ऐसे निर्दय से क्यों प्रेम किया, उन्हें पहले तो बहुत से उत्तर दिए गए, समाधान किया गया, अब यह झाँवरा मुख देखकर सभी समझ जाएँगे। मैं स्वयम् नहीं चाहती कि आपको कलंक लगे। मैं छिपाने का प्रयास निरंतर करती आई। पर अब तो अपने बस की बात ही नहीं रह गई। मुख = मुख दिखाने योग्य भी नहीं रह गया है। पहले

तो सुंदर था, दिखाने योग्य भी था। कोई इसे देखकर इस पर लानत के सिवा और अब कुछ नहीं देने का। अनलेखें = बहुत दिन जिनका लेखा न लिया जा सके। मैंने तो लेखा तक नहीं लिया, न जाने कितने दिनों से आपके वियोग में संत्रस्त हूँ। कहाँ लौं = अब वह सीमा भी पार हो गई जब तक घूँघट उघाड़ा नहीं जाता था। आपके वियोग में यौवन भी समाप्ति पर जा रहा है। घूँघट = मैं न उघाड़ूँगी तो अन्य ही उघाड़ेंगे। मरणासन्न स्थिति आ रही है, अपनी तो शक्ति भी नहीं कि किसी को उघाड़ने से भी रोकें। जरि बरि = पहले सुलगना फिर बर जाना। छार = राख, बेकार जिसका कोई उपयोग नहीं। मेरा यौवन बेकार चला जा रहा है, जाए। ह्वै न जाय = यौवन की बय तक नष्ट हो रही है और सब तो पहले ही नष्ट हो चुका है। हाय = इसका ही पछतावा है कि किसी काम न आई उम्र। ऐसी = भरी जवानी, पूर्ण यौवन। बैसि = कोमलता के लिए 'बैस' से बैसि। चित चढ़ी = जो अंतःकरण को प्रिय है कभी वहाँ से हटती नहीं। यदि कोई कहे कि प्रिय के वियोग में इतनी स्थिति बिगड़ रही है तो प्रिय को ही त्याग दो, तो मैं तो उसे नहीं उतारूँगी। अपने से वह मूर्ति चित्त से हटना चाहे तो उस मूर्ति का दोष। मूरति = अत्यंत सुंदर, मूर्ति में सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति है। सुजान = उलटा समास अथवा 'सुजान' को 'मूरति' का विशेषण मानें। सजीव मूर्ति। क्यौं० = कोई बिधि मुझे तो नहीं ज्ञात है। कठिन = कभी जिसका अनुभव नहीं किया, जो भीषण है। कुदायँ = किसी प्रकार जिसमें अपनी जीत न हो, हारने की ही स्थिति हो। आय० = मैं स्वयम् ही इसमें आ पड़ी। घिरी हौं = कहीं से कोई मार्ग नहीं है। कुदायँ' के कई अर्थ व्यंजित होते हैं, कुअवसर, बुरी बाजी, बुरी दावाग्नि। अनंदघन = आप ही आग बुझा सकते हैं। रावरो = आपके वश में हो, दूसरे के वश में हो तो दूसरी बात है, तब आपसे नहीं कहूँगी। बसाय० = 'विषवृक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम्'। उजारियै = अपने से उजड़ जाऊँ तो आपका दोष नहीं, आप न उजाड़िए।

(सवैया)

अकुलानि के पानि पर्यौ दिनराति सु ज्यौं छिनकौ न कहूँ बहरै।
फिरिबोई करै चित चेटक चाक लौं धीरज को ठिकु क्यौं ठहरै।

भए कागद-नाव उपाव सबै घनआनँद नेह नदी गहरैं।
बिन जान सजीवन कौन हरै सजनो बिरहा-बिष की लहरैं ॥५२॥

प्रकरण—विरह की उद्वेग दशा का वर्णन है। विरहिणी सखी से कह रही है। प्राणों की व्याकुलता ऐसी है कि एक क्षण के लिए जी कहीं नहीं बहलता। चित्त चक्कर काटता है, धैर्य धरते नहीं बनता। उपाय व्यर्थ हैं, विष की-सी लहरें उठ रही हैं। बिना प्रिय के इसकी शांति न हो सकेगी।

चूर्णिका—पानि० = हाथों में पड़ा हुआ। अकुलानि० = व्याकुलता के हाथों में पड़ा हुआ, उसके वश में होकर, उसके कारण। ज्यौ = जी, प्राण। छिनकौ = क्षण भर के लिए भी। कहूँ = कहीं भी। न बहरै० = बहलता नहीं। फिरिबोई० = फिरता ही रहता है, चक्कर काटता रहता है, अस्थिर है। चेटक = उपकार से दबा, कनौड़ा। चाक० = कुम्हार के चाक की भाँति। धीरज को० = धैर्य की स्थिरता कैसे ठहरे, स्थिर होकर धैर्य कैसे टिके। ठिक ठहरना = ठिकाने लगना, स्थिर होना। भए० = प्रेम की गहरी नदी में पड़कर सारे उपाय कागद की नाव की भाँति गल गए (उपाय व्यर्थ हुए)। सजीवन = जिलानेवाले। हरै० = दूर करे। बिरहा० = विरह रूपी विष की लहरें (घातक प्रभाव)।

तिलक—हे सखो, आकुलता के हाथों में दिनरात पड़ मेरा जी एक क्षण के लिए भी कहीं बहलता नहीं। एक क्षण के लिए भी आकुलता हटती नहीं। प्रिय के सुखदान के उपकार से दबा कनौड़ा चित्त कुम्हार के चाक की भाँति चक्कर काटता रहा है, उसमें धैर्य की स्थिरता इसी से प्राप्त नहीं होती। मन कुछ स्थिर हो तो उसमें धैर्य टिके भी। इस गहरी प्रेमनदी में इसे पार करने के उपाय सब कागद की नाव की भाँति व्यर्थ सिद्ध हुए। गल-पचकर उसी में मिल गए। इस प्रकार अब प्रिय के आये बिना किसी प्रकार कार्य नहीं सरता। इस विरह विष की लहरों को बिना सजीवन सुजान के और कोई दूर कर ही नहीं सकता।

व्याख्या—अकुलानि० = आकुलता के अतिरिक्त अन्य कष्टदायक स्थितियाँ उतनी विवशकारिणी नहीं हैं। पानि० = शिकारी जन्तु के पंजे की पकड़ की भाँति है, जिससे छूटने का मार्ग नहीं। परयो = उससे छूटने का मार्ग भविष्य में भी नहीं है। दिनराति = बदलने की स्थिति तो तब हो जब

उससे एक क्षण के लिए भी छूटे, सातत्य के लिये दिनराति। सु = सो, वह (बेचारा)। ज्यौं = जीव, जो शिकार किए जानेवाले जीव की भाँति बेदम हो हो रहा है। छिनकौ = क्षणक, एक क्षण। एक क्षण के लिए भी बहल जाता तो भी कुछ राहत मिलती। कहूँ = कहीं भी, घर में, बाहर सर्वत्र। अथवा कभी। बहरै = चैन या आराम पा जाए। अनाकुल हो रहे। फिरिबोई = जी तो उस प्रकार छटपटाता है और चित्त चक्कर काटता रहता है, विश्राम का नाम नहीं। 'फिरिबोई करै' में वेग और सातत्य दोनो की व्यंजना हैं। चित् = 'अनुसंधानात्मक चित्तवृत्तिमत् अंतःकरणं चित्तम्' से 'चित्त' अनुसंधान करने में प्रवृत्त होकर घूमता-फिरता है, पर इस प्रकार कहाँ। चेटक = क्रीत दास प्रिय के द्वारा दिए गए दर्शनादि के उपकार से दबा होने के कारण बोझ भी लदा होने से अधिक कठिनाई है। चाक० = एक ही स्थान पर चक्कर काट रहा है, स्थान-परिवर्तन भी होता रहता तो भी कुछ आराम मिलता। धीरज = चाक पर यदि कोई वस्तु रख दी जाए तो वह आपसे आप उसके वेग से दूर फेंक दी जाती है। धीरे चलनेवाले चाक पर रखी वस्तु ठहरी रह सकती है। ठिकु० = चाक पर गीली मिट्टी बीच में रखी रहती है वह वेग द्वारा नहीं फेंक दी जाती। बीचोबीच होने और गीली होने से वह बचती है। धीरज बीचोबीच भी नहीं और भीतरी आँच से गीला भी नहीं है वह 'रज ही रज' है। सूखी धूल है, वायु की तेजी में उड़ जानेवाली। क्यों० = निरुपाय स्थिति है कोई मार्गोपदेशक भी नहीं है। भए = जितने उपाय हो सकते थे सभी व्यर्थ हो गए। कागद० = उपाय, जो पार करने के साधन थे वे स्वयम् समाप्त हो गए, मुझे कहाँ से पार करते। नाव = नदी पार करने के सभी साधनों का प्रतीक। उपाव = उपाय के 'य' का 'व'। 'व' का कहीं 'य' भी होता था। स्वभाव का सुभाय। सबै = छोटे-बड़े, अमोघ अचूक। घनआनंद = प्रिय, आनंद के घन, जिनके रस से नेह की नदी कभी सूखती नहीं, गहरी की गहरी ही रहती है। नेह० = इतनी गहरी है कि तैरकर तो पार करने में भय है ही, जो डूबा उसका पता नहीं, नाव आदि से उसे पार किया जा सकता है, पाट भी अधिक है। 'गहरे' में विस्तार भी व्यंजित है। प्रखर धार है, 'नदी' है, पहाड़ी नदी है, कलकल हरहर ध्वनि भी करती है, धारा वेगवती है। बिन = अन्य सभी के सामर्थ्य की परीक्षा हो चुकी। जान = सुजान, जो इस प्रवाह के सभी दांवपेंच जानता हो।

सजीवन = संजीवनी बूटी जो विष को हरती है; सजीवन जीवन के सहित जो सदा पानी में ही रहने का मल्लाह की भाँति अभ्यस्त हो। इस नदी में और कोई क्या कर सकेगा। कौन हरे = सबकी खोज कर ली गई। लहरें = उस नदी में लहरें भी प्रचंड हैं। विष की लहरें हैं। विरह तो प्रिय का है फिर वह उन्हीं के सद्भाव से दूर भी होगा। दूसरा क्या करेगा।

विशेष—'नेहनदी' के साथ 'पानि' (= पानी), 'चाक' (चक्र = भ्रमर = आवर्त), नाव, सजीवन, लहरैं शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

पाठांतर—छिनकौ–छिन क्यों। को ठिक–कोटिक।

(कबित्त)

राति-द्यौस कटक सजे ही रहै दहै दुख
कहा कहौं गति या बियोग बजमारे की।
लियौ घेरि औचक अकेलो कै बिचारो जीव
कछु न बसाति यौं उपाय-बल-हारे की।
जान प्यारे लागौ न गुहार तौ जुहार करि
जूझिहै निकसि टेक गहैं पन धारे की।
हेत-खेत धूरि चूर-चूर ह्वै मिलैगो तब
चलैगी कहानी घनआनँद तिहारे की ॥५१॥

प्रकरण–प्रिय के प्रति अपने वियोग की कष्टद स्थिति का निवेदन। वियोग-जन्य विरह रात-दिन घेरे रहता है, वह अचानक आ पड़ा है। अब तो इस शरीर के किले में ये प्राणी नहीं बचेंगे। न उनके पास युद्ध करने के लिए शक्ति है और न इसमें बंद पड़े-पड़े जीवनयापन करने का साधन ही है। अब यदि आप इसकी सहायता नहीं करते तो यह जौहर व्रत करेगा। फिर आपके किए की कहानी चल पड़ेगी, लोग आपकी निर्दयता को कोसेंगे।

चूर्णिका—द्यौस = (दिवस) दिन। कटक = सेना। गति = दशा, चाल। बजमारा = (स्त्रियों की गाली) वज्र का मारा हुआ (जो वज्र के मारने से भी नहीं मरा, नष्ट-भ्रष्ट होकर भी जीता हो और दूसरों को कष्ट देता हो)। राति० = इस बजमारे वियोग की गति क्या बतलाऊँ, यह तो रात-दिन सेना सजाए हुए मुझे दुःख में जलाता ही रहता है। औचक = अचानक। अकेलो० = अकेला करके। लियौ० = इसने बेचारे प्राण को सबसे पृथक् करके अचानक

आक्रमण द्वारा घेर लिया है। न बसाति = वश नहीं चलता। यौं = इस प्रकार। उपाय० = उपाय और बल से हारे हुए (प्राण की), जिसका कोई उपाय और बल काम न आता हो। लागौ० = यदि आप इसकी गुहार न लगेंगे इसकी पुकार सुनकर इसे बचाने को दौड़ न पड़ेंगे। जुहार० = (सहायता के लिए चिल्लाने के अनंतर) जौहर करके। जूझिहैं = कट मरेगा। निकसि = (शरीर के किले से) निकलकर, बाहर मैदान में निकल आकर। टेक० = प्रतिज्ञा को पूर्ण करने की टेक का निर्वाह करते हुए। हेत० = (जब) प्रेम के क्षेत्र की धूल में अपने को चूर-चूर करके मिल जायगा। तिहारे की = आपके (किए) की।

तिलक—हे सुजान प्रिय, इस बजमारे वियोग की गति-विधि क्या बताऊँ। यह तो रातदिन सेना सजाए हुए जी को घेरकर दुःख से जलाता ही रहता है। इसने जी को एक तो अचानक आ घेरा है, दूसरे अकेले में घेरा है, जब कोई सहायक नहीं था तब घेरा है। बेचारे जी का कुछ भी वश नहीं चल रहा है, क्योंकि न तो इसके पास बचने के उपाय ही हैं और न बचाव की शक्ति ही है। यदि आप अब इसकी गुहार नहीं सुनते (पुकार सुनकर इसकी रक्षा नहीं करते) तो इसने तो फिर जौहर व्रत करने की ठानी है। यह शरीर से बाहर हो कट मरेगा। जो प्रतिज्ञा इसने कर रखी है उसकी टेक को कभी न छोड़ेगा। प्रेम के क्षेत्र की धूल में यह चूर्ण-विचूर्ण होकर मिल जायगा। तब आपके किए की कहानी चलेगी, लोग आपको अभिशाप देंगे कि आप ही की करनी से इस प्रकार उसे मर मिटना पड़ा। आपने उसकी रक्षा का कोई भी उपाय नहीं किया।

व्याख्या—रातिद्यौस = एक क्षण के लिए भी सेना विश्राम नहीं करती। कटक० = अकेला वियोग ही होता तो भी कठिनाई न होती, उसकी सारी सेना है। सजे ही रहै = सुसज्ज सेना है, उसकी साज-सज्जा कम नहीं हो पाती। दहैं = आग लगानेवाली सेना है, हर तरह से कष्ट देनेवाली है। दुख = दुःख की आग उत्पन्न करके। कहा कहौं = क्या कहूँ, जितना कहा है वह उपलक्षण है, उससे शेष अनुमान कर लेना चाहिए, वह है भी बहुत अधिक। गति = चाल, पैंतरेबाजी भी है उस सेना के संघटन में। या = यह

नैकट्य का बोध कराने के लिए। बियोग = प्रवासादिजन्य दीर्घकालव्यापी। ब्रजमारे = जो स्वयम् वज्र की चोट सह चुका है वह दूसरे के लिए वज्र की चोट करने में हिचकेगा कैसे। लियौ घेरि० = घेरने में कठिनाई थी, फिर भी उसने घेर लिया। औचक० = अचानक यदि आक्रमण न करता तो भी बचने की संभावना थी। अकेलो कै = साथ के अन्यों से भी जो प्रिय के वियोग के अनंतर साथ रह गए थे उनसे भी इसी ने पृथक् किया। बिचारो=किले में रखी सामग्री भी (चारा भी) चुक गया था। जीव = स्वयम् भी प्रतिरोध करनेवाला प्राणी। कछु न० = जितने से वश चला उतने का प्रयोग तो किया ही गया। यौं = जिस प्रकार यह साधनहीन हो गया है कदाचित् ही कोई हुआ हो। उपाय० = युक्ति और शक्ति सबसे पराजित। जान = सुजान, स्वयम् सब बातों को जाननेवाले। प्यारे = प्रिय भी हैं, मुझे तो भाते ही हैं, वे भी मेरी ओर ध्यान देनेवाले हैं। लागौ० = बहुत ही शीघ्रता करने की व्यंजना। संभावना है, आशा है कि आप पुकार सुनकर कष्ट दूर करने का प्रयास करेंगे। तौ = यदि कदाचित् वैसा न कर सकें तो। जुहार = यह शब्द जौहर के अर्थ में प्रयुक्त जान पड़ता है। यों जुहार का अर्थ प्रणाम करना होता है। यह अर्थ अवधी में बहुत प्रचलित है। जौहर व्रत में जब समझ लिया जाता था कि अब शत्रु के आक्रमण से बचने की कोई युक्ति नहीं है तब पुरुष केसरिया बाना पहनकर किले से बाहर आ जाते थे और स्त्रियाँ भीतर धधकती आग में जीते जी जलकर ऐहिक लीला समाप्त कर देती थीं। जीव पुरुष है, वह बाहर निकला है केसरिया बाने में (शरीर पीला पड़ ही गया)। भीतर मनोवृत्तियाँ आग में प्राणांत करेंगी अपना। जूझिहै = जब जौहर के समय योद्धा निकलते थे, तब प्राणों का मोह छोड़कर लड़ते थे इससे गहरी काट भी करते थे, भीषण युद्ध करके तब मर मिटेगा। निकसि = निकरिबो और निकसिबो में कुछ अर्थांतर भी है। निकलना साधारण रूप में बाहर आने को कहते हैं, निकसना विशेष रूप में बाहर आने को कहते हैं। निकासी विशेष ठाटबाट से निकलने-वाली बरात आदि के लिए प्रयुक्त होता है, 'निकाली' नहीं। टेक = प्रतिज्ञा की रक्षा की वृत्ति, सहारे की लकड़ी को भी टेक कहते हैं। इसका स्वारस्य 'पनवारे' के 'धारे' के साथ है। पन का बोझ सँभालने के लिए टेक की

आवश्यकता है। पन = संस्कृत शब्द पण ही है। हिंदी में उसे 'प्रण' कर लिया गया है, 'र' का आगम हो गया है। ऐसा 'र' का आगम हिन्दी में बहुधा हो जाता है। हेत० = प्रेम का रणक्षेत्र। धूरि = यह रणक्षेत्र, जिसमें विषम-प्रेम का व्यवहार है, सरसता की कमी से धूलिमय है। चूर० = स्वयम् धूलि की भाँति होने में भी इस सरस प्रेमी को देर लगेगी। मिलैंगो = मिलना तो निश्चित है। तब = जब तक ऐसा नहीं होता तभी तक अवसर है। चलैगी = बहुत दिनों तक और बहुतों के बीच। कहानी = कुतूहलवर्धिनी होगी। घनआनँद = हे आनंद के वादल, आपके निरानंद की, दुःख देने की कहानी। तिहारे की = इसके कई प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। 'तिहारे की' बिना किसी अन्य शब्द की योजना किए हो तो 'आपकी'। ऐसा अर्थ करने पर भी 'आपकी निर्दयता की' यही अर्थ करना पड़ेगा। इससे 'तिहारे की' या 'तिहारे किए की' ऐसा अर्थ कर सकते हैं। 'तिहारे प्रेमी' भी अर्थ कर सकते हैं। आपके इस प्रेमी की कहानी चलेगी, जिसमें उसकी प्रेमप्रवणता और आपकी निर्दयता का आख्यान हुआ करेगा।

पाठांतर—उपाय = उपाव।

जान प्यारी हौं तौ अपराधनि सों पूरन हौं
कहा कहौं ऐसी गति आवत गरो रुक्यौ।
साध मारैं सुधा तो सुभाय के मिठासै, ताकी
आसा लै दहति, भै चरन-कंज सों ढुक्यौ।
इते पै जो रोष कै रसीली हियो पोढ्यौ करौं
तौ न कहूँ गेर जी को, वे हू झगरो चुक्यौ।
ऐसें सोच-आँचनि अनंदघन सुखनिधि
लपट कढ़ै न नेकौ हा हा जात ज्यौ फुक्यौ ॥५४॥

प्रकरण—प्रेमी प्रिय के प्रति अपनी विरह-वेदना निवेदित कर रहा है। प्रेमी स्वीकार करता है कि मेरे ही अपराध से सब कुछ हो रहा है। जो कुछ कहता है तो वेदना के कारण गला रुँध जाता है। प्रिय की शरण लेने का कारण यही है कि उसकी लालसा-सुधा से कष्ट का निवारण हो। पर सुधा कष्ट का निवारण न करके उलटे और कष्ट दे रही है। यदि प्रेमी उस सुधा की शरण

का त्याग कर अन्यत्र जाना चाहे तो उसे कहीं आश्रय नहीं मिल सकता। फल यह है कि सोच के कारण जो भीतरी वेदना होती है वह बाहर प्रकट नहीं होती, पर भीतर ही भीतर प्राण जल रहे हैं। अतः विरहाग्नि की शांति के लिए आनंद के बादल और सुख के समुद्र से प्रार्थना है।

चूर्णिका—जान = सुजान। प्यारे = प्रिय। पूरन = पूर्ण, भरा हुआ। गरो रुक्यो आवत = गला भर आता है, कंठावरोध हो जाता है। साध = (सं० श्रद्धा से) उत्कट इच्छा। ता = तब, तुम्हारी। सुभाय के मिठास = स्वाभाविक मीठापन ही। साध० = साध की स्वाभाविक मिठासरूपी सुधा ही मारे डाल रही है। आसा० = यदि इस प्रकार मारे जाने के संताप के भय से चरण-कमलों में छिपने का प्रयास किया जाए तो उसकी आशा ही जलाए डालती है। रोष = जोश, हिम्मत। पोढ्यो = दृढ़। इतै पै० = इतने पर भी यदि हियाव करके हृदय को कड़ा करूँ (चरण-कमलों की आशा त्याग दूँ)। तो न० = तो हृदय के लिए कोई अन्य आश्रय ही नहीं है। गैर = अन्य की आशा भी गई। ऐसैं० = इस प्रकार सोच की आँच में। लपट० = हृदय तो भीतर ही भीतर फुँका जा रहा है, बाहर लपट भी नहीं निकलती।

तिलक—प्रिये सुजान, मैं तो अनेक अपराधों से भरा हूँ। तुमसे क्या कहूँ, सुजान से कहने की आवश्यकता ही नहीं। फिर भी यदि कहना भी चाहूँ तो स्थिति यह है कि गला ही रुक जाता है, कुछ कहते ही नहीं बनता। मेरी स्थिति यह है कि तुम्हारे प्रेम की जो उत्कट लालसा है वही मेरे विचार से अमृत है। उसमें स्वाभाविक मिठास है जो मुझे प्रिय है। वह लालसा ही अमृत होते हुए भी मारे डाल रही है, मारने की इच्छा करके मार रही है। इस साध की मार से यदि तुम्हारे चरण-कमल में छिपकर बचने का प्रयास करता हूँ तो उन चरण-कमलों की आशा भी सुखशांति देने के बदले जलाए डाल रही है। चूल्हे की आंच से बचकर भाड़ की आग में जा पड़े। यदि इतना कष्ट भोगकर यही सोचा जाए कि तुम्हारी साध या तुम्हारे चरण-कमल के ध्यान से विरत होकर कोई अन्य आश्रय खोजूँ तो हृदय को दृढ़ करके उसे हिम्मत दिलाकर हे रसीली, अन्य आश्रय की खोज करने का प्रयास करने पर भी अन्य कोई आश्रय नहीं मिलता। कोई आश्रय मिलेगा और कष्ट दूर होगा इस आशा की भी

संभावना गई। अतः अब सारा झगड़ा मिटा। न इस आग से छुट्टी मिलती है और न बचने की संभावना ही है। साथ ही हे आनंद के मेघ और सुख-समुद्र, तुम्हीं से कहना पड़ता है कि सोच की आँचें बढ़ती ही जा रही हैं। बाहर लपट नहीं निकल रही है इससे यह न समझो कि आग मिट गई है। वह भीतर ही भीतर सुलग रही है, बढ़ रही है। प्राण उसमें भस्म हुए जा रहे हैं। तुम्हीं रसवृष्टि और सुखदान से उसे बुझा सको तो बुझाओ; अन्य मार्ग शेष नहीं।

व्याख्या—जान = सुजान होने के कारण कुछ बताने की आवश्यकता नहीं। प्यारी = प्रिया होने के कारण तुमसे सब कुछ बताना भी आवश्यक है। हौं तो = तुम्हें क्या दोष दूँ, किसी के सौंदर्य पर कोई मुग्ध हो तो इसमें सुंदर के सौंदर्य का क्या दोष, उस सौंदर्य के कारण यदि कष्ट भोगना पड़े तो यह उसका (मुग्ध होनेवाले का) दोष माना जाएगा। अपराधनि = अपराध एक नहीं है, एक से अधिक हैं। किसी के सौंदर्य पर मुग्ध होने का किसी को पहले कोई अधिकार नहीं। दूसरे यदि वह सौंदर्य पर मुग्ध हो गया तो हो जाए। दूसरों को उसके मुग्ध होने का पता चले यह ठीक नहीं, मन ही मन वह उस पर मुग्ध रह ले। सौंदर्य पर मुग्ध होकर सुंदर व्यक्ति की अनुकूलता भी चाहे, इसका उसे क्या अधिकार? उसका सान्निध्य भी चाहे, जो किसी और की थाती हो, उस पर अपना अधिकार जमाना चाहे, ये सब अनेक अपराध हैं। पूरन = इतने अधिक अपराध हो गए हैं कि उनसे अंतः-करण भर गया है। उन अपराधों की अधिकता के कारण कहीं स्थान ही नहीं है। जो वाणी भीतर से बाहर आना चाहती है उसके आने के लिए कोई मार्ग नहीं है, गले तक ठसाठस अपराध भरे हुए हैं। कहा कहौं = जो भारी अपराधी हो वह कहे भी तो क्या कहे। दूसरे उसे अपराधी कहते हो तो भी कोई बात नहीं। जब वह स्वयम् अनुभव करता है कि मैं अपराधी हूँ तो भला वह क्या कह सकता है। फिर यदि कहना भी चाहे तो कहने में बाधा है। ऐसी गति = पहले तो कहना ही ठीक नहीं। अपराध का ज्ञान हो जाने से और जिससे कहना है उसकी जानकारी अधिकाधिक होने से। फिर भी यदि कहना ही चाहे तो कहने की स्थिति भी नहीं है। आवत = जो अपने

अपराध स्वयम् जानता है वह यदि कुछ कहना भी चाहे, अपनी निरपराधता की बात कहना चाहे अथवा अपने अपराधों का ही आख्यान करना चाहे, दोनो स्थितियों में वह कह नहीं पाता, उसकी घिग्घी बँध जाती है। साध० = प्रिय के प्रेम को, रूप-दर्शन की साध ऐसा अमृत है जो प्रेमी को जिलाता है, वह ऐसा मीठा है जिसका लोभ उसको बराबर रहता है। यदि ऐसी साध की सुधा जिसमें सहज ही मिठास है वही मारने लगे। जो साध प्रेमी को जिलाती है वह उसे मारती है, बहुत अधिक परेशान करती है। यदि प्रेमी प्रिय के प्रेम की साध छोड़कर केवल उसके चरण-कमल में उस साध की परेशानी से जा छिपे अर्थात् केवल चरण-कमलों का ही ध्यान करता रहे, प्रिय को पाने की लालसा न करे तो उन चरणों का ध्यान भी उस साध ही को उभारनेवाला होता है। यदि कोई चरणों के ध्यान मात्र से शीतलता का अनुभव प्राप्त करना चाहे तो वह भी नहीं मिलती। कमल शीतलता देनेवाला है पर वह जलाता है यह विरोध है। चरण-कमलों के ध्यान से ही प्रेमी का संतोष नहीं होता वह उन चरणों को भी प्राप्त करना चाहता है। उन चरणों के मिलने की आशा उसे होती है और वह आशा जलाने लगती है। सुभाय = मिठास आरोपित भी नहीं है, सहज ही है। फिर उसमें कटुता कहाँ से आ गई। ताको = उस चरण-कमल की। आशा = आशा से जलन शांत होती है, पर यहाँ आशा ही जला रही है। यह भी विरोध है। लै = लेकर अर्थात् बरबस जलाती है। भै = भय, यहाँ भयभीत प्रेमी या भय से, भय के कारण। भय से छिपने की प्रवृत्ति होती है। अपराधों के कारण अन्यत्र तो मुँह दिखाने योग्य रहा नहीं, अब छिपने का स्थान, मुँह छिपाने का स्थान ढूँढ़ निकाला तो वहाँ भी जलन पीछा नहीं छोड़ती। चरनकंज = चरण चलने के कारण होते हैं। कंज चलनेवाला नहीं होता। उन चरणों के कारण वह भी चलने योग्य हो गया। इस प्रकार इन चरणों की शीतलता के लिए चलकर कहीं जाना नहीं है, ये स्वयम् ध्यान करनेवाले के निकट शीतलता देने को आ जाते हैं। ढुक्यौ = किसी प्रकार के भय से अपनी रक्षा के लिए जो ओट ली जाती है उसे ढुकना कहते हैं। इते पै = जितना कष्ट मिल रहा है वह पर्याप्त है, प्रिय का आश्रय छोड़ देने के लिए। यदि सामान्य कष्ट होता तो कहा जा सकता था कि इसने शीघ्रता की। पर वेदना इतनी

अधिक मिल रही है कि ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह तो प्रियपक्ष की स्थिति हुई। प्रेमीपक्ष में वेदनाधिक्य से उसकी सारी शक्ति समाप्त हो गई है। अब हिम्मत बाँधने की भी स्थिति नहीं रह गई। रोष कै = हियाव करके। जब कोई निर्बल किसी पर रोष करता है तो वह अपनी शक्ति का ध्यान छोड़ देता है अर्थात् यह भूल जाता है कि मुझमें इतना बल नहीं है। मुझ निर्बल में अशक्तता बहुत है, फिर भी हृदय कड़ा करके छोड़ने की कल्पना करने को तत्पर होऊँ। रसीली = जो सरसता तुमसे प्राप्त हो रही है उसकी संभावना अन्यत्र नहीं है। अन्य वस्तुएँ विषैली हैं, तुम्हीं रसीली जान पड़ती हो। हियो० = हृदय तुम्हें छोड़कर अन्यत्र जाने की कल्पना कर ही नहीं सकता। फिर भी यदि उसे कड़ा बनाया जाय, इसे सहने के लिए प्रस्तुत भी कर लिया जाय तो भी। पोढ्यौ = हृदय तो कोमल है, वह इतनी कठिन वार्ता के लिए प्रौढ़ नहीं हुआ है, उसे विवश किया गया है। प्रौढ़ता भी उसमें आरोपित ही होगी। करौं = कर लूँ। अभी किया नहीं है। यदि अन्यत्र आश्रय की संभावना हो तो कदाचित् यह भी करने को हृदय प्रस्तुत हो जाए। तौ न = इतना होने पर भी, ऐसी भीषण वेदना पर भी, हृदय अन्य आश्रय में रह नहीं पाता। एक तो आश्रयदाता ही आश्रय न दे, दूसरे आश्रित स्वयम् किसी आश्रय में न रहना चाहे। यहाँ आश्रयदाता चाहे मिल भी जाय पर हृदय दूसरे आश्रय को ग्रहण हो नहीं कर सकता। प्रिय का आश्रय पाकर उसने सभी आश्रयों का परित्याग कर दिया है। कोई आश्रय ऐसा नहीं है जो अपरित्यक्त बचा हो, जिसे अब हृदय स्वीकार कर ले। गैर = अन्य। गैर में पराएपन का भाव है। भला पराया भी कभी अपना हो सकता है। वे सारे परित्यक्त आश्रयस्थान पराए हो गए हैं। वे प्राणों को अनुकूल अब क्या लगेंगे। परित्यक्त होने से उनमें भी अपनाने की प्रवृत्ति नहीं रह गई है। वे उसे आवभगत से आश्रय देने को प्रस्तुत ही कदाचित् नहीं। वे हू = जैसे आशा रहने पर कुछ संभावना बनी रहती है वैसे ही यह आशा भी नहीं रही कि कोई आश्रय मिल ही जाएगा। न हृदय सकारेगा और न कोई प्रेमी को सहेजेगा। झगरो = यदि यह आशा रहती तो हृदय इस बखेड़े में पड़ा रहता कि अभी दूसरा आश्रय मिल जायगा पर वह भी नहीं रहा। चुक्यो = अर्थात् अब उस आशा के फिर से उठने की संभावना समाप्त हो गई। ऐसें =

सुधा ने विष का कार्य किया, शीतदायक ने जलन दी, दूसरों का आसरा-भरोसा भी गया। सोच० = सोच की आँचें निरंतर बढ़ रही हैं। सोच भी कई प्रकार का है। इसी से 'आँचनि' कहा है। मनसा, वाचा, कर्मणा कुछ भी नहीं कर पाते। वाणी बोल नहीं पातीं। कार्य करते हैं तो विपरीत परिणाम होता है। मन कहीं टिकता ही नहीं। अनंदघन = जलन बढ़कर दावाग्नि हो रही है। उसे मिटाने के लिए मेघवृष्टि अपेक्षित है और तुम आनंदघन हो। सुखनिधि = 'निधि' का हिंदी वाला अर्थ समुद्र ही अच्छा होगा। सुख के समुद्र से तुम्हारे आनंद के बादल उमड़ते हैं। 'निधि' का अर्थ खजाना भी लिया जाए तो समुद्र में जैसे अक्षय भांडार है वैसा ही सुख का अक्षय भांडार। लपट = जलन तो अनेक हैं पर उसकी सूचना देनेवाली लपट ने सूचना कभी नहीं दी। सारा वेदना का व्यापार भीतर ही भीतर हो रहा है। यह वेदना स्थूल नहीं है, सूक्ष्म है। दृग्गोचर नहीं होती। पर सूक्ष्म होने से स्थूल की अपेक्षा प्रबल है। सूक्ष्म अर्थात् अगोचर, अदृश्य। हा हा = अत्यंत वेदना का व्यंजक अव्यय। ज्यौं० = जो स्वयम् सूक्ष्म है। उसको भस्म करने के लिए सूक्ष्मतर वेदना चाहिए। वह वेदना ऐसी है कि प्राण भस्म हो रहे हैं। प्राण स्वयम् वायु है जो आग की सहायता कर सकता है, स्वयम् भस्म हो जाए ऐसा नहीं है, पर यह प्राणों को भी जलाए डाल रही है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश पाँच में से सूक्ष्मता की दृष्टि से आकाश को छोड़कर वायु सबसे सूक्ष्म है।

पाठांतर—ऐसी—एही। 'यही' निरंतरता के बोध के लिए। साध मारैं—सेइ मरैं। अमृत की सेवा करके मरें। इस दृष्टि से 'साध' का अर्थ ऐसे भी कर सकते हैं। अमृत की लालसा ही मार डालती हो। मिठासैं—मिठास। दहति—दहलि। सों—स्यों (ओर)। ढुक्यौ—धुक्यौ। मूर्धन्य उच्चारण का कड़ापन नहीं है अर्थ में कोई अंतर नहीं। गैर = ठौर। जी को वेहू = जीबे हू को। जीने का भी।

सुधा तें स्रवत बिष, फूल मैं जमत सूल,
तम उगिलत चंद, भई नई रीति है।
जल जारै अंग, और राग करै सुरभंग,
संपति बिपति पारै, बड़ी बिपरीति है।

महागुन गहै दोषै, औषद हू रोग पोषै,
ऐसें जान, रस माँहि बिरस अनीति है।
दिनन के फेर मोहि, तुम मन फेरि डार्यो,
अहो घनआनँद, न जानौ कैसी बीतिहै ।।५५।।

प्रकरण—प्रिय की पराङ्मुखता पर प्रेमी की उक्ति है। वह अनेक विरोधी उदाहरण देकर उसके प्रेम से पराङ्मुख होने का औचित्य दिखा रहा है। अंत में इसमें अपने अभाग्य को हेतु मानता है और प्रिय से कहता है कि भविष्य में मेरा जीवन किस प्रकार बीतेगा, अभी जब यह स्थिति है तब भविष्य में न जाने क्या हो।

चूर्णिका—स्रवत = टपकता है। जमत = निकलते हैं। सूल = काँटा। तम० = चंद्र अंधकार फैलाता है। जल० = जल से शरीर जलता है। सुरभंग = स्वरभंग। राग० = राग से गाने पर स्वर बिगड़ता है। बिपति पारै = विपत्ति डालती है। गहै = दोष को ग्रहण कर लेता है। औषद = औषध, दवा। पोषै = पुष्ट करती है, बढ़ाती है। ऐसें = ठीक इसी प्रकार। जान = सुजान। रस = प्रेम। बिरस = अप्रेम, पराङ्मुखता, उदासीनता। अनीति = अन्याय। दिननि० = दिनों का फेर, भाग्य का दोष, अभाग्य। तुम० = तुमने भी अपना मन मेरी ओर से हटा लिया है। न जानौ = आप नहीं जानते, आपको इसकी चिंता नहीं। आप सोचते-विचारते नहीं कि मुझ पर इससे क्या बीतेगी।

तिलक—प्रिय, सुजान जिस प्रकार अमृत से विष टपके, फूल में काँटा जमे, चंद्रमा से अंधकार फैले तो यह नई रीति मानी जाएगी, जिस प्रकार जल से शरीर जलने लगे, राग गाने में स्वर बिगड़ने लगे, संपत्ति विपत्ति डालने लगे तो अत्यन्त विपरीत रीति समझी जाएगी और जिस प्रकार महागुण दोष को ग्रहण करे, औषध से रोग की पुष्टि हो तो ऐसा होना अन्यायपूर्ण रीति कही जाएगी उसी प्रकार आपका प्रेम में अप्रेम (अननुकूलता) दिखलाना भी है। भाग्य के फेर का ही परिणाम है कि आपने अपना मन मुझसे फेर लिया। अनुकूल करने के अनंतर अब प्रतिकूल कर लिया। हे आनंद के बादल, आप यह नहीं जानते कि ऐसा करने से मुझ पर क्या बीतेगी। हो सकता है कि यदि वैसा जान लेते तो कदाचित् ऐसा न करते।

व्याख्या—सुधा० = अमृत जिलानेवाला है। उससे जीवन टपकता है, मरण नहीं। फूल० = फूल कोमलता का अधिकरण है, काँटा कठोरता का। फूल में पोषकता है, काँटे में बेधकता। तम० = चंद्र प्रकाश देनेवाला है, अंधकार उसके न रहने पर होता है। इन तीनों उदाहरणों में क्रियाएँ ध्यान देने योग्य हैं। अमृत में हो सकता है कि अमृतत्व उतना न हो जितना समझा जाता है, पर यह कभी नहीं हो सकता कि उससे विष टपकने लगे। जब अमृत ही विष हो जाय तभी ऐसा हो सकता है। स्रवत से निरंतर टपकने का भी भाव है। ऐसे ही फूल में अपेक्षित कोमलता का अभाव हो सकता है, पर यह नहीं हो सकता कि वह काँटे का कार्य करने लगे, उसमें काँटे जम जायँ, उसमें काँटे उग आएँ। चंद्र का प्रकाश मंद हो सकता है, पर उससे प्रकाश के स्थान पर अंधकार निकलने लगे ऐसा न होगा। ये तीनों व्यापार सर्वथा नवीन हैं। स्रवत से जमत और जमत से उगिलत में प्रकर्ष है। स्रवत से धीरे-धीरे निकलने का भाव है। जमत में बलपूर्वक उगने का संकेत है और उगिलत में वेग का रूप व्यक्त होता है। जल० = सुधा से विष निकलने आदि में तो असंभव स्थिति दिखाई गई है, यहाँ असंभव या नूतनता नहीं है वैसा होने की संभावना कदाचित् ही होती है। सामान्य प्रवाह इसके विपरीत है। जल का प्रकृत गुण शैत्य ही माना जाता है। वह संसर्ग से गरम और अति शीतल होता रहता है, पर उसकी सहज विशेषता शीतलता ही है। कोई राग से न गाए तो उसके 'सुर' ठीक से नहीं निकलते, पर राग सुर को स्वयम् ठीक कर देता है। राग का गुण है भग्नता को ठीक करना। ऐसे ही संपत्ति सामान्यतया विपत्ति को दूर ही करती है। संपत्ति का गुण ही है विपत्ति-नाशकता। इसीसे यहाँ 'बड़ी विपरीत' स्थिति यह कहा गया है। महागुण० = गुण और महागुण में अंतर है। गुण कभी दोष ग्रहण करता है या स्वयम् दोष हो जाता है, पर महागुण वही है जो दोष में कभी परिणत न हो। जैसे 'साधुता' महागुण है। यह असाधुता में कभी परिणत नहीं हो सकती। 'औषद' औषध का घिसा या विकसित रूप है। औषध 'ओषधि' से बना हैं। इसका लक्षण है—ओषध्यः फलपाकान्ताः। जो बूटियाँ फल के पकने पर समाप्त हो जाएँ उनको ओषधि कहते हैं। इनका सहज गुण होता है रोग का विनाश। औषध से जब होगा तो रोग क्षीण ही होगा। 'रस' का अर्थ प्रेम तो है ही, आनंद भी है। प्रेम स्वयम् आनंद-स्वरूप है;

उससे निरानंदत्व होना ही नहीं चाहिए। यदि ऐसा कार्य होने लगे कि महागुण दोष ग्रहण कर ले तो वह अन्याय या नीतिविरुद्ध होगा। तीन चरणों में तीन प्रकार की स्थिति दिखाकर बताना यह है कि प्रिय का कार्य नवीन है, उलटा है और अन्यायपूर्ण है। नवीन होने से प्रकृतिगत भेद है। विपरीत होने से गुणगत भेद है। अनीति होने से व्यवहारगत भेद है। व्यवहारगत भेद का तात्पर्य यह है कि महा-गुण स्वयम् दोष तो नहीं हो सकता पर वह किसी दोष को अपने पर आरोपित कर सकता है, थोड़े ही समय के लिए। औषध से रोग का पोषण होना प्रतीत हो सकता है। होमियोपैथिक में रोगवृद्धि होकर तब रोग की शांति भी होती है। दिनन० = अर्थात् भाग्य। दिनों का फेर तो हुआ प्रेमी के, पर मन फिर गया प्रिय का। असंगति है। मन० = प्रिय का मन स्थिर नहीं है, वह दूसरे के संकेत पर कुछ का कुछ कर सकता है। अहो घनआनंद = आप स्वयम् तो आनंद के घनत्व से युक्त हैं। विषाद का जहाँ नाम नहीं। अतः आपको क्या पता कि दूसरे पर क्या बीतेगी। न जानौ = सुजान होकर भी नहीं जानते।

पाठांतर—चंद–चंदा। माहिं–साधो। मोहिं–ए हो। जानौं–जानौं। 'जानौं' में मैं नहीं जानता कि क्या होगा। वेदना की भीषणता की ओर संकेत होगा।

गरल-गुमन की गरांचनि दसा को पान
करि-करि द्यौस-रैनि प्रान घट घोटिबो।
हेत-खेत धूरि चूरि-चूरि साँस, पाँव राखि,
बिष-समुदेग-बान आगें उर ओटिबो।
जान प्यारे जौ न मन आनैं तौ अनंदघन
भूलि तू न सुमिरि परेखैं चख चोटिबो।
तिन्है यौं सिराति छाती तोहिं वै लगति ताती,
तेरे बाँटैं आयो है अँगारनि पै लोटिबो ॥५६॥

प्रकरण—विरही अपने मन को समझा रहा है कि देख, तू विष पी रहा है और प्राणों को निरंतर कष्ट दे रहा है। पर किसी प्रकार प्रेम से विरत नहीं हो रहा है, डटा है, इतने पर भी यदि प्रिय तुझे नहीं चाहता तो तू प्रेम के आघातों को भूल जा। यही समझ ले कि तेरे भाग में कष्ट ही भोगना पड़ा है।

चूर्णिका—गुमान = अभिमान। गरावनि = गलानेवाली। गरल = विष के अभिमान को भी चूर्ण करनेवाली विरह की दशाएँ हैं। पान० = पीकर, चुपचाप सहते रहकर। प्रान० = प्राणों को शरीर में घोटते रहना पड़ता है, प्राण उसमें घुटते रहते हैं। हेत = प्रेम। खेत = रणक्षेत्र। धूरि = धूलि। हेत० = प्रेम के रणक्षेत्र की धूलि में साँसों को चूर्ण-विचूर्ण करके और मिला कर, साँसों को मिट्टी में मिलाकर। पाँव० = पांव रोपकर डटे रहकर। समुदेग = समुद्वेग, अति व्याकुलता। बिष० = अत्यंत व्याकुलता के विषैले बाण। आगें उर = छाती के ऊपर। ओटिबो = आघात ले लेने के लिए आगे करना, रोकना या सहना। मन० = मनमें नहीं ले आते, नहीं चाहते, तेरी ओर प्रवृत्त नहीं होते। भूलि = भूलकर भी। न सुमिरि = स्मरण मत कर। परेखैं = पछतावे को। चख = आँखों से चोट करना, कटाक्ष से घायल करना। भूलि० = तू उनके कटाक्ष द्वारा घायल करनेवाले पछतावे को भूलकर भी स्मरण मत कर। तिन्हैं० = उनकी छाती तो इस प्रकार कटाक्ष-पात द्वारा दूसरों को घायल करने से ही ठंढी होती है। तातो = तप्त, संताप देनेवाली। तोहि० = तुझे इस प्रकार संताप होता है। बाँटे = हिस्से में, भाग में। तेरे० = तेरे हिस्से में अंगारों पर लोटना ही आया है। तुझे कष्ट सहना ही बदा है।

तिलक—विष के अभिमान को भी गला देनेवाली विरह की दशा का पान कर-करके (चुपचाप सहते रह-रहकर) रातोदिन प्राणों को शरीर में घोट दिया जा रहा है (दम घुट रहा है)। इस विषपान से ही छुट्टी नहीं मिलती। प्रत्युत इतने पर भी प्रेम के रणक्षेत्र की धूलि में अपनी साँसों को चूर्ण कर-करके मिलाया जा रहा है। फिर भी पीछे हटने का नाम नहीं, अपितु डटकर परमाकुलता के विषैले बाणों को छाती पर (विस्तारपूर्वक) सहना है। यदि इस प्रकार महाविष पी जाने और विषबाण सहने पर भी प्रिय सुजान आनंद के मेघ तुझे अपने मन में नहीं ले आते (तेरी ओर उन्मुख नहीं होते, तेरा स्मरण नहीं करते, तुझे नहीं चाहते) तो तू उनके कटाक्ष-पात से होनेवाले आघात की व्यथा का पछतावा ध्यान में लाना भूल जा। इससे तो केवल पछतावा ही हाथ लगेगा। क्योंकि इस प्रकार दूसरों को आहत करने में उनकी तो छाती ठंढी होती है और तुझे उस आघात से संताप पहुँचता है।

तेरी भी छाती ठंढी हो ऐसा तेरे भाग्य में नहीं। तेरे भाग्य में तो अंगारों पर लेटना ही बदा है। उन्हें सुख भोगना और तुझे दुःख भोगना है।

व्याख्या—गरल० = विष अत्यंत मारक होता है। उस विष के अभिमान को गलानेवाली विरह-दशा उससे भी अधिक मारक है। शिव ने जो विष पी लिया यहाँ उससे भी बढ़कर विष पीना पड़ रहा है। गरल दूसरे का गुमान गलाता है और यह विरह-दशा उसका भी गुमान गलाती है। करि-करि = बारंबार उसे सहना पड़ता है। एक बार विष पीना और अनेक बार विष पीना पृथक् स्थितियाँ हैं। द्यौस० = रातो-दिन निरंतर विष ही पीना और निरंतर उसी विष में प्राणों को घोटना और भी भीषण है। प्रान० = प्राणों में वह विष उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार खरल में घुटती वस्तुएँ मिलती हैं। हेत० = प्रेम करने में साँसें समाप्त हो रही हैं। शूर-बीर की भाँति डटे हैं। शूर रण में पीछे पैर नहीं रखता, आगे ही बढ़ता है। चूरि चूरि = साँसें प्रबल हैं कठिनाई से चूर होती हैं, फिर भी उन्हें चूर करते हैं। उन्हीं साँसों पर पैर रखते हैं उन्हें ही कुचलते आगे बढ़ते हैं जैसे घनघोर युद्ध में अपने पक्ष के मृत सैनिकों के ऊपर पैर रखकर आगे बढ़ते हैं। बिष० = साधारण बाण तो छाती पर कोई सह लेता है, विष-बाण का सहना कठिन होता है। आगें = पीछे हटने का नाम नहीं, पीठ में घाव नहीं, परम साहसी होने का प्रमाण। उर = केवल छाती पर ही किसी अन्य अंग पर नहीं। ओटिबो = उन बाणों से बचने का प्रयास नहीं। उन्हें आता देखकर छाती तानकर उन्हें रोकते हैं। जान० = सुजान भी हैं और प्रिय भी हैं। फिर भी मन में नहीं लाते। ज्ञान-संपन्न होने से प्रज्ञात्मक तत्त्वपूर्ण है। प्रिय होने से मानस-तत्त्व भी पूर्ण होने की संभावना है, फिर भी तदनुरूप व्यवहार नहीं है। मन० = दर्शन आदि देना तो आगे की प्रक्रिया है, पहले मन में तो ले आएँ। अनंदघन = प्रिय का ही विशेषण है, वे आनंदमय हैं। स्वयम् आनंदात्मक होने से दूसरों को आनंददायक होना चाहिए। भूलि० = प्रिय यदि तुझे बिसार रहा है तो तू भी उसके कृत्यों को बिसार दे। जान-बूझकर उसकी स्मृति क्या अनजाने भी मत कर। तू = जिसने इस प्रकार की वेदना सही है उसके लिए इस पछतावे को भूलना या उसका विस्मरण कठिन नहीं है। सुमिरि = बारंबार ध्यान में जो निरंतर उसे ला रहा

है उसे भूल जा। परेखैं = पछतावा ध्यान में लाने से वेदना ही बढ़ेगी। दूसरे उससे प्रिय के न जाने कितने अन्य ऐसे ही कष्टदायक कृत्य स्मरण करने होंगे। चख = ०नेत्रबाण की चोट, विष-बाण सहकर जब उसका स्मरण नहीं करता तो नेत्रबाण का भी स्मरण मत करो। चोटिबो = बारंबार चोट करना। तिन्हैं = जो दूसरे को कष्ट पहुँचाकर ही अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले हैं। यौं = पहले तो आकृष्ट करना, आहत करना, फिर कुछ भी ध्यान न देना। सिराति = किसी प्रकार की गरमी न पहुँचे इसलिए यों ही अपनी छाती ठंढी करते हैं। छाती = आघात दूसरे की छाती पर होता है जिससे उसे वेदना की उष्णता का कष्ट मिलता है, इनकी छाती उससे शीतल होती है। तोहि = जो अनेक वेदनाओं को सहता आ रहा है उसे भी। मिलनेवाले कष्ट की अधिकता व्यंजित है। वे = वह अथवा निश्चय। लगति = लगने पर ही उष्ण नहीं रहती, उसकी उष्णता बनी रहती है। ताती = कभी शीतल नहीं लगती, सदा तप्त ही रहती है। तेरे बाँटं = तू कष्ट ही कष्ट सह रहा है, तेरे भाग में ब्रह्मा ने यही बँटवारा किया है। सुख और दुःख में से तेरे बँटवारे में दुःख ही आया है। आयौ है = तुझे ही ठीक अधिकरण समझकर यहीं टिकने के विचार से आया है अँगारनि= अनेक कष्टों, जिनमें सुख का कहीं नाम नहीं। पै = उनसे पृथक् नहीं रहना है, उन्हीं पर रहना है। लोटिबो = सर्वांग से उसका संबंध रहे। वेदना या कष्ट सर्वत्र रहने की ओर संकेत।

पाठान्तर—सीस = सोस (सिर पर रखकर चलना। सिर को चूरकर उस पर पैर रखना)। बिष = बिषम उदेग। चख = चक। यौं = क्यौं।

बिकल बिषाद-भरे ताहीं की तरफ तकि,
दामिनिहूँ लहकि बकिह यौं जर्‌यौ करै।
जीवन-अधार-घन-पूरित पुकारनि सौं,
आरत पपीहा निति कूकनि कर्‌यौ करै।
अथिर उदेग-गति देखि कै अनंदघन,
पौन बिडर्‌यौ सो बनबीथिन रर्‌यौ करै।
बूँदें न परति मेरे जान जान प्यारी, तेरे
बिरही कों हेरि मेघ आँसुनि ढर्‌यौ करै ॥५७॥

प्रकरण—प्रिय से कोई (सखी या दूती) विरही प्रेमी की स्थिति निवेदन करता हुआ कह रहा है कि सारी सृष्टि तेरे प्रेमी को समानुभूति में कुछ न कुछ करती है एक तुम्हीं उसकी ओर उन्मुख नहीं हो रहे हो। समय वर्षा का है अतः वर्षा के अंगभूत सभी पदार्थ उससे समानुभूति दिखाते हैं। बिजली उसके विषाद से, पपीहा उसकी पुकार से, पवन उसकी गति से और बूँदें उसके आँसू से प्रभावित हैं। उसकी समानुभूति में ही, उसकी अनुकंपा में ही, उनके सारे व्यापार होते रहते हैं।

चूर्णिका—बिकल० = विषाद से भरकर व्याकुल हुए उस विरही की ओर देखकर (उसके विषाद की ज्वाला से संतप्त होकर)। तकि = ध्यान से देखकर। दामिनी = बिजली। लहकि = चमककर। बहकि = (व्याकुलता से) इधर-उधर होकर। दामिनिहूँ = बिजली भी उस विरही के विषाद की ज्वाला से जलकर चमका करती है। जीवन-अधार = प्रिय। जीवन० = प्रिय के लिए प्रेम की प्रतिज्ञा से पूर्ण उसकी पुकारों को ही (ग्रहण करके)। आरत = आर्त, दुखी (होकर)। कूक = पुकार, चिल्लाहट। अथिर = अस्थिर, चंचल। अथिर० = व्याकुलता से उसकी अस्थिर दशा देखकर ही। बिडर्‌यौ = नष्ट होकर, दुःख का मारा होकर। बीथिन = गलियों में, मार्ग में। रर्‌यौ० = रटता रहता है, संकीर्ण स्थान में प्रविष्ट होकर या चलने की गति से उत्पन्न शब्द के द्वारा रट लगाता रहकर। बूँदें = ये बूँदें नहीं हैं। मेरे जान = मेरे विचार से।

तिलक—हे सुजान, तुम तो अपने प्रिय की ओर उन्मुख ही नहीं होती हो पर इस वर्षा ऋतु में प्रकृति के सभी मुख्य अवयव तुम्हारे प्रेमी की समानुभूति में ही अपनी सारी क्रियाएँ करते दिखाई देते हैं। बादल में चमकने और अस्थिर रूप में प्रकट होनेवाली बिजली अपनी सहज स्थिति में नहीं दिखाई देती है प्रत्युत व्याकुल कर देनेवाले विषाद से युक्त तुम्हारे विरही की ओर ध्यान से देखकर और उसकी विरहाग्नि से विह्वल होकर वह भी इस प्रकार जलती रहती है। जीवन (जल) के आधार मेघ के प्रति अपने प्रण से पूर्ण हो चातक अपनी नैसर्गिक पुकार नहीं कर रहा है, अपितु अपनी प्राणधारा के प्रति अपनी प्रतिज्ञा की वृत्ति पूर्ण करने में लीन तुम्हारे प्रेमी की मौन पुकारों से व्यथित होकर ही यह नित्य अपनी कूक किया करता है। पवन भी जो वन-वीथियों में इधर-उधर

भटकता हुआ दिखाई देता है वह उसकी प्राकृतिक स्थिति नहीं है। प्रत्युत वह भी तुम्हारे प्रेमी की अस्थिर और उद्वेग से पूर्ण स्थिति देखकर और उससे प्रभावित होकर दुःख के मारे रट लगाए हुए घूमता रहता है। बादल से गिरनेवाली बूँदें भी वस्तुतः वर्षा की झड़ी नहीं हैं अपितु तुम्हारे विरही को देखकर मेघ स्वयम् दुःखी हो गया है और वह उसी दुःख में अपने अँसुओं की झड़ी लगाए रहता है।

व्याख्या—बिकल = यह सीधे विरही का विशेषण भी हो सकता है या विषाद का ही विशेषण हो सकता है। विषाद का विशेषण होने पर अत्यंत व्याकुल कर देनेवाला विषाद अर्थ होगा। बिषाद० = आपादमस्तक पूर्ण है। उसमें अब तिलभर भी स्थान नहीं है। ताहीं० = केवल विरही को देखती है, उसका विषाद इतना मार्मिक है कि उसने अन्यत्र देखना छोड़कर उसे ही देखने की वृत्ति ग्रहण की है। तरफ = ओर, अथवा तड़पन, छटपटाना। तकि = इस प्रकार ध्यान से देख रही है कि उसकी ठीक अनुकृति की जा सके। दामिनिहूँ = जो स्वयम् चमकनेवाली है, जिसे किसी से प्रकाश मिलने की अपेक्षा नहीं है। पर उसे भी तेरे विरह की तड़पन इतनी मार्मिक दिखाई देती है कि उससे वह भी तड़पन सीखकर उसी की अनुकृति में अपने व्यापार करती है। लहकि = लहकना वह चमकना है जो किसी के संसर्ग से हो। चूल्हे की आग हवा से लहकती है। बहकि = अपनी स्थिति से विचलित होकर, जब तक अपना ज्ञान, अपनी अहंता कोई छोड़ेगा नहीं तब तक वह दूसरे का अनुकंपन कर ही कैसे सकता है। अपने को भूलकर दूसरे के अनुगमन से बहकना होता है। यौं = अत्यंत प्रचंड रूप में। सामान्यतया उसमें इतनी अधिक तड़पन नहीं है। इस आधिक्य का कारण विरही की अनुकृति ही है, अनुकंपा ही है। जरचौ० = नैरंतर्य की व्यक्ति। बिजली उसको व्यक्ति बराबर कर रही है। इससे भी अधिक प्रभाव पड़ने का संकेत मिलता है। जीवन = जल; प्राण। जीवनाधार के लिए किए गए प्रण से भली भाँति पूर्ण। अत्यंत कष्ट मिलने पर भी प्रतिज्ञा का त्याग न होने से। पुकारनि = अनेक पुकारें जिनसे प्रिय के प्रति निष्ठा, कष्टसहिष्णुता, धैर्य आदि की वृत्तियों का पता चलता है। आरत = अत्यंत दुखी, उसी में डूबा हुआ। पपीहा = प्रिय से ही अपना संबंध रखनेवाला। निति =

नित्य, सदा, निरंतर। कूकनि=अनेक प्रकार की अनुकृतिजन्य पुकारें। करयौ= नैरंतर्य की व्यक्ति। अथिर=अस्थिर। यह 'उद्वेग' का विशेषण भी हो सकता है, अस्थिर कर देनेवाला। उदेग=उद्वेग, वह प्रचंड वेग जो हृदय के व्यथित होने से होता है। गति=स्थिति; चाल। अनंदघन=हे आनंद के बादल। तुमको भी बादल का ही आचरण करना चाहिए। अंतर यही है कि वह प्रेमी की अनुकृति में विषादघन हो जाता है और तुम ज्यों के त्यों आनंदघन ही बने रहते हो। पौन=वह पवन, जो बादलों को उड़ा देनेवाला है, अपना कार्य भूलकर ऐसा कर रहा है। बिडरयौ='बिडरना' नष्ट होना, हट जाना। पवन से बादल बिडर जाते हैं, हट जाते हैं, पर यहाँ पवन प्रेमी की व्यथा के कारण स्वयम् ही बिखर गया है। सो=उत्प्रेक्षा-सूचक है, ऐसा जान पड़ता है। बन०=वन में जाने का कारण है अपने वास्तविक कार्य से मुक्त होकर केवल परदुःखकातरता में साधना करना। ररयौ०=नैरंतर्य की व्यक्ति। बूँदें=इनमें उष्णता है, आँसू की सरूपता है। अधिकता भी है। परति= इस प्रकार सहसा आँसू ही निकल पड़ते हैं। मेरे जान=मेरी समझ में तो यही आया, मैं स्वयम् उस विरही से प्रभावित हूँ इसलिए मेरी वृत्ति यही सोचती है। दूसरा चाहे जो समझे। जान०=सुजान और प्रिय। उसके लिए ही नहीं मेरे लिए भी तुम प्रिय हो। तेरे०=तुम्हारा ही विरही ऐसा है, किसी दूसरे का विरही ऐसा नहीं। बिरही०=ऐसा विरही पहले कभी देखा सुना नहीं गया। हेरि=बहुत ध्यान से देखकर, उसकी व्यथा की अधिकता, उसकी एकनिष्ठा आदि से अत्यधिक आकृष्ट होकर। मेघ=जो जड़ है वह मेघ भी ऐसा कर रहा है। चेतन के लिए फिर क्या कहना। आँसुनि=बहुत अधिक व्यथित होने से ही इतने आँसू निकलते हैं। झरयौ=नैरंतर्य की व्यक्ति।

विशेष—सूफी-साधना के अनुसार सारी सृष्टि ब्रह्म के विरह में लीन है। यहाँ साधक के विरह की वह चरमावस्था बताई गई है जिस पर पहुँचने पर सारी सृष्टि में दिखनेवाला विरह उसकी अनुकृति मात्र प्रतीत होता है। चेतन प्राणी ब्रह्म के विरह में जैसा व्याकुल हो सकता है वैसा और कौन होगा। सूफी इश्क मजाजी अर्थात् लौकिक प्रेम से इश्क हकीकी अर्थात अलौकिक प्रेम की ओर जाने का मार्ग स्वीकृत करते हैं। विरही अपने लौकिक प्रेम से उस

अलौकिक प्रेम की सीमा में प्रविष्ट हो गया है जिस अलौकिक प्रेम में सारी सृष्टि लीन है। शुद्ध काव्य के पक्ष से भी किसी प्रभावकारी वृत्ति का परिणाम यह होता है कि वही सर्वत्र दिखती है। विरही के प्रेम से पराभूत व्यक्ति को सर्वत्र उसी का विरह छाया दिखाई देता है।

पाठांतर--पुकारनि सों-पुकार सुनि।

(सवैया)

सोएँ न सोयबो जागें न जागि, अनोखियै लागि सु आँखिन लागी।
देखत फूलि पै भूलि भरी यह सूलि रहै नित ही चित जागी।
चेटक जानि सजीवनि मूरति रूप-अनूप महारस पागी।
कौन बियोग-दसा घनआनंद मो मति-संग रहै अति खागी ॥५८॥

प्रकरण—विरही अपनी विरह-दशा का विवरण देता और उसपर अचरज तथा चिंता प्रकट करता है। न सोते बनता है न जागते ही। आँखों में विचित्र लगन लग गई है। केवल प्रिय को देखकर संतोष है, फिर तो दुःख ही दुःख है। प्रिय की मूर्ति मति में आ बसी है, निकलती ही नहीं।

चूर्णिका—सोएँ० = सोने पर न सोते ही बनता है और न जागने पर जागते ही। लागि = लगन, प्रेम। देखत० = प्रिय को देखते रहने पर। फूलि = प्रसन्नता, प्रफुल्लता। देखत० = प्रिय को ये आँखें जब तक देखती रहती हैं तब तक इन्हें आनंद मिलता है। सूलि = पीड़ा, खिन्नता। पै० = जब ये आँखें प्रिय को नहीं देखतीं तो चित्त में प्रिय के द्वारा होनेवाले विस्मरण (भूल) का ध्यान करके इनमें नित्य ही खिन्नता छाई रहती है। चेटक = जादूभरी, मायाविनी। जानि = सुजान, प्रिय। सजीवनि० = जीवनदायिनी मूर्ति। रूप० = अनुपम सौंदर्यवाली। महारस० = अत्यंत रस में पगी, परम रसीली। कौन = कैसी, विलक्षण। खागी = खगी हुई, मिली हुई। मो० = कैसी विलक्षण (विरह-दशा को मेरी मति में वह प्रिय की मूर्ति) मिली रहती है। बराबर उसी का ध्यान बना रहता है। फिर भी वियोग का दुःख सहना पड़ता है।

तिलक—मेरी विरह-दशा कैसी विलक्षण है कि कुछ कहते नहीं बनता। सोने पर सोना नहीं बनता, जागने पर जागना नहीं बनता। इन आँखों में ऐसी लाग लगी है कि न तो उनमें सोना ही आ पाता है न जागना ही। यह तो

आँखों की स्थिति हुई। चित्त की स्थिति यह है कि जब तक प्रिय को आँखों से देखता है तब तक तो उसमें प्रसन्नता रहती है, पर ज्यों ही प्रिय नहीं दिखाई पड़ता यह प्रेमी को भूलकर न जाने कहाँ रम गया है। उसकी इस भूल से युक्त खिन्नता ही इस चित्त में जगती रहती हैं। फूल (प्रफुल्लता सोती रहती है और शूल (विषाद) जगता रहता है। प्रिय की जो मूर्ति प्रत्यक्ष आँखों से नहीं दिखती वह भी कहीं गयी नहीं है। वह मायाविनी जीवनदायिनी मूर्ति, जो अनुपम सौंदर्यशालिनी है और जो अत्यंत रस (आनंद) से पगी हुई है, मेरी बुद्धि के साथ अत्यंत मिल गई है। बुद्धि उस मूर्ति के अतिरिक्त और किसी का विचार ही नहीं कर पाती।

व्याख्या--सोएँ = सोने का पूरा प्रयास करने पर, सोने के ठीक समय पर भी। सोयबो = पूर्ण निद्रा। आँख मूँद लेना या लेट जाना मात्र नहीं। जागें = जागने का प्रयत्न करने पर, जागने का ठीक समय होने पर। 'सोएँ न सोयबो' से रात का समय और 'जागें न जाग' से दिन का समय। रातोदिन। रात में न सोते बनता है न दिन में जागते ही। सोने पर निद्रा नहीं और जागने पर जागरण की चेतना नहीं। न पूरी बेहोशी न पूरा जागरण। न होश में हैं न बेहोशी में। अनोखिये = नवीन, विलक्षण। लाग = आखें लगने से निद्रा आती है पर ये आँखें प्रिय से ऐसी लगीं कि उस लाग (लगन) का परिणाम यह हुआ कि ये आँखें अब लगती ही नहीं, इसी लाग के कारण जाग भी नहीं है। केवल यही 'लाग' उनमें लगी है और उनमें कुछ भी लग नहीं सकता। देखत = जब तक देखते रहते हैं तब तक प्रफुल्लता रहती है—कमल और कुमुद की भाँति। प्रिय के चंद्रमुख से ही नेत्र-कुमुद फूलते हैं। पै भू०० = उसके न दिखाई पड़ने पर यही भाव मन में आता है कि कहाँ तो मैं उसे देखकर इस प्रकार प्रसन्न होता रहता हूँ और कहाँ उसकी यह भूल, ऐसा विस्मरण कि यहाँ आने में वह देर करता है, आता ही नहीं। जब कि उसे यहीं रहना उचित था। भरी = केवल भूल या विस्मरण पर ही ध्यान जाता है, वही पीड़ा का रूप धारण करती है। सूल = फूल के विपक्ष में काँटा, प्रसन्नता के विपक्ष में पीड़ा। नित ही = सदा, निरंतर, जगती ही रहती है। आँखों का सोना और जागना अन्यत्र चला गया है। फूल सोता है, सूल जगती है। लाग केवल आँखों में नहीं है। मति में भी है। आँखें समझती हैं कि वह प्रिय की मूर्ति प्रत्यक्ष नहीं

दिखती। पर वह मायाविनी तो कहीं गयी नहीं, यहीं है। बाह्य रूप में वह नहीं दिखती, भीतर तो वही बैठो है। यदि वह न होती तो अब तक जीना भी न होता। वही सुजान की संजोवनी मूर्ति बुद्धि में बैठी है, वह ध्यान में चढ़ी है। उसका वह अनुपम सौंदर्य, वह उसका रसीलापन सब ज्यों का त्यों है, कोई अंतर नहीं। अजब जादू का खेल है कि उस मूर्ति के अंतस् में रहते भी वियोग का अनुभव हो रहा है। महारस = परम आनंद। यद्यपि वह मूर्ति परम आनंद से पगी भीतर ही बैठी है, पर इधर परम विषाद भी हो रहा है। चेटक = जादू में जिस प्रकार जो कुछ दिखता है वह वास्तविक नहीं होता उसी प्रकार उस मूर्ति का अस्तित्व वास्तविकता नहीं है। जान = सुजान, ज्ञान-स्वरूप होकर भी अज्ञानस्वरूप (चेटक-जादू) है। सजीवनि = मुझे तो जिला रही है, पर स्वयम् प्रत्यक्ष नहीं होती। मूरति = सर्वांग से, केवल उसका अंग-विशेष ही नहीं सारी की सारी मूर्ति दिखती है। रूप = रूप नेत्र का विषय है, पर वह चर्मचक्षुओं से नहीं दिखता। मानस नेत्र से उसके दर्शन होते हैं। बुद्धि में वह बैठा है। अनूप = वैसा सौंदर्य अन्यत्र नहीं, वह परमप्रिय परम रमणीय है। महा० = परम आनंद में पगी हुई। रस शब्द दोनो अर्थ देता है 'आनंद' भी 'तरल चाशनी' भी। पागी के साथ 'तरल चाशनी' अन्वित है। कौन = इधर प्रिय है भी और उधर उसका वियोग भी है। यही विलक्षणता है। बियोगदसा = विशेष योग में विगतयोग की स्थिति। घनआनंद = कवि का नाम मात्र। मति = जिससे मनन किया जाए। मनन-चिंतन में केवल वही प्रिय आता है। रहै० = ऐसी अधिक मिली है कि उसे पृथक् कर नहीं सकते। 'मति' और 'प्रिय' में कोई अंतर नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय एक ही है। यह केवल ज्ञानस्वरूप है।

पाठांतर—पै–कै। (अथवा अर्थ में)। यह–हिय।

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप-छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै।
घनआनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरें मिलें मीन पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कों परसै ॥५६॥

प्रकरण—प्रिय से मिलने और बिछुड़ने के लिए दो दृष्टांत प्रसिद्ध हैं— 'बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग को'। विरही कहता है कि मनुष्य के मिलने

और बिछुड़ने से पतिंगे और मछली के मिलने और बिछुड़ने की तुलना नहीं की जा सकती। मनुष्य की इन स्थितियों का स्पर्श भी उनकी वे स्थितियाँ नहीं कर सकतीं। समता करना या बढ़कर होना तो दूर की बात है। मछली मरकर विश्रांति पा लेती है और पतंग जलकर शांति पा जाता है। मनुष्य को वह विश्रांति और यह शांति नहीं मिलती। वह साहसपूर्वक विरह सहता है और साहसपूर्वक सौंदर्य की दीप्ति में जलता है।

चूर्णिका—बिसराम = विश्राम, शांति, कष्ट का अन्त। वह = मीन। यह = मेरा मन, मनुष्य का मन। बापुरो = बेचारा। मीत० = प्रिय द्वारा त्यक्त, वियुक्त। तरसै = कलपता है। वह = पतंग। रूप० = (दीप के) सौंदर्य की छटा। न सहारि = सँभाल नहीं सकता, सह नहीं सकता (जल मरता है)। यह = मेरा मन, विरही मनुष्य। तेज० = प्रिय की अंगदीप्ति से (उसे देखकर) जलता रहता है, टकटकी लगाकर देखता रहता है और आँखों से आँसू भी बरसाता है। तवै = तपता है। आवरी = व्याकुल। बावरी = पगली। थरसै= त्रस्त होती है। बिछुरं = बिछुड़ने पर (जल से मीन के)। मिलें = मिलने पर (दीपक से पतंग के)। मो० = मेरे मन की दशा को मछली के बिछुड़ने की और पतंग के मिलने की दशा छू भी नहीं सकती, स्पर्श भी नहीं कर सकती, बराबरी करना या बढ़कर होना दूर की बात है।

तिलक—मीन प्रिय जल से वियुक्त होने पर मरने में ही विश्रांति का अनुभव करता है। वह तुरंत मरकर सारे कष्ट से छुट्टी पा लेता है। पर मनुष्य का मन बेचारा तो प्रिय के द्वारा परित्यक्त होने पर मरता नहीं, प्रत्युत वह मरणतुल्य कष्ट सहता हुआ निरंतर प्रिय से मिलने के लिए कलपता रहता है। पतंग दीपक के सौंदर्य की छटा सँभाल नहीं पाता। उसे देखते ही मिलने के लिए उतावला होता है और लपट में अपने को जलाकर मिलने की लालसा को इस प्रकार पूर्ण कर लेता है। पर मनुष्य का यह मन प्रिय के रूप के तेज में जल नहीं मरता, वह उसमें तपता रहता है, प्रचंड धूप में तपने की भाँति कष्ट सहता है, फिर भी न उस तेज की ओर देखना ही बंद करता है और न आँसुओं की झड़ी ही बंद होती है। दीपक की ज्वाला में जितना ताप पतंग पाकर जल जाता है उससे अधिक ताप प्रिय के रूपतेज का वह सहता रहता है, विरत

नहीं होता और न जल-भुनकर खाक ही हो जाता है। उसके आँसू भी निकलते रहते हैं। मिलकर भी वह प्रिय से मिलता नहीं। उसके नेत्रों से निकलनेवाले आँसू संयोग में भी वियोग की सूचना देते रहते हैं। संयोग में भी उसको वियोग रहता है, जिसे सहते हुए भी वह डटा रहता है। उतावला होकर न वह आप अपने को समाप्त कर देता है और न अपने प्रिय को किसी प्रकार का कलंक आदि लगने देता है। हे आनंद के घन प्रिय, इस मानव वियोगी की कैसी अनोखी विरह-दशा है कि इसकी कहीं तुलना ही नहीं हो सकती। मछली और पतंग से भला क्या होगी। इस विरह-दशा में बुद्धि वियोग से व्याकुल और संयोग के अवसर पर पगली हो जाया करती है। इस प्रकार उभयथा यह त्रस्त ही रहती है। अतः न तो वियुक्त होने पर मीन की दशा से और न मिलने पर पतंग की दशा से ही इसकी समता हो सकती है। इन दोनों की दशाएँ तो मेरे प्राणों की स्थिति (दशा) का स्पर्श भी नहीं कर पातीं। उसके लेशमात्र के समान ये दोनों नहीं।

व्याख्या—मारबो = मरना तो तत्पूर्व के कष्टों से सभी को निवृत्ति कर देता है। जो मरकर कष्ट की निवृत्ति कर ले वह कष्ट की भीषणता से भागनेवाला है, वह तो आत्महत्या कर लेता है। बिसराम = मानव का वियोग वह वियोग नहीं जिसकी विश्रांति मरने पर भी हो। वह तो यही चाहता है कि आगे भी जन्म हो और यही मेरा प्रिय हो। विश्रांति मरण से कथमपि नहीं हो सकती। गनैं = इस ज्ञान के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं जानता कि मरना ही विश्रांति है। वह तो = जिसकी चेतनाशक्ति इतनी ही है, जिसमें ज्ञान का आधिक्य नहीं। यह बापुरो = मनुष्य बेचारा तो अपने ज्ञान और अपनी सहन-शक्ति की अधिकता के कारण विवशता में पड़ा रहता है। मीत-तज्यौ = मीन अपने प्राणों को त्याग देता है, प्रिय से त्यक्त होने पर यह प्राणों को नहीं त्यागता। मीन का प्रिय जल अपने प्रेमी को त्यागने में जान-बूझकर वैसा नहीं करता, पर इसका प्रिय तो ज्ञानसंपन्न है, प्रेमी की व्याकुलता जानते-समझते त्याग देता है। तरसै = प्रिय ने यदि त्याग न दिया होता तो उसके अनुकूल होने की संभावना रहती। मीन के प्रिय के पुनः मिलने की जितनी संभावना है मनुष्य के प्रिय के उतनी सरलता से अनुकूल होने की नहीं। इसी से इसे इस

प्रकार तरसते रहना पड़ता है। वह = साधारण ज्ञानवाला पतिंगा। जिसकी लालसा का वेग उसमें अत्यधिक उतवलापन ला देता है। रूप० = पतिंगे को केवल रूप का ज्ञान है, उसके भीतर कितनी गरमी है इसका ज्ञान नहीं है। जो किसी प्रकाश को जानता है उसके धर्म या गुण को ठीक-ठीक नहीं जानता। न सहारि सकै = जो इतने को भी सहने में समर्थ नहीं भला वह उस गरमी को सहेगा ही क्या। यह = प्रकाश और उसके भीतर की उष्णता के ज्ञान से जो युक्त है। तेज० = यह केवल प्रकाश मात्र से उतावला नहीं होता। उसकी गरमी में जल भी नहीं मरता। प्रत्युत उसमें तपता रहता है फिर भी उससे भागता नहीं। चितवैं = देखता रहता है। देखने का तात्पर्य साहस दिखाना ही है, सचमुच कुछ देख लेना नहीं। बरसैं = क्योंकि उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा निकलती रहती है जिससे वह देख नहीं पाता। बरसने से ताप कम नहीं होता। बढ़ता ही है। उसके पास जो भी सरसता है उसे बरसाकर बाहर करता रहता है। कठोरता का कार्य करने में फिर भी प्रवृत्त नहीं होता। गरमी के बदले गरमी नहीं, संताप के बदले सरसता का दान करता है। घनआनँद = आनंद के घन, जो संताप को धारा-संपात से बुझाने में सर्वथा समर्थ है। कौन = ऐसी दशा न मैंने कभी पहले अनुभूत की और न किसी से इस प्रकार की दशा की कथा ही सुनी, अश्रुत तथा अदृष्ट पूर्व है यह। अनोखी दसा = नई, विलक्षण, जिसका निर्माण मनुष्य के ही लिए हुआ है। मति = जिसका कार्य ही मनन-चिंतन है, जो इसमें पूर्ण अभ्यस्त है। आवरी-बावरी = उस पर चिंता का इतना अधिक बोझ पड़ा है कि वह व्याकुल हो गई है और व्यवस्था न रह जाने से पागलपन भी आ गया है। ह्वै = हो ही गई, इसके ठीक होने की संभावना कम है। थरसैं = एक ओर 'तरसैं' और दूसरी ओर 'थरसैं'। लालसा तरसा रही है और अप्राप्ति त्रस्त कर रही है। बिछुरें = जो 'संयोग' से वियोग हो वह बिछुड़ना है। मछली का वियोग संयोग से दैवात् होता है। यहाँ दैवात् वियोग नहीं। मिलें = मिलने में भी पतिंगे का प्रिय पूर्वनियत नहीं है जो भी प्रिय प्रकाश दिखा वही प्रिय बन गया। एकनिष्ठता न मीन में न पतिंगे में। मीन= जल में चलनेवाला। मनुष्य को प्रिय में विचरण का यह अवसर कहाँ। पतंग = उड़नेवाला, जो उड़कर प्रिय के पास जा सकता है। मनुष्य तो ऐसा कर नहीं सकता। कहा = क्या ऐसा कहना ठीक है, पहले इसी पर विचार कर

लिया जाए। मो जिय = मेरे प्राणों की जो न जाने, कब से कष्ट सह रहे हैं, अभी तक निकले नहीं। गति = स्थिति ही नहीं चाल भी। मछली के विचरण से इसकी गति अधिक है, पतंग के उड़ने से भी इसका उड़ना अधिक है। परसे = इसमें इतनी दाहकता है कि वे उसे छू तक नहीं सकते।

पाठांतर—मीन–मीच (मृत्यु मछली को तो मार डालती है पर विरही की भीषण गरमी के कारण इसके निकट नहीं आती)। छटान–छटानि (वह केवल रूप के सौंदर्य को ही सह सकता है उसकी गरमी को नहीं)। दसा–कथा।

(कबित्त)

तेरे देखिबे कों सबही त्यों अनदेखी करी,
तू हू जो न देखे तौ दिखाऊँ काहि गति रे।
सुनि निरमोही एक तोही सों लगाव मोही,
सोही कहि कैसें ऐसी निठुराई अति रे।
बिष सी कथानि मानि सुधा पान करीं जान,
जीवन-निधान हैं बिसासी मारि मति रे।
जाहि जो भजै सो ताहि तजै घनआनंद क्यों,
हति कै हितूनि कहौ काहू पाई पति रे? ॥६०॥

प्रकरण—प्रेमी का पछतावा और प्रिय को चेतावनी है। जिसके प्रेम में सबका परित्याग कर दिया है उसी को अपनी स्थिति दिखाने आए पर उसने नहीं देखी। प्रिय के प्रति एकनिष्ठता भी है। फिर भी वह नहीं देखता। सबका परित्याग किया, विश्वासघात पर भी डटे रहे। भला किसी प्रेमी को भी कोई ऐसे त्यागता है।

चूर्णिका—सबही० = सबकी ओर देखना त्याग दिया। गति = दशा, स्थिति। सुनि = सुनो। मोहि = मेरा। लगाव = प्रेम-संबंध। सोही० = कहो यह निष्ठुरता कैसे शोभा देती है। बिष सी० = विष की कथाओं (अन्य द्वारा लगाए हुए अपवादों) को अमृत समझकर पी लिया (उन्हें सहन कर लिया)। जीवन-निधान = जीवन के खजाने, जीवन के सहारे, अवलंब। बिसासी = विश्वासघाती। मारि० = मुझे मार मत डालो। भजै = सेवे, चाहे। हति कै० = चाहनेवालों को मारकर। पति = प्रतिष्ठा। काहू = किसी ने।

तिलक—ऐ प्रिय, तेरे ही देखवे के लिए मैंने तेरे अतिरिक्त और सबको देखना छोड़ दिया। इससे मेरी जो बुरी गति हो रही है उसे यदि तू नहीं देखता तो किसे दिखाऊँ। जिन्हें मैंने देखना छोड़ दिया है वे भला मुझे क्या देखेंगे। ऐ निर्मोह, मेरे संबंध केवल तुझसे हैं। जो जिससे इस प्रकार का एकनिष्ठ प्रेम करता हो क्या उसके प्रति ऐसी अधिक निष्ठुरता उसी प्रिय के लिए शोभन है। जो कथाएँ मेरे इस प्रकार तुझसे प्रेम करने के कारण जहर-सी चारो ओर फैली हैं उन्हें अमृत मानकर मैं पी रहा हूँ। ऐ सुजान, तू जीवन का अवलंब है, मुझसे विश्वासघात कर मुझे मार मत डाल। ऐसा अन्यत्र नहीं देखा गया कि जो किसी को भजता है उसे ही भजा जानेवाला छोड़ दे। ऐ आनंद के घन, अपने हितुओं को मारकर किसी की प्रतिष्ठा रही है? (कदापि नहीं)। यदि आप मेरे कष्ट से आकृष्ट नहीं होते तो अपनी प्रतिष्ठा के ही लिए आप ऐसा अनुचित कार्य न करें।

व्याख्या—तेरे = जो मेरी ओर उन्मुख नहीं। देखिबे कों = दर्शन के अतिरिक्त और किसी प्रकार की लालसा नहीं। सबही त्यौं = यहाँ तक कि अपनी ओर भी। अनदेखी करी = देखते हुए भी नहीं देखते। उनकी ओर देखना तो दूर यदि विवश होकर देखना ही पड़े तो भी नहीं देखते। तू हू जौं न देखै = जिसके लिए सबका परित्याग किया गया। तुझे देखने में मैंने अपनत्व का और जगद्दर्शन का परित्याग कर दिया, अर्थात् मेरे देखने में केवल तू रह गया और सबका परिहार हो गया। फिर भी तू मुझे न देखे। और कोई तो मुझे क्या देखेगा। मैं स्वयम् अपने को नहीं देखता। अब देखनेवाला तू ही रह गया है। तौ दिखाऊँ काहि गति रे = देखने की वृत्ति तो तेरे अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रही। रही दिखाने की वृत्ति सो वह भी तेरे ही प्रति रह गई है, देखना दिखाना जो कुछ है वह तुझी को। मैं जगत् को अपनी वृत्ति दिखाने का विचार ही नहीं रखता। 'दिखाऊ' प्रवृत्ति है ही नहीं। दूसरे को दिखाने से केवल समानुभूति की संभावना है, वह भी मिलेगी इसमें इसलिए संदेह है कि अन्य किसी को देखा ही नहीं गया। फिर दूसरा इतना सुजान भी नहीं है जो इस गति को समझ सके। सुनि = यदि देखते नहीं हो तो सुन ही लो। निरमोही= जगत् में जन्म लेनेवाले प्रत्येक जीव में 'मोह' होता है, पर तू उस 'मोह' से

रहित है। प्रेम का तुझमें एकांत अभाव है। एक तोही सों = एकनिष्ठा ऐसी है कि वह किसी प्रकार नहीं हटी, तेरी अनेक निष्ठा या अनिष्ठा से भी नहीं। लगाव मोही = अन्य सबसे बिलगाव है। 'निरमोही' में 'मोही' का लगाव नहीं, मेरा अस्तित्व तुझमें हो ही नहीं पाता। पर यहाँ मेरा केवल तुझसे सम्बन्ध है। सोहौ = तू मोही न हो, पर दिखावे का साज-बाज का तो तुझे अवश्य कुछ विचार होगा। अनुभूति के नाते न सही 'शोभनत्व' के नाते ही तू कुछ उपयुक्त-उचित का ध्यान रखता। कहि = यदि देखते सुनते नहीं तो कम से कम बता दें कि इस प्रकार के व्यवहार का कारण क्या है। इसमें मेरी ओर से तो कोई त्रुटि नहीं है। कैसं = तेरे इस कार्य का औचित्य मुझे तो किसी प्रकार नहीं दिखता। तू ही अपना औचित्य बता। ऐसी निठुराई अति रे = एक तो तेरी निष्ठुरता ऐसी है कि जैसी कभी देखी-सुनी नहीं गई, दूसरे वह सीमा का अतिक्रमण करके चल रही है। भौतिक, जीव-जगत् की सीमा क परे। मनुष्य क्या जीव मात्र में ऐसी निष्ठुरता नहीं दिखाई देती। बिष सी = जो न पीने में सुस्वादु हैं और न फल में ही सुखद है। कथानि = एक नहीं अनेक, एक से एक जहरीली कथा। मानि = जानते-बूझते भी समझ लिया, उनका भी सम्मान ही किया। सुधा = जो पीने में मधुर और प्रभाव में सुखद है। बिष मारक है और अमृत जीवनद। उस बिष को अमृत करके ग्रहण किया। तुम्हारे बिष की मेरे यहाँ यह स्थिति और मेरे अमृत की तुम्हारे यहाँ वह स्थिति। तुम उसे विष समझकर नहीं ग्रहण करते। पान करौं = अनिच्छापूर्वक नहीं, स्वेच्छा से बिना किसी हिचक के। जान = सुजान, जो जानता है कि क्या अमृत है क्या विष है। जीवन० = प्राणों के खजाने अर्थात् रक्षक आप ही हैं। आप विष दें तो भी मेरे लिए अमृत है। आपका विष मुझमें अमृत हो जाता है, इसमें भी मैं अपना महत्त्व नहीं समझता, वह भी आपका ही महत्त्व है। आपही के कारण वह अमृत होता है। केवल मैं होता तो वह ऐसा न हो पाता। ह्वै बिसासी = जो जीवनदायक हो वह विश्वासघात करे, मारे विष आशी, आप इतना विष पचाए हुए है कि केवल विश्वासघात ही करते रहते हैं। मारि मति रे = मेरे मार डालने से फिर ऐसा प्रेमी न मिलेगा, मेरे मर जाने से ऐसी लालसा वाले को समाप्ति हो जाएगी। जाहि जो भजै = जो जिसको भजता है, अपने को अर्पित करके भजता है।

सो ताहि तजै = 'भजना' भागने के लिए भी आता है। मैं तो भजता हूँ। उसके बदले आप भजते (त्यागते) हैं। भजनेवाले के लिए लोग अपने सुख का त्याग करते हैं। कुछ उसे ही नहीं तज देते। घनआनंद = आपमें आनंद का घनत्व है जिसमें से कुछ अंश कम हो जाने की संभावना नहीं है, जो मुझे आनंद देने से हिचकते हैं। हति कै हितूनि = 'हित' और 'हति' में केवल मात्राएँ इधर-उधर हैं। मारने के लक्ष्य भी नियत हैं। सभी नहीं मारे जाते हितू तो दूसरे के द्वारा भी मारा जा रहा हो तो बचाया जाता है, स्वयम् भला उसे कौन मारता है। कहौ काहू पाई पति रे = किसी को भी प्रतिष्ठा नहीं मिली। आपको अपनी प्रतिष्ठा का ही अधिक विचार है। आपके ऐसे प्रतिष्ठित से मुझ-जैसे तुच्छ का प्रेम ठीक न होगा। सो क्या आपके द्वारा मेरे मारे जाने में आपको प्रतिष्ठा होगी ?

पाठांतर—तू हू-तऊ। जाहि जो०–जाहि जौन भजै ताहि। काहू-कहूँ।

लगी है लगनि प्यारे पगी है सुरति तोसों,
जगी है बिकलताई ठगो सो सदा रहौं।
जियरा उड़्यौ सो डोलै हियरा धक्यौई करे,
पियराई छाई तन सियराई दौ दहौं।
ऊनो भयौ जीबो अब सूनो सब जग दीसे,
दूनो दूनो दुख एक एक छिन मैं सहौं।
तेरे तौ न लेखो मोहिं मारत परेखो महा,
जान घनआनँद पै खोइबो लहा कहौं ॥६१॥

प्रकरण—विरही अपनी वेदना का आत्मनिवेदन प्रिय के प्रति कर रहा है। अपने में जो कुछ है सब प्रिय के ही प्रति है। शरीर की सारी वृत्तियाँ केवल उसी की ओर उन्मुख हैं। पर उसकी पराङ्मुखता के कारण बहिरिंद्रिय और अंतरिंद्रिय सभी में उसका प्रतिकूल प्रभाव है। शरीर की स्थिति, प्राणों की व्याकुलता के कारण जीना व्यर्थ जान पड़ता है। संसार में भी कोई आकर्षण नहीं है। फिर भी प्रिय कुछ भी ध्यान नहीं दे रहा है। प्रिय की प्राप्ति के बदले केवल अप्राप्ति की ही प्राप्ति हो रही है।

चूर्णिका—लगनि० = लगाव, प्रेम। सुरति = (स्मृति) ध्यान। पगी० = स्मृति तुम्हीं में पगी है, तुम्हारा ध्यान करती रहती हूँ। जगी है = प्रबल हो

गई है। जियरा० = जी मानो उड़ा रहता है। हियरा० = हृदय धड़कता ही रहता है। पियराई = पीलापन (विरहजन्य)। सियराई दौ = धीरे-धीरे सुलगनेवाली आग, ठंढी आग। दहौं = जलती हूँ। ऊना = न्यून, तुच्छ, व्यर्थ। जीबो = जीना। सूनो = शून्य, निस्तत्त्व। दूनो = दुगुना। तेरें = तेरे जी में तो मेरे इस कष्ट की कोई गिनती ही नहीं। उसका कोई विचार ही नहीं। परेखो = पश्चात्ताप। पै = से। खोइबो = खोना। लहा = लाभ। लहौं = पाती हूँ।

तिलक—हे प्रिय, आपसे ही लगन लगी है और स्मृति भी आप ही में लीन है। व्याकुलता बढ़ रही है। मेरी स्थिति तो सदा उस व्यक्ति की सी रहती है जो किसी के द्वारा ठगा गया हो। जी उड़ा-उड़ा फिरता है और छाती धड़कती रहती है। सारे शरीर में पीलापन छाया है। भीतर ही भीतर धीरे-धीरे सुलगनेवाली विरह की इस ठंढी आग से जलती रहती हूँ। मेरे लिए जीना अब व्यर्थ प्रतीत होता है। सारा संसार निस्तत्त्व सा लगता है। एक-एक क्षण में दुःख दूना-दूना हो रहा है। (पहले से दूना दूसरे में, दूसरे से दूना तीसरे में, तीसरे से दूना चौथे में, पहले से चौथे में अठगुना इस क्रम से बढ़ रहा है)। ऐसी निरंतर वर्धमान दुःख-स्थिति को भी सहती रहती हूँ। मेरे कष्ट के बढ़ने की स्थिति तो अनगिनत होती जा रही है और आप उसे किसी गिनती में गिनते नहीं, उसका कुछ भी विचार नहीं करते। मुझे आपके इस प्रकार पराङ्मुख होने का सोच ही सबसे अधिक मारे डाल रहा है। कैसी विलक्षण बात है कि जो सुजान है और जो घने आनंद वाला है उससे केवल खोने की प्राप्ति हो रही है। आपके प्रेम में पड़कर केवल खोना ही खोना है, पाना कुछ नहीं।

व्याख्या—लगी है लगनि = लगन में कोई अंतर नहीं पड़ा, आपके विपरीत व्यवहार से भी। प्यारे = लगन लगी रहने का कोई नाटक नहीं हो रहा है, आप प्रिय भी ज्यों के त्यों हैं। पगी है सुरति = स्मृति लीन है, आप प्रिय ही नहीं हैं स्मृति में आपके अतिरिक्त कोई नहीं, वह केवल आपका ध्यान करती है। तोसों = तुझी से, जिसने ऐसे-ऐसे अटपटे कार्य किए हैं। जगी है बिकलताई = व्याकुलता इन बातों से प्रचंड हो रही है, पहले तो वह सोई थी, पर आपके प्रतिकूल व्यवहार से अब जगी है। ठगी० = जो ठग लिया

जाता है वह ऐसे ही से ठगा जाता है जिसका उसने विश्वास किया हो, मैंने आपका विश्वास किया और आपने विश्वासघात। 'सदा' कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य ठगा गया कुछ दिनों के अनंतर अपने ठगे जाने की कथा आदि को भूल जाता है, पर यहाँ निरंतर एक-सी स्थिति है, उसमें परिवर्तन नहीं होता है। जियरा० = किसी आग का प्रभाव यह होता है कि कुछ वस्तुएँ उड़ जाती हैं उसकी आँच से। कुछ वस्तुएँ धड़कने लगती हैं, धड़ाका होता है। कुछ का रंग बदल जाता है। इस विरहाग्नि से जी तो उड़ गया। ऐसा उड़ा कि उड़ा-उड़ा ही फिरता है, फिर अपने अड्डे पर आकर बैठने की नौबत ही नहीं। हृदय में धड़कनें हो रही हैं। वे भी जब से होने लगीं तबसे होती ही हैं। हृदय की धुकधुकी तो धड़कती ही रहती है, फिर उसके धड़कने की बात क्यों कही गई? यहाँ धड़कने का तात्पर्य उस धड़कने से है जो धड़कन समाप्त होने के समय होती है। प्राण तो निकल ही गए। हृदय की धड़कन भी उस सीमा पर पहुँच गई है जब उसको समाप्त होना है। जी में आग का प्रभाव दो प्रकार की गतियाँ उत्पन्न कर रहा है—एक तो अपना स्थान त्याग उड़ जाना और दूसरे डोलते रहना, अस्थिर रहना। हृदय में तो हिलाना धुकधुकी का चलना था ही उसमें उसकी तीव्रता हो गई, वह उड़ा नहीं। 'धकना' क्रिया से 'धक से होना' अर्थ समझिए। शरीर पर तीसरे प्रकार का प्रभाव है, उसका रंग उड़ गया है, ललाई या गुराई नहीं रही, केवल पीलापन रह गया है। 'छाई' से वह सवंत्र है। सियराई = ठंढी आग में विरोध है। पर अर्थ है धीरे-धीरे सुलगने का। इस प्रकार के प्रयोग छायावादी कवियों में मिलते हैं। 'प्रसाद' आंसू में कहते हैं—

शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृगजल का।
यह व्यर्थ श्वास चल-चलकर करती है काम अनिल का।

'शीतल ज्वाला' ठंढी आग, मंद-मंद क्रमशः स्थिरतापूर्वक बढ़नेवाली आग। दहौं = जलती हूँ, निरंतर जलती ही हूँ। ऊनो० = आग की प्रचंडता का परिणाम यह है कि यदि जिया भी जाय तो जीवन निरर्थक है। इस ऊनेपन का आधार 'जी' है। जी जब उड़ गया, डोलता ही है तो अब जीना कैसा, 'जी' की त्रुटि से जीवन त्रुटिपूर्ण हो गया। हृदय की धड़कन का परिणाम यह है कि जगत् में अब कोई अनुभूति आकर्षण नहीं देख पाती। अनुभूतियाँ ही समाप्त हो

गयी हैं। शरीर के दुर्बल हो जाने से दुःख प्रतिक्षण दूना हो रहा है। क्रमशः अन्वय है पूर्वपद से, दूसरी पंक्ति से। जीवन में कमी हुई, जगत् में अभाव हुआ। इसका सारा प्रतिफल दुःख में दिखता है जो दूना हो रहा है। 'अब' से पूर्वावस्था संकेतित है। तब संयोगावस्था में इसके विपरीत जीवन की लालसा वर्धमान थी। 'सब' का तात्पर्य यह कि कहीं कोई अवकाश नहीं। 'सूनो दीसै' से अंग्रेजी प्रयोग मिलाइए 'वेकेंट लुक'। आंखें नहीं बन्द कर ली हैं, वे तो देख ही रही हैं, पर दिखाई नहीं देता। दृष्टि में कुछ आता ही नहीं। जहां एक-एक क्षण में दुःख दूना होता है वहाँ मरणासन्न स्थिति रहती है। तब जीने की उमंग समाप्त हो जाती है और नेत्रों में दृश्य अंकित नहीं होते। तेरे० = यहाँ भी त्रिधा स्थिति है। जीवन समाप्त हो रहा है पर आप उसका विचार ही नहीं करते। जगत् समाप्त हो गया पर मैं कुछ न कर सकी इसका पछतावा है। दूना दुःख होने पर प्राप्ति नहीं है, खोना ही खोना है। 'आपके लेखा' नहीं का तात्पर्य यह कि कभी होगा इसकी भी संभावना नहीं है। 'मारने' का तात्पर्य यह कि उसमें इतने पर भी कमी नहीं है, अधिकता ही है। 'महा' भी इसी से कि चाहे आप कुछ न करते केवल इस दुःख का लेखा भर कर लेते तो काम हो जाता। जान-सुजान होकर ऐसे बेपढ़े कि गिनती भी नहीं जानते। 'घनआनंद' में प्राप्ति ही प्राप्ति होती है, यहाँ खोना ही खोना है। 'खोने का लाभ' में विरोध है। प्रथम पंक्ति से अन्त तक त्रिधा स्थिति पर ही ध्यान है। जी, हृदय और शरीर से उन्हें संबद्ध करके रखा है। 'लगी है लगनि'—जी में। 'पगी है सुरति'—हृदय का कार्य। 'जगी है बिकलताई' शरीर का धर्म।

पाठांतर—कर-रहे। सब-बस। पै-यौं।

कौन की सरन जैये आपु त्यौं न काहू पैयै,
सूनो सो चितैयै जग, दैया कित कूकियै।
सोचनि समैयै, मति हेरत हिरैयै, उर,
आंसुनि भिजैयै, ताप तैयै तन सूकियै।
क्यौं करि बितैयै, कैसें कहाँ धौं चितैयै मन,
बिना जान प्यारे कब जीवन तें चूकियै।
बनी है कठिन महा, मोहिं घनआनंद यौं,
मीचौ मरि गई आसरो न जित ढूकियै ॥६१॥

प्रकरण—विरही के पश्चात्ताप की चरम सीमा की अभिव्यक्ति। प्रिय तो वियुक्त है। जगत् में कोई शरण देनेवाला नहीं, विरही की ओर कोई देखता नहीं। संसार में विरही कोई आकर्षण ही नहीं पाता तो अपनी पुकार क्या करे। अतः वह सोच में डूबा है, खोया सा है; आँसू बरसते हैं, शरीर संतप्त है। समय कैसे कटे, मन कहाँ दुःख का बोझ फेंककर हलका हो। आशा है प्रियदर्शन की ही। मृत्यु से बचाव हो सकता था वह भी नहीं मिलती।

चूर्णिका—सरन० = शरण में जाऊँ। आपु० = अपनी ओर देखनेवाला ही कोई नहीं है। सूना = संसार सूना-सूना दिखता है। देया = हा दैव, कहाँ पुकार करूँ जिससे कोई सुन ले। सोचनि = सोच में गड़ी जा रही हूँ। मति० = बुद्धि के खोजने में खोजनेवाला ही खोया जा रहा है। ताप० = विरह ताप से तपती हूँ और शरीर सूखता जा रहा है। क्यौं करि० = कैसे दिन बिताऊँ। कैसें० = किस प्रकार और कहाँ जाकर मन हलका करूँ। बिना० = सुजान प्रिय को एक बार देखे बिना मरते भी नहीं बनता। बनी० = बड़ी कठिन परिस्थिति हो गई है। मोहिं=मुझ पर है। यौं = इस प्रकार। मीचौ०= मृत्यु भी मर गई। उसकी शरण जाने से दुःखों से बचने का आसरा भरोसा था, वह भी नहीं रहा। मृत्यु की ओट में बच सकती थी, पर वह स्वयम् मर गई।

तिलक—हे आनंद के घन प्रिय, मैं आपके अतिरिक्त किसकी शरण जाऊँ। मुझे कोई ऐसा नहीं दिखता जो मेरी इस विपत्ति के प्रति उन्मुख हो, जो मुझसे समानुभूति रखता हो। आपकी अनुकूलता और उपस्थिति का अभाव तथा किसी अन्य संवेदनाशील व्यक्ति के अभाव में अब सारा संसार मुझे शून्य, निस्तत्त्व, करुणा से रहित दिखाई देता है। अपनी पुकार के दो ही स्थान थे या तो प्रिय या कोई सहृदय। पर दोनो के अभाव में अब मैं कहाँ जाकर पुकार करूँ, जिससे मेरी व्यथा दूर हो या हलकी हो। जब अन्यत्र मेरी समाई नहीं है तब अब केवल मैं अपने सोचों में ही समा रही हूँ, उन्हीं में लीन रहती हूँ। सोच को दूर करने के लिए बुद्धि की ओर देखने का यत्न करने पर उसे खोजने में स्वयम् अपने को ही खो बैठती हूँ। छाती में इस खो जाने से जो नीरसता उत्पन्न होती है उसे सरस करने के लिए आँसुओं से उसे भिगोती हूँ। उस सरसता का अभाव उलटा ही होता है। विरह-ताप से तपती ही रहती हूँ।

शरीर हरा होने के बदले सूखता ही जाता है। ऐसी स्थिति में भला दिन किस प्रकार बिताए जायँ, मन को किस प्रकार और कहाँ जाकर हलका किया जाय। उसमें भरे दुःख को किस प्रकार दूर किया जाय। यदि कहा जाए कि मरकर वेदना से छुट्टी पा ले तो बिना सुजान प्रिय के दर्शन के ये प्राण किसी प्रकार कब निकल सकते हैं। दूसरे मृत्यु भी तो मेरे निकट नहीं आती। वह भी तो मर गई है। उसमें छिपकर अपने कष्टों से निवृत्ति पा लेने का जो आसरा-भरोसा था वह भी नहीं रहा। इस प्रकार मेरे ऊपर ऐसी कठिन परिस्थितियाँ आ पड़ी हैं कि कुछ कहते नहीं बनता।

व्याख्या—कौन० = शरण देने के लिए एक तो सामर्थ्य हो दूसरे उसमें सहृदयता हो, करुणा हो, अनुकंपा हो। न कोई ऐसा दिखता है जिसमें सामर्थ्य हो और न कोई मुझे समानुभूति-प्रदर्शक ही मिलता है। 'आपु त्यों' का अपने समान अर्थ किया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस चरम वेदना में मैं पड़ी हूँ उसमें पड़ा जब कोई हो तो समवेदना भी प्रकट करे। कोई मेरी इस विषम वेदना को समझनेवाला ही नहीं है। जब प्रिय ही अनुकूल नहीं है तब और कैसे अनुकूल हो। प्रिय के अनुकूल होने पर ही प्रेमिका सुहागिन कहलाती है। दूसरे भी उसकी ओर देखते हैं इस प्रकार देख तो रहे हैं जग की ओर पर वह शून्य है, कोई उत्तर, कोई प्रतिकथन वहाँ से नहीं मिलता। पुकार भी तो अपने प्रति होती है या पराया यदि सुननेवाला हो तभी तो उसके प्रति होती है। यहाँ दोनो विमुख हैं। केवल देखना-देखना रह गया। विरही की वेदना स्वयम् ऐसी है कि वह वचनों से कही नहीं जा सकती। यदि वचनों से कहकर कुछ जतलाना चाहें तो कोई सुननेवाला हो तभी तो। रह गया 'दैव'। उसीसे प्रश्न है कि हे दैव, जगत् में तो कोई रहा नहीं, अब तेरे अतिरिक्त किससे अपनी व्यथा कहें। तू ही कष्ट दूर कर सकता है और कोई नहीं। सोचनि० = अनेक सोच हैं—न शरण है, न किसी की समवेदना है, न जगत् के दर्शन हैं और न पुकार करते बनती है। सोचों में समा जाने पर भी बचना संभव नहीं। सोच का साधन है मति, उन सोचों के लिए बुद्धि से यह चाहते हैं कि उन्हें दूर करे, पर दूर करना तो दूर उसे देखने में आप ही खो जाते हैं। 'हेरनहार हिरान' की स्थिति। जब कुछ दिखता नहीं तो आँसुओं से छाती को ठंढी करते हैं। 'अश्रु' का अर्थ ही है जो अदर्शन के लिए नेत्रों को छा ले—अश्नुते व्याप्नोति

नेत्रमदर्शनाय। सोच से आँसू आते हैं, जिनके कारण कुछ दिखता नहीं। तब उन आँसुओं से छाती को शीतल करने का काम लिया जाता है। पर वहाँ तो पानी से आग और बढ़ती है। जब आग अधिक हो तो पानी उसमें ईंधन का काम करता है। छाती ठंढी होती तो शरीर कुछ सँभलता, दुबला होने से बचता। पर वह स्वयम् ही 'तनु' है इससे और सूख जाता है, गरमी भी तो है। गरमी पानी को सोखती है. आँसू को चट कर गई, शरीर में जो रस था उसे भी उसने समाप्त कर दिया। क्यौं करि० = पहले चरण में जितनी बातें हैं वे दिन में हो सकती हैं, दूसरे चरण में जो स्थितियाँ हैं वे रात में हो सकती हैं अथवा दोनो दिन-रात में ही हों। इस प्रकार रात दिन कष्ट है। न दिन बीतता है न रात। दिन बीता तो रात नहीं, रात बीती तो दिन नहीं। दिन बिताने के लिए कुछ सुख का आधार चाहिए। वह सुख मिलता नहीं। मन में जितने दुःख हैं उनसे उसे किस प्रकार रिक्त किया जाए। कोई भी यदि विपत्ति बँटानेवाला मिल जाता तो उसमें कमी होती, पर हो तब तो। अपने को ढंग ही नहीं ज्ञात है और ढंग बतलानेवाला दूसरा नहीं। जिसे खाली करना है वह 'मन' है। थोड़ा नहीं है कि खाली कर दें। जब तक प्रिय की प्राप्ति नहीं होती तब तक तो वेदना को कम करने की ही चिंता है। यदि प्रिय मिल जाएँ तो उस वेदना से छुट्टी पा लेने का एक मार्ग जीवन समाप्त कर देना है। पर ऐसे अमोही, निर्दय प्रिय के लिए भी आशा है कि वह कभी आएगा। इसी आशा में प्राण टिके हैं। घनआनंद के विरह में नैराश्य आधार नहीं है। आशा ही आधार है। यह आशावाद भारतीय साहित्य-परंपरा का मुख्य तत्त्व और स्वरूप-विधायक है। वनी० = शरण प्रिय दे, जगत् दे, मृत्यु दे या ईश्वर दे। प्रिय देता नहीं, जगत् देता नहीं। मृत्यु भी नहीं देती। आशावादी के लिए मृत्यु भी मरी है। वह प्रिय के दर्शन के बिना मर भी नहीं सकता उसके लिए मृत्यु ही मर गई है। सब प्रकार के शरण्यता के अवलंब समाप्त हो गए।

पाठांतर—मति—गति। ढूकियें—हूकियें।

अधिक बधिक तें सुजान, रीति रावरी है,
कपट-चुगौ दै फिरि निपट करौ बुरी।
गुननि पकरि लै, निपाँख करि छोरि देहु,
मरहि न जियै, महा बिषम दया-छुरी।

हौं न जानौं, कौन धौं ही यामैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यौं परति प्यारे अंतरकथा दुरी।
कैसें आसा-द्रुम पै बसेरो लहै प्रान-खग,
बनक - निकाई घनआनँद नई जुरी ॥ ६३ ॥

प्रकरण—प्रिय के सौंदर्य पर मुग्ध प्रेमी की उक्ति है। यह प्रिय को वधिक (बहेलिया) और प्राणों को पक्षी मानकर कहता है कि आपका कार्य बहेलिये से अधिक क्रूरतापूर्ण है। बहेलिये की तो कुछ स्वार्थ-सिद्धि होती है, पर आपकी कोई स्वार्थ-सिद्धि समझ में नहीं आती।

चूर्णिका—अधिक = बढ़कर। बधिक = चिड़ीमार, बहेलिया। रावरी = आपकी। चुगो = चारा। निपट = अत्यंत। फिरि० = चारा देने के अनंतर आप अत्यंत बुरा व्यवहार करते हैं। गुनन्हि = गुणों से; रस्सी या जाल से। निपाँख = पंखहीन; पक्षरहित। गुननि० = अपने गुणरूपी जाल में पकड़कर फिर पक्ष से हीन करके छोड़ देते हो। बहेलिया या तो पकड़कर मार डालता है या पक्षहीन करके पास रख लेता है। आप न मारते हो हैं न पकड़कर पास ही रखते हैं। असहाय और बेकार करके छोड़ देते हैं। मरहि० = इसलिए प्राणरूपी पक्षी न तो मरता ही है न जीता ही। महा० = आपकी दया की छुरी बड़ी ही विषम (भयंकर और विलक्षण) है। आपने न मारकर जो दया दिखाई वह मारने से भी अधिक कष्टकर है। हौं = मैं। कौन धौं = न जाने कौन। हौं न० = मुझे यही नहीं जान पड़ता कि इसमें आपके किस स्वार्थ की सिद्धि होती है। लखी० = कैसे लक्षित हो सकती है। अंतर = हृदय में छिपी हुई गुप्त बात। आसा० = आशारूपी वृक्ष पर प्राणरूपी पक्षी कैसे बसा रह सकता है। बनक = रूप की सजावट; वन की वस्तु (चारा)। बनक० = नई-नई सुंदरता (पक्षियों के फँसाने का नया-नया चारा) जुटाकर आपको फँसाने की टेव है। (अतः यह आशा कैसे करूँ कि जिस दशा में पड़ी हूँ इसमें पड़ी रह सकूँगी)।

तिलक—हे प्रिय सुजान, आपकी प्रेमियों को फँसाने की रीति बहेलिये से भी बढ़कर दिखाई देती है। बहेलिया चारा देकर फिर वैसी बुरी गत नहीं करता जैसी आप करते हैं। आप कपट के चारे से फँसाकर अत्यंत बुरा बरताव करते हैं। कपटपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करके फिर पराङ्मुखता द्वारा

विशेष कष्ट देते हैं। बहेलिया गुणों से (जाल में) फँसाता है, आप भी गुणों से (विशेषताओं से) आकृष्ट करते हैं। वह पंख कतरकर छोड़ देता है, आप भी प्रेमी को अन्य किसी पक्ष से रहित कर देते हैं। पर बहेलिया या तो मार डालता है या पंखहीन करके छोड़ता है। दया करता है तो उड़ने की शक्ति भर कम कर देता है और दया नहीं करता तो छुरी से गर्दन रेत देता है। ऐसा कभी नहीं करता कि अधमरा करके छोड़ दे। आपकी दया ऐसी है कि न मरने में न जीने में। आपने दया यह की कि मारा नहीं। पर आपकी यह दया मारने से अधिक कष्ट दे रही है। मर जाना तो कहीं अच्छा होता। बहेलिया जिस पक्षी को पकड़ता है उसके पंख कतरकर रखता है या बिना पंख कतरे ही उसे दूसरे के हाथ बेचकर पैसे खड़े कर लेता है। यदि न बिका तो मारकर उसे खा ही जाता है। आप जो इस प्रकार की दया दिखाते हैं या पकड़ते तथा पक्षहीन करते हैं इसमें आपके किस स्वार्थ की सिद्धि होती है कुछ भी पता नहीं चलता। न अर्थ की सिद्धि, न उदर की पूर्ति और न लोकमान्यता ही कि इन्होंने बड़ा अच्छा शिकार किया। आपकी अंतरकथा की रहस्यात्मक वृत्ति है। वह गुप्त है, कुछ समझ में नहीं आती, दिखती नहीं। यदि कहा जाय कि पक्षी को स्वयम् सावधान रहना चाहिए, अपनी रक्षा कर लेनी चाहिए, उसे आकृष्ट ही न होना चाहिए तो भला वह बेचारा आशा के वृक्ष पर अपने प्राणों को कब तक टिकाए रहे, जब वह देखता है कि अत्यंत आनंददायिनी नई बनक (छटा; चारा) सामने आ इकट्ठी हुई है। पक्षी आकर्षक चारे को देखकर पेड़ पर बैठा नहीं रह सकता। निश्चय ही उसे प्राप्त करने के लिए टूट पड़ेगा। इस आसरे-भरोसे पर किसी का जी नहीं रुका रह सकता कि प्रिय स्वयम् प्रयत्नशील होगा। वह तो सौंदर्य को देखकर खिंच ही जाता है।

व्याख्या—अधिक० = जो सुजान हो उसे बहेलियों से भी बढ़कर अशिष्ट व्यवहार करना शोभन नहीं। बहेलिया न कहकर 'वधिक' शब्द रखा है। इससे वध करने के कार्य में तारतम्य दिखाते हैं। सामान्यतया बहेलिया किसी पक्षी को मार नहीं डालता। क्योंकि पक्षी का व्यापार उसे करना रहता है। यदि पक्षी मारकर लाने का ही काम सौंपा गया हो तो दूसरी बात है। आपके कार्य में 'वधिकता' उससे अधिक है। आप सुजान हैं, पर आपकी सुजानता इस वधिकता की रीति में ही बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है। वह कपट-चारा

डालता है, जाल के बीच में उसे रखता है। आप भी चारा (सौंदर्य) कपटवाला ही रखते हैं। आकृष्ट करने के समय अनुकूलता दिखाते हैं, फिर पराङ्मुखता। कपट-चारे के अनंतर वह ऐसी बुरी गत नहीं करता जैसी आप करते हैं। बहेलिया और कुछ करे चाहे न करे पर पकड़ लेने के अनंतर अधिक नहीं तो आधा पेट ही सही चारा देता रखता है, जब तक पक्षी को बेच न डाले या मारकर खा न जाए। आप तो सबसे पहले चारा ही बंद कर देते हैं। अपने सौंदर्य के दर्शन से ही रहित कर देते हैं। गुननि० =एक नहीं अनेक गुणों से पकड़ते हैं, छूटने का भी कोई अवसर नहीं मिलता। बहेलिया जाल में फँसाने के अनंतर जाल से पक्षी को पृथक् कर रखता है। आपके गुण तो उसे जकड़े ही रहते हैं। बहेलिया पंखों में लासा लगा देता है, पंख कतर देता है, ऐसा नहीं करता कि डैना ही निकाल दे। आप तो पक्ष से रहित ही कर देते हैं। कोई पक्ष नहीं रह जाता। जगत् के सारे अवलंब समाप्त हो जाते हैं। बहेलिया जिनके लासा लगाता है या पंख कतरता है उन्हें स्वतंत्र नहीं छोड़ देता, अपनी देख-रेख में रहता है आप तो निगाह ही फेर लेते हैं, फिर कभी देखते ही नहीं कि उसका क्या हुआ। यदि कोई कहे कि बहेलिया तो ऐसा नहीं करता, वह तो निर्दय होता है, प्रिय फिर भी दयाशील है, बंधन में वह नहीं रखता तो यही कह सकते हैं कि बलिहारी है आपकी दया की। बहेलिये की छुरी से भी वह बढ़कर है। उसकी छुरी उसके प्राण तुरंत ले लेती है। पर आप तो ऐसा कर देते हैं कि न मरने में न जीने में, बिस्मिल, अधमरे। इससे तो उसकी छुरी ही अच्छी। यह विषम नहीं, महा विषम है। विषमता तो यह कि मारने पर भी इससे मरे नहीं। अधिकता यह कि जीकर भी जीना बेकार है। जीकर भी भीषण वेदना सह रहे हैं। मरने से बढ़कर कष्ट भोग रहे हैं। बड़ी जहरीली छुरी है यह। हौं न० = मेरी समझ में तो नहीं आया कि स्वार्थ क्या है, हो सकता है कि आप समझते हों। हो = थी। कुछ बुद्धि से अनुमान करना पड़ता है और देखकर जानते हैं। बुद्धि से तो कुछ पता चलता नहीं। देखने में दिखाई भी नहीं पड़ता कि कोई स्वार्थ सधा। वह कोई छिपी बात है जो आपके अंतःकरण के भीतर है न कुछ दिखाई पड़ता है और न समझ में आता है। आप यदि कुछ दिखाने का प्रयास करते तो भी कदाचित् छिपी बात प्रकट हो जाती, पर वह भी नहीं।

अंतःकरण में भी बहुत भीतर कहीं छिपी है। कैसे० = कोई मार्ग मुझे तो नहीं जान पड़ता। भला अधिक आकर्षण पर कोई कब तक आकृष्ट न होगा। आशा का विस्तार भी वृक्ष की भाँति होता है। एक आशा से अनेक आशाएँ हो जाती हैं। पक्षी यदि खोते में ही बैठा रहे तो फिर उसका काम नहीं चलेगा। वह तो वृक्षादि पर भी बैठता है तो अपनी भूख की ही चिंता करता रहता है। 'खग' शब्द आकाश में विचरण करने के अर्थ में है। वृक्ष पर बैठे रहने के अर्थ में नहीं, जिससे उसकी प्रकृति वह समझी जाए। बसेरा भी मिले तो कैसे जब सामने ही खाद्य सामग्री—वह भी ललचानेवाली—दिखती हो। सौंदर्य में यही विशेषता होती है कि वह क्षण-क्षण में नया दिखाई देता है। वन का चारा भी स्थान-स्थान पर नया-नया मिलता है।

पाठांतर—मरहि —मरै न जियै सो। हौं—हो। या—वा। बनक—बानक, बानिक।

मेरो जीव तोहि चाहै तू न तनिकौ उमाहै,
मीन-जल-कथा है कि याहू तें बिसेखिये।
ता बिन सो मरै, छूटि परै जड़ कहा ढरै,
भरौ हौं, न मरौं जान, हिये अवरेखिये।
पलकौ बिछोह आगें कलपौ अलप लागै,
बिलपौं सदाई, नेकु तलफनि देखिये।
सूनो जग हेरौं रे अमोही, कहि काहि टेरौं,
आनँद के घन ऐसो कौन लेखे लेखिये॥ ६४॥

प्रकरण—विरही अपने कष्ट की तुलना करके बता रहा है कि यह सबसे अधिक है। विरह से मरने में मीन का उदाहरण प्रायः दिया जाता है। पर वह भी इसके सामने नहीं ठहरता। मेरे प्राण हे प्रिय, तुझे चाहते हैं, पर तू थोड़ा भी उत्साह नहीं दिखाता। मीन का प्रिय भी ऐसा है, पर उससे अंतर है। मीन तो मर जाता है, कष्टों से छूट जाता है, पर वह प्रिय जल फिर भी द्रवीभूत नहीं होता। मुझे तो कष्ट भोगना है, मरना नहीं है, प्रिय द्रवीभूत होगा इसकी आशा लगी है, क्योंकि यह चेतन है। क्षण के वियोग में मछली को कल्प नहीं जान पड़ता, मुझे लगता है। उसके लिए संसार सूना नहीं होता, मेरे लिए

है। इस प्रकार मछली से अंतर है मेरे विरह में। मेरी तो कोई गिनती ही नहीं है यदि प्रिय नहीं देखता।

चूर्णिका—तनकौ० = कुछ भी उमंग नहीं दिखाते। मीन० = मछली और जल की प्रीति की-सी स्थिति है (मछली जल के वियोग में मरती रहती है, पर वह कुछ भी विचलित नहीं होता)। बिसेखियै = बढ़कर। ता बिन = उस जल के बिना। सो = वह (मछली)। छूटि परै = कष्टों से छुट्टी पा लेता है, कष्ट के बंधन से छूट जाता है। जड़० = वह जड़ जल उस (मीन) पर द्रवीभूत ही कब होता है। भरौं० = मैं दिन व्यतीत कर रही हूँ। हिये० = अपने हृदय में विचार कीजिए। पलकौ = प्रिय के क्षण भर के वियोग के समक्ष एक कल्प भी छोटा लगता है। प्रिय को गए एक क्षण होने पर ऐसा लगता है कि एक कल्प से अधिक समय व्यतीत हो गया। बिललपौं० = मैं निरंतर विलाप करती हूँ। नेकु० = कुछ मेरी तड़पन तो देखिए। सूनो० = आपके बिना सारा संसार सूना दिखता है। कहि० = कहो किसे पुकारूँ। ऐसी० = ऐसी रहन किस गिनती में गिनी जाए (इस प्रकार जीना निरर्थक है)।

तिलक—हे निर्मोही, मेरा जी केवल तुझे चाहता है, फिर भी तुझमें मेरे प्रति कुछ भी उत्साह नहीं दिखाई देता। मेरी यह स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही है जैसी मछली और जल की होती है। मछली केवल जल को चाहती है, पर जल उसके इस प्रेम की चिंता नहीं करता उसके जल से वियुक्त होकर तड़पने पर वह उसकी रक्षा करने में प्रवृत्त नहीं होता। जहाँ का तहाँ स्थिर रहता है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरी स्थिति मछली-जल की स्थिति से भी कहीं बढ़कर है। मछली को उतना कष्ट नहीं उठाना पड़ता जितना कष्ट मुझे उठाना पड़ रहा है। जल से वियुक्त होकर मछली तुरन्त मर जाती है और प्रिय के वियोग में जो विरह होता है उसके कष्ट से छुट्टी पा लेती है। उसका प्रिय जड़ है इसलिए न तो वह विरह में द्रवीभूत होता है और न उसके मर जाने के अनंतर ही। मैं प्रिय के वियोग में अपने दिन कष्ट में काटती रहती हूँ, कष्ट से छुटकारा नहीं मिलता। मैं विरह में मरती नहीं। मेरा प्रिय जड़ न होकर चेतन है, चेतनों में भी सुजान है। हे सुजान, इस स्थिति का हृदय से कुछ तो विचार कीजिए। आपके एक पल के वियोग के समक्ष एक कल्प भी छोटा जान पड़ता है। आपके वियोग का एक क्षण भी शीघ्र बीतता नहीं।

मैं आपके वियोग में निरंतर तड़पती रहती हूँ। आप और अधिक कुछ न करें तो कृपापूर्वक इतना अवश्य करें कि मेरी इस तड़पन को आकर देख लें। आपके देख लेने मात्र से मुझे अत्यधिक सांत्वना मिल जाएगी। मुझे सारा संसार सूना दिखाई देता है। आपका जहाँ अस्तित्व है वहीं मैं सूनापन नहीं देखती। आपकी सत्ता से ही मेरे लिए यह जगत् सत्तावान् है, अन्यथा मिथ्या है। जब मुझे कोई दिखाई ही नहीं देता, सर्वत्र सूना ही है, तो मैं किसे पुकारूँ। हे आनंद के बादल, मेरे लिये आपके वियोग के कारण न जगत् की ही सत्ता है और न अपनी ही। हाँ, यदि आपकी उन्मुखता या मिलन प्राप्त हो जाए तभी मेरी भी सत्ता है। आपके वियोग के कारण तो मैं किसी गिनती में नहीं। जैसे मेरा होना वैसे न होना।

व्याख्या—मेरो० = मैं वचन से नहीं अंतःकरण से तुझे ही चाहती हूँ। मन, वचन, कर्म से सर्वात्मना तुझे ही चाहती हूँ। तू फिर भी तनिक उमंग नहीं दिखाता, यहाँ सब कुछ अर्पित और वहाँ थोड़ी-सी भी उन्मुखता नहीं। मेरे लिए तू ही सब कुछ और तेरे लिए मैं कुछ भी नहीं। कैसी विषमता है। मीन और जल की-सी स्थिति है। ऐसा कहते हुए एक का चाहना और दूसरे का न चाहना ध्यान में था। पर जब यह स्थिति सामने आई कि मीन में विरह सहने की शक्ति नहीं और जल जड़ है तो कहना पड़ा कि उससे बढ़-कर मेरी कथा है। मैं विरह में मरती नहीं, उसे सहती हूँ और तेरे पराङ्मुख होने पर भी तुझे ही चाहती हूँ। साथ ही मीन का प्रिय जड़ है, मेरा प्रिय चेतन है। जड़ पर कभी प्रभाव नहीं डाला जा सकता, पर चेतन के प्रभावित होने की संभावना है। ता बिन० = मीन और जल की स्थिति क्यों नहीं है, इसके लिए कहा जा रहा है कि उस जल के बिना मीन मर जाता है, उसे सभी वेदनाओं से छुट्टी मिल जाती है। फिर भी वह जड़ द्रव होकर भी द्रवीभूत नहीं होता। जो तीन बातें मछली-जल के सम्बन्ध में हैं उन्हीं के क्रम से अपने लिए कहा है कि वह मरती है, मैं न मरकर वेदना सह रही हूँ, मरकर वेदना पाने की छुट्टी नहीं है। वह जड़ है, अज्ञान है और मेरा प्रिय सुजान-सज्ञान, अधिकाधिक ज्ञान-सम्पन्न है। प्रिय के हृदय है, अंतः-करण है, वह विचार कर सकता है, उसके द्रवीभूत होने की सम्भावना है। इसी से उससे प्रार्थना की जाती है कि विचार कीजिए। पलको० = भक्तों में

श्रीकृष्ण और गोपिकाओं को लेकर चार प्रकार के वियोग माने गए हैं— देशांतर, वनांतर, पलकांतर, प्रत्यक्ष। इनमें से पलकांतर वियोग वह है जिसमें पलक गिरने में जितना समय लगता है उतने समय तक का प्रिय का वियोग भी सह्य नहीं होता। इस* पलकांतर विरह के समक्ष एक कल्प भी छोटा होता है। उतने में ही इससे अधिक विरह माना जाता है। एक कल्प सौ चतुर्युगी का होता है। एक चतुर्युगी में चारो युग आते हैं। जब पल भर का वियोग भी सहने की स्थिति नहीं है तब निरन्तर विलाप करने के अतिरिक्त चारा ही क्या है। आप और कुछ न करें, आप अपनी कुतूहलवृत्ति को ही शांत करने के लिए आकर मेरी तड़पन का तमाशा ही थोड़ी देर के लिए देख जाइए। हो सकता है उससे कुछ आप प्रभावित हो जाएँ। सू०नौ० = सारा संसार मेरे लिए शून्य है और सारे संसार के लिए मेरा कोई महत्त्व नहीं है। न संसार में अन्य किसी को मैंने चाहा, न और कोई मुझे चाह ही सकता है। इतने पर भी मैं जिसकी मोही हूँ, वह अमोही भी हो तो पुकार तो उसीसे की जा सकती है। यदि तू आनंद का घन होकर मुझ चातक की पुकार नहीं सुनता तो मेरी गिनती जगत् में किसी प्रकार नहीं हो सकती, मेरा जन्म लेना और तेरे विरह में रहना सार्थक तभी है जब मैं तुझे अपनी पुकार से आकृष्ट कर सकूँ।

मुरझाने सबै अंग, रह्यौ न तनक रंग
बैरी सु अनंग पीर पारै जरि गयौ ना।
इते पै बसंत सो सहायक समीप थाके,
महा मतवारो कहूँ काहू तें जु नयौ ना।
तीखे नये नीके जी के गाहक सरनि लै लै,
बेधे मन कों कपूत पिता-मोह-मयौ ना।
पवन-गवन-संग प्राननि पठायहौं तौ,
जान घनआनँद को आवन जो भयौ ना ॥६५॥

प्रकरण—प्रिय परदेश में है और वसंत का समय आ गया। विरही को संयोग में सुखद ऋतुएँ भी दुःखदायिनी हो जाती हैं वह अपनी स्थिति बतला

* देखिए नंददास कृत विरहमंजरी।

रहा है कि वसंत के आने से काम भी आ गया है, क्योंकि यह उसका सहायक है। कामदेव वसंत का सहायक है अथवा वसंत कामदेव का सहायक है यह विवाद का विषय नहीं। दोनो में पारस्परिक सख्यता की स्थिति है। यह नए वाण लेकर मन को कष्ट देता है। ऐसे मन को जो उसका पिता है। जो सामाजिक औचित्य का पालन स्वयम् नहीं कर रहा है, परिवार में ही नहीं कर रहा है, वह मेरे साथ न जाने कैसा अनुचित व्यवहार करे, इसलिए मैंने तो यह निश्चय किया है कि यदि प्रिय नहीं आए तो अपने प्राणों को वसंत की वायु के साथ ही उनके पास भेज देंगी, जिससे इन प्राणों की काम कहीं अप्रतिष्ठा न कर बैठे।

चूर्णिका—मुरझाने = मूछित या शिथिल हो गए। रह्यौ० = शरीर में स्वाभाविक कांति थोड़ी भी न रही। सु = (सो) वह। पोर० = पीड़ा डालता है, वेदना उत्पन्न करता है। जरि० = अभी काम भस्म कहाँ हुआ (यह कहना कि शिव ने उसे जला डाला ठीक नहीं, ऐसा होता तो वह मुर्दा मुझे कष्ट क्या देता)। इते० = इतने पर भी। कहूँ० = यह कहना कि वह भस्म हो गया दूर की बात है, वह तो कहीं किसी से पराजित ही नहीं हुआ। तीखे = तीक्ष्ण चोखे। नए = नवीन। नीके = अच्छे (अच्छी मार करनेवाले) जी के० = प्राणों के ग्राहक, शीघ्र ही प्राण लेनेवाले। सरनि० = बाण ले लेकर। बेधै० = यह कपूत अपने पिता को ही बेधता रहता है। काम 'मनोज' नामधारी है, मन से उत्पन्न हुआ है। मन उसका जनक है। पिता० = पिता की मोह-ममता इसमें कहाँ है। मोह-मयौ=मोहमय, मोह से युक्त, ममता से संयुक्त। पवन०= प्रिय की ओर जानेवाली वायु के साथ अपने प्राणों को भी भेज दूँगी ('प्राण' का अर्थ 'वायु' है, प्राण एक प्रकार की वायु ही तो है)। जान० = यदि आनंद के बादल सुजान यहाँ नहीं आए।

तिलक—विरही अपने किसी साथी-सखा से कह रहा है। मुझे अनंग (काम) कष्ट दे रहा है। अनंग के प्रभाव से अंग शिथिल हैं, उनमें रंग नहीं रहा। यह अपने सहायक वसंत को लाया है। यह अत्यंत मतवाला है। कभी किसी से झुका नहीं। यह कहना ठीक नहीं कि यह शिव के कोपानल में भस्म हो गया। यह अब तक मुझे पीड़ित कर रहा है। कुसुमाकर से एक से एक चढ़बढ़कर बाण लेता है और अपने पिता मन पर ही प्रहार करता है।

इसलिए यदि ऐसी परिस्थिति में प्रिय नहीं आते तो वसंत की वायु चलने के साथ ही प्राण दे देना श्रेयस्कर है।

व्याख्या—मुरझाने० = सभी अंग मुरझाए हैं, कोई अंग भी यदि शेष रहता तो भी काम चलता रहता। उसमें थोड़ा भी रंग नहीं है। 'रंग' का अर्थ वर्ण और आनंद या हर्ष दोनो है। न वर्ण इसका पूर्ववत् है और न हर्ष ही रह गया है। मुरझाने पर फिर हरा-भरा होना कठिन है। रंग थोड़ा भी रह जाए तो उसे बचाए रखा जा सकता है या कुछ बढ़ाया भी जा सकता है। यह संभावना भी गई। शत्रुता का व्यवहार न करता होता तो भी बचने का उपाय था। जलने की चर्चा क्या है, वह झुलसा भी नहीं है, अन्यथा स्वयम् कष्ट में होने से दूसरे को कष्ट देने की स्थिति में वह न होता और कष्ट की अनुभूति के कारण दूसरे के कष्ट की कुछ समानुभूति भी संभव थी। पर वैसा नहीं है। 'पीर' उसके द्वारा गिराई जा रही है, इससे अंग भी 'पीरे' हो गए हैं। इते पै० = एक तो यह स्वयम् शत्रुता ठाने हुए है, दूसरे इसे सहायक वसंत मिला है, जो विरहियों को स्वयम् कष्ट देनेवाला है। कोई स्वयम् अच्छा योद्धा हो और उसका सेनापति भी विख्यात योद्धा हो तो फिर क्या कहना है। वसंत स्वयम् ऋतुओं का राजा है। फिर सेनापति या सहायक किसी से दूर रहे तो उसका कार्य वैसा नहीं सधता। पर इसका सहायक इसके समीप रहता है, इसे छोड़ता नहीं। इस अनंग का अंग-रक्षक ही बना है। अपनी शक्ति से कोई मतवाला होता है, स्वयम् नशा पीकर मत्त होने की भाँति, और यदि सहायक भी शक्तिमान् हो तो वह महा मतवाला हो जाता है। महादेव से पराजित होने की कथा प्रमाद मात्र है। यह कभी किसी से झुका तक नहीं। पराजित होना, भस्म होना तो बहुत दूर की बात है। वसंत सज्जनों को भी मत्त कर देनेवाला है, फिर उसने इसको तो महामत्त कर दिया है, किसी से झुकने की स्थिति न आने से इसकी मत्तता कम नहीं हुई। तीखे० = महामत्त हो जाने पर व्यक्ति उचित-अनुचित का विचार छोड़ देता है। इसने भी ऐसा ही किया है। अपने पिता पर भी इसे दया नहीं है, श्रद्धा और आदर तो बहुत दूर हैं। यह तीखे अर्थात् जो बाण पहले के हैं, पर जिनमें तीखापन है उन्हें लेकर, दूसरे नए जो अभी तक कभी चलाए ही नहीं गए हैं उन्हें लेकर और उनमें से अच्छी मार करनेवाले बाण लेकर।

नए बाण भी हों पर जिनकी शक्ति का पता नहीं है, पर यदि वे अच्छी मार करते हैं तो उनमें केवल नवीनता ही नहीं, कुछ और विशेषता भी है। बाण जो केवल चोट करके या गहरा आघात करके ही रह जानेवाले नहीं, प्राणों को तुरंत ले लेनेवाले हैं। एक ही नहीं एक के अनंतर दूसरा, दूसरे के अनंतर तीसरा, बार-बार बाणों को लेकर पिता को मारता रहता है। पिता के प्रति कोई क्रुद्ध हो जाए यही अनुचित है, यह तो मारता ही नहीं ऐसे मारता है कि प्राण ही निकल जाते हैं। ऐसा कपूत तो कहीं सुना भी नहीं गया। पवन० = जो अपने पिता पर ही ऐसी क्रूरता दिखा रहा है वह न जाने क्या उपद्रव करे। इसलिए यदि आनंद के घन अथवा घना आनंद देनेवाले सुजान प्रिय नहीं आते हैं तो अब प्राणों को वायु के साथ भेज देना ही है। अकेले प्राण जाएँ तो उनसे अनुचित छेड़छाड़ कर सकता है। इसी से पवन के साथ उन्हें भेज देना है। दोनो प्राण और पवन सजातीय भी हैं। प्रिय के पास वे पवन के साथ पहुँच जाएँगे।

पाठांतर—पारै-पावै। तें जु-नेकु। तीखे-जीए (जीवंत, जाग्रत्)।

(सवैया)

निस-द्यौस खरी उर-माँझ अरी, छबि रंग-भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यौं चख ढोर रहे, ढरि गौ हिय ढोरनि बाहन की।
चटि दै कटि पै बटि प्रान गए गति सों मति मैं अवगाहनि की।
घनआनँद जान लखी जब तें जक लागियै मोहिं कराहनि की॥६६॥

प्रकरण—प्रिय के प्रत्यक्ष दर्शन पर उनकी सौंदर्य की मुद्राओं ने प्रेमी पर क्या प्रभाव डाला और उसे क्या अनुभूति हुई इसी का वर्णन वह अपने सखा से कर रहा है। प्रिय ने उसे मुड़कर देखा है। उस छटा का ऐसा प्रभाव है कि निरंतर उसी का वह ध्यान करता है। प्रिय ने मुड़कर देखा, फिर देखकर मुड़ गए। उस छटा की ओर नेत्र देखने लगे और नेत्रों की दृष्टि के द्वारा हृदय वहाँ चला गया। हृदय को आते देखा तो प्रिय उस हृदय-प्रवाह से बचकर निकले और बुद्धि में डुबकी साधकर बैठ गए। फल यह है कि जब से प्रिय के दर्शन हुए हैं कराहने की धुन लग गई है।

चूर्णिका—निस० = रातोदिन, बराबर। खरी = उत्कृष्ट (छबि)। उर० = हृदय में अड़ी है। रंगभरी = वर्ण की दीप्ति से युक्त। मुरि० = जाते

हुए मुड़कर देखने की छटा। निस-द्यौस० = प्रिय ने जाते हुए मुड़कर मेरी ओर देखा। उस समय की उसकी आनंददायिनी और उत्कृष्ट छबि हृदय में निरंतर अड़ी-डटी रहती है। तकि० = देखकर मुड़ जाना। त्यौं = उसी प्रकार। चख = नेत्र। ढोर रहे = पीछे हो लिए, साथ लगे। ढरि गौ = ढल गया। ढौरनि = ढर्रे पर। ढाह्नि = जल के प्रवाह के ढंग से। ताकि० = जिस प्रकार उनके मुड़कर देखने की छबि मन में छाई है उसी प्रकार देखकर जब वे मुड़े तो नेत्र उस छटा के पीछे लगे। नेत्र और छबि तक जो दृष्टि की नली-सी बँधी थी उस नली से हृदय उसी प्रकार बहकर उनसे जा मिला जिस प्रकार प्रणाली से पानी ढलकर गंतव्य तक पहुँचता है। चटि दै = शीघ्रता करके। बटि गए = रस्सी जैसे लड़ें मिलाते समय चक्कर खाती है। प्रान = प्रिय। कटि दं० = कमर को शीघ्रता देते हुए, शीघ्रता से कमर को मोड़ते हुए प्रिय ने ऐसे चक्कर काटा जैसे बटी जाती हुई रस्सी चक्कर खाती है। प्रान० = प्रिय निकल गए, बचकर चले गए। गति सौं० = मुद्रा से। मति में = बुद्धि में डुबकी लगाने की मुद्रा से। गति सौं० = कमर को फुरती से घुमाकर कूदने की मुद्रा में प्रिय बुद्धि को थहाते हुए निकल गए। जक० = धुन। घनआनंद० = घना आनंद देनेवाले सुजान को जब से देखा है तब से कराहने की रट लगी हुई है।

तिलक—प्रिय ने जो मुड़कर मेरी ओर देखा तो उसकी आनंददायिनी उत्तम छटा तभी से रातोदिन हृदय में डटी हुई है। केवल यही नहीं प्रत्युत प्रिय जब मुझे देखकर मुड़े तो उनकी इस छटा को देखते रहने के लिए नेत्र उनके पीछे हो लिये। नेत्र और छबि में जो दृष्टि का सूत्र बँधा तो वह नली के समान हो गया। उस नली से हृदय द्रवीभूत होकर वैसे बहकर प्रिय से जा मिला जैसे किसी नली से प्रवाहित जल गंतव्य स्थान तक जाता है। प्रिय ने नेत्र के मार्ग से हृदय के प्रवाह को आते देखा तो उससे बचने के विचार से वे अपनी कमर को घुमाते हुए और चक्कर देते हुए कूदने की-सी मुद्रा में निकल गए। इस प्रकार जाते हुए भी वे मेरी बुद्धि को थहाते से गये, उसमें डुबकी मारते हुए निकल गये। उनकी वह मुद्रा भी मन में बसी है। जब से घन-आनंद-दायक सुजान को देखा है तभी से इन छटाओं के कारण मुझे कराहने की धुन सी लगी है।

व्याख्या—निस० = रात पहले और दिन पीछे है। प्रिय के दर्शन रात में हुए होंगे। 'खरी' विशेषण 'अरी' का भी हो सकता है और 'छबि' का भी। हृदय में अड़ी है जैसे बाँकी तिरछी वस्तु किसी पात्र में रुक जाती है। छबि भी तो बाँकी है। रंग-भरी० = यह अनेक रंगों से भरी छबि (चित्र) है। वह अनेक प्रकार के हर्ष उत्पन्न करनेवाली है। प्रत्येक रंग हर्ष उत्पन्न करनेवाला है। प्रिय देख रहे थे। दूसरी ओर, उन्होंने मुड़कर देखा। इस प्रकार उनमें मुझे देखने का प्रयत्न लक्षित होता था। तकि० = ध्यान से देखते हुए तब मुड़े। उस मुड़ने में भी वही छटा थी, वहाँ भी प्रेम के संकेत थे। इसी से नेत्र उनकी ओर देखते ही नहीं रह गए उनके मुड़ने के साथ-साथ वे भी मुड़ते गए। उनकी उस मुद्रा को ध्यान से देखते रहे। हृदय नेत्र-नली से वहाँ पहुँचा है। मेरे नेत्रों ने बाण का काम नहीं किया, मार्ग का कार्य किया। हृदय में द्रुति थी वह द्रव भी हुआ। हृदय के जाने में देर भी नहीं लगी और नली या नाली से जाने में गंतव्य पर पहुँच भी गया, बिना किसी बाधा के। चटि दै० = प्रिय ने हृदय का प्रवाह या बचने की मुद्रा दिखाई या वे उस प्रवाह में कूदकर उससे निकले। उन्होंने कमर पर बल देकर चक्कर काटा और मुद्रा से उन्होंने बुद्धि में गोता लगाया। प्रिय चाहे उस प्रवाह से निकल भागने वाले रहे हों चाहे उस प्रवाह में तैरने वाले पर उन्होंने मेरी बुद्धि में डुबकी अवश्य लगाई, उन्होंने थहाया बुद्धि को, वे उसी में समा से गए। कमर पर बल देने आदि से 'सुजान' के नृत्य की मुद्रा की ओर भी संकेत हो सकता है। घनआनंद० = प्रिय की वे अत्यन्त आनंददायिनी मुद्राएँ थीं। उनका प्रभाव हृदय पर ऐसा है कि कराहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। मुड़कर देखने में नेत्र-बाण की चोट, देखकर मुड़ने में तलवार की चोट। कमर पर बल देकर कूदने में भाले की-सी चोट जो कलेजे में डूब जाता है। प्रिय का प्रथम दर्शन ही जान पड़ता है।

पाठांतर—ढोर–ठौर; कौर। ढेरनि–एरनि। बटि–बढ़ि; बट।

किहि नेह बिरोध बढ़्यो सबसों उर आवत कौन के लाज गई।
जिहिके भरि भार पहार दबे, जग-मांझ, भई तिनतें हरई।
दृग काहि लगे जु कहूँ न लगैं, मन-मानिक ही अनखानि ठई।
घनआनंद जान अजौं नहिं जानत कैसे अनैसे हैं हाय दई ॥६७॥

प्रकरण—प्रिय के प्रेम के कारण प्रेमी की कैसी स्थिति जगत् में हुई है और उसके कारण उसे कौन-कौन से कष्ट झेलने पड़े तथा किन-किन झमेलों-बखेड़ों में पड़ना पड़ा इसका उल्लेख कर वह कहता है कि इतने पर भी प्रिय ने मुझे नहीं समझा, मेरे प्रेम पर ध्यान नहीं दिया। उनके प्रेम के कारण सबसे विरोध हो गया। उन्हें हृदय में लाने से लोकलज्जा का परित्याग करना पड़ा। जिनके कारण अपवादों के पहाड़ दबते हैं उनके कारण यह हलकापन। नेत्र उनसे ऐसे लगे कि कहीं नहीं लगते। मन में भी दूसरी स्थिति है। वह अनख मानता रहता है सबसे। सुजान होकर नहीं जानते। हे ईश्वर, तू ही देख।

चूर्णिका—किहि० = किसके प्रेम के कारण। उर० = मन में आते हो। जिहि० = जिसके भार अर्थात् बोझ या गुण से भरकर अर्थात् युक्त होकर पहाड़ दबते हैं। जिनकी महत्ता का विचार करके दुःखों या अपवादों के पहाड़ों को मैं कुछ भी नहीं समझती। हरई = लघुता, हलकापन। जग० = संसार में उन्हीं के कारण मैं हलकी हो गई। काहि = किससे। जु = जो, कि। मन० = मनरूपी माणिक। अनखानि० = (मन) रूठ गया, चिढ़ने की ठान ली, अन + खानि, माणिक खान से पृथक् या बाहर हो गया। अजौं = अब भी, इतने पर भी। नहिं० = मेरी व्यथा नहीं समझते, मेरी ओर प्रवृत्त नहीं होते। अनैसे = अनिष्ट, बुरे (विलक्षण)।

तिलक—हे ईश्वर, सारे संसार से मेरा विरोध प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है, यह किससे प्रेम करने के कारण? प्रिय के ही प्रेम ने तो सबसे विरोध बढ़ा दिया। मुझे लोकलज्जा छोड़नी क्यों पड़ी, अपना कोई प्रयोजन तो था नहीं, प्रिय के हृदय में आते ही लज्जा का परित्याग करना पड़ा। इस विरोध और अलज्जा का फल यह है कि संसार में मेरा हलकापन हो रहा है। दुःख है कि जिनके महत्त्व का भार इतना अधिक है कि वह पहाड़ों को भी अपने बोझ से दबा देता है उन्हें हलका सिद्ध कर देता है, जिनके महत्त्व के कारण मैं दुःख के पहाड़ों या अपवाद के पर्वतों को कुछ नहीं समझती, उनका महत्त्व मेरे हृदय में रहते हुए मुझे इस प्रकार हलका होना पड़ रहा है। मेरे नेत्र किसी से लगे, प्रिय को छोड़कर किसी और से नहीं लगे। नेत्रों के लगने का परिणाम यह हुआ कि वे कहीं नहीं लगते। कोई वस्तु सुहाती नहीं। मनमानिक भी उसी

कारण बदल गया है। जिस माणिक को देखकर लोग आकर्षित होते थे उसी को अब वे कौड़ी-मोल का समझ रहे हैं। मन मेल की वस्तु है पर उससे विरोध हो रहा हैं, रूठने की क्रिया हो रही है। वे अति आनंदवाले सुजान मेरी यह बुरी गति होने पर भी नहीं जानते कि मैं किसके लिए इतने कष्ट भोग रहा हूँ। वे कैसे बुरे हैं, विलक्षण हैं, इसका दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता है।

व्याख्या—किहि० = नेह से अपनापन बढ़ता है। प्रिय के स्नेह का परिणाम दूसरों से विरोध हुआ। यों तो जगत् में विरोध होता है, पर इनके स्नेह के कारण वह बढ़ा-चढ़ा प्रचंड हुआ। फिर विरोध सबसे नहीं होता, पर इसके कारण सबसे हो गया। उर० = कोई आता है, तो दूसरा चला ही जाए ऐसा नहीं होता। प्रिय के आते ही लज्जा तक चली गई। हृदय में केवल प्रिय रहे और किसी के रहने को स्थान नहीं रह गया। प्रेम प्रिय के दर्शन से हुआ, वे तब तक हृदय में नहीं आये थे। जब हृदय में समा गए, वे ही वहाँ रह गये तो लज्जा भी चली गई। जिहि० = जिसके गुरुत्व की विशेषता पहाड़ों को दबाने में है उसने मेरा सामान्य बोझ भी कम कर दिया। मेरा हलकापन यदि मुझ तक ही रहता तो भी कोई बात थी, वह संसार में ज्ञात है। सब लोग इसे जान गए। प्रिय के हृदय में रहने से गुरुत्व होना चाहिए वह नहीं हुआ। दृग० = 'नेत्र कहीं नहीं लगते' में दो स्थितियों की ओर संकेत है—नेत्र नहीं लगते, निद्रा नहीं लगती; नेत्र कहीं नहीं लगते, कोई वस्तु देखने में सुहाती नहीं। नेत्र में प्रिय ही बसा है इससे न निद्रा आती है न और वस्तु। मन० = माणिक बहुमूल्य होता है। पर न जाने क्या हुआ कि वह खानिवाला नहीं समझा जाता। उसका महत्त्व कम हो गया। मन में अनख ही अनख की स्थिति हैं। मन में भी वह महत्त्व नहीं रहा। वह अनख करता और पाता है। घनआनँद० = किसी के इष्ट या अनिष्टकारक होने के प्रमाण उसके संसर्ग और कार्य से प्रकट होते हैं। प्रिय के प्रेम से विरोध, उसके ध्यान से निर्लज्जता, हलकापन, उन्निद्रता और दृष्टिहीनता की स्थिति, मन की हानि से न जाने कितने अनिष्ट हुए। इससे वे साधारण अनैसे नहीं हैं; भारी अनैसे हैं, केवल अनिष्ट ही अनिष्ट हो रहा है इतने अनिष्टों पर भी वे नहीं जानते कि उन्हीं के कारण मेरा क्या विनाश हुआ, कहलाते हैं सुजान! हे ईश्वर, अब तू ही देख-समझ और निवारण का मार्ग निकाल।

पाठांतर—किहि–कित। नेह–वेह। जिहि–कित। मानिक हा–मानिक हा। ठई–छई। हैं–हौ।

इत बाँट परी सुधि, रावरे भूलनि कैसें उराहनो दीजियै जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू।
घनआनँद जीवन-प्रान सुजान, तिहारियै बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्हैं चाड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजियै जू॥६८॥

प्रकरण—प्रेमी कहता है कि प्रिय ने मेरे प्रति जो व्यवहार किया है वह मेरे भाग्य के कारण है। मेरे भाग में कुछ और उसके भाग में विधाता ने कुछ लिखा है मेरे भाग में जो है उसे मैं मानता हूँ। प्रिय के प्रतिकूल व्यवहार पर भी मुझे प्रतिकूल आचरण नहीं करना है। प्रिय चाहे अनुकूलता न भी दिखाए पर प्रेमी सदा उसकी मंगल-कामना ही करेगा। यह प्रेम की वह दिव्य भूमि है जिसमें पहुँचकर प्रेमी प्रिय के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, प्रिय चाहे जैसा हो, जहाँ हो, सुखी रहे।

चूर्णिका—इत० = मेरे हिस्से में तो आपको सुध करना आया है। रावरे० = आपके हिस्से में मुझे भूल जाना पड़ा है। कैसें० = उलाहना दूँ भी तो कैसे दूँ (जिसके हिस्से में जो पड़ा है वह उसे भोग रहा है)। सीस० = जो मेरे हिस्से पड़ा है उसे मैंने शिरोधार्य कर लिया। इसके विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। मन० = आपके भी मन में जो भाए उसे आप ही करें। तिहारियै० = मुझे जीना है तो आपकी चर्चा करके ही जीना है। चाड़ = प्रबल इच्छा, उत्कट इच्छा, उत्कंठा। नित० = आपको तो मेरी उत्कंठा है नहीं, पर मुझे फिर भी आपकी ही मंगल-कामना करनी है।

तिलक—हे सुजान प्रिय, मेरे बाँटे आपकी सुध करना और आपके बाँटे मुझे भूलना पड़ा है। इसलिए आप मुझे क्यों भूल गए यह उलाहना कैसे दूँ। जो जिसके बाँटे आया वह उसके अनुसार आचरण कर रहा है। मैंने पहले कदाचित् भूल या भ्रम से कभी उलाहना दिया भी हो पर अब तो मैंने सब सिर-माथे रख लिया है, सब स्वीकार कर लिया है। आपके हिस्से में भूलना ही आया है तो आप वह करें, मेरा विरोध नहीं। प्रत्युत आपके मन में जो कुछ रुचे वह सब आप करें। पर मुझे इसके प्रतिवाद में कुछ भी कहीं करना है। आप मेरे लिए आनन्दघन हैं और प्राणों के भी प्राण हैं। मेरा जीवन तो केवल

आपकी चर्चा करने पर आश्रित है। आपकी बातें ही मुझे जिला रही हैं। जब आपके कारण मेरा जीवन है तब आपके सम्बन्ध में मेरी वृत्ति यह है कि आपको चाहे मेरी उत्कंठा कुछ भी न हो (उपर्युक्त कारण से हो भी कैसे सकती है), पर मैं तो यही मंगल-कामना करता हूँ कि आप चाहे जहाँ भी रहें अच्छे रहें। आपकी मंगल-कामना करनेवालों में मेरी भी गणना है और रहेगी।

व्याख्या—लि॰ = भाग्य का लेखा-जोखा अनिवार्य होता है। प्राक्तन कर्मों से उसका सम्बन्ध है। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीन प्रकार के कर्म होते हैं। इनमें से संचित और प्रारब्ध प्राक्तन कर्म होते हैं। संचित प्राक्तन कर्मों से किसी की परिस्थिति बनती है और प्रारब्ध कर्म उसके भाग्य के रूप में होते हैं जिन्हें उसे भोगना पड़ता है। क्रियमाण कर्मों से अपने जीवन में वह परिवर्तन करने में समर्थ हो सकता है। जब मेरे प्रारब्ध कर्मों के भोग के रूप में मुझे आपकी सुध करनी है और आपके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार आपको मुझे भूलना ही भूलना है तब यह अनिवार्य परिस्थिति है, इसमें आप दोषी नहीं हैं। आपके प्राक्तन कर्म और उन कर्मों के अनुसार प्रारब्ध का निर्माण करनेवाला विधाता दोषी है। मुझमें सुध करना प्रकृतिस्थ है और आपमें मुझे भूल जाना। 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' के अनुसार वह सबको शिरोधार्य होता है। उलाहना न आपको दिया जा सकता है और न मुझे ही कोई उलाहना दे सकता है। जिसने भाग्य बनाया, बँटवारा किया उसे भी क्या उलाहना दिया जाय। वह भी अनिवार्य रूप में ऐसा करने को विवश था। अब॰ = पहले कुछ ऐसा अवश्य था कि उलाहना देने की इच्छा होती थी, पर अब परिस्थिति को भली-भाँति हृदयंगम कर लेने पर यह इच्छा भी नहीं रही। उसकी वास्तविकता जो समझ में आ गई। पहले शिरोधार्य करने या स्वीकार करने में हिचक थी, अब सब कुछ शिरोधार्य करने की वृत्ति है। यहाँ तक कि भूलने के अतिरिक्त आपको और भी जो कुछ रुचे आप सब करें, मुझे सब मान्य होगा। आपकी रुचि ही अब मेरी रुचि है। आपकी मनमानी भी अब मुझे विचलित नहीं कर सकती। पर मनमानी करने की छूट आपको ही है, मैं मनमानी नहीं करूँगा। घन॰ = आप ही जब आनन्द देनेवाले हैं तो आपके द्वारा प्राप्त दुःख को कैसे अस्वीकार करूँ। बिहारी ने कहा ही है—जापै सुख चाहत लियो ताके दुखहि न फेरि। जब आप ही की चर्चा करके मुझे जीना भी है, जीने का और कोई हेतु नहीं,

आपकी चर्चा करना ही मात्र है ऐसी स्थिति में आप मेरे जीवन के प्राण हैं। आप ही मुझे जिला रहे हैं। जो जीवन बनाए रखनेवाला है यदि उससे कष्ट भी मिले तो सकारना ही पड़ता है। नित०=आप ही आनन्द देते और जिलाते हैं। मुझे नित आनन्द और जीवन मिले इसलिए मैं यही चाहता हूँ कि आप नित्य अच्छे भले-चंगे रहें। मेरी ओर उन्मुख होने की ही नहीं, हो सकता है कि मुझसे मंगल-कामना की भी उत्कंठा आपको न हो फिर भी मैं आपकी मंगल-कामना करूँगा। आपसे सुख पानेवाले तो आशीर्वाद देते ही हैं। आपके द्वारा दुःख पानेवाले मुझ से भी आशीर्वाद ही आपके लिए है। मेरे प्रेम को चाहे न स्वीकार करें पर मेरी मंगल-कामना तो स्वीकार कर ही लें।

पाठांतर—हमारियौ–हमारिहू।

बधिकौ सुधि लेत सुन्यौ हति कै गति रावरी क्यौंहूँ न बूझि परै।
मति आवरी बावरी ह्वै जकि जाय उपाय कहूँ किन सूझि परै।
घनआनँद यौं अपनाय तजौ इन सोचनि ही मन मूझि परै।
दिनरैन सुजान-बियोग के बान सहै जिय पापी न जूझि परै॥६९॥

प्रकरण—विरहिणी वियोग का कष्ट झेल रही है और प्रिय से निवेदन कर रही है कि आपने पहले मुझे अपनाया और अब परित्यक्त कर दिया इसी सोच में मैं मर रही हूँ। वधिक भी मारने पर कम से कम विद्ध जीव के शव की खोज भी करता है। पर आपने वह भी नहीं किया। मुझे इस कष्ट से उबरने का मार्ग नहीं सूझता। मेरे पापी प्राण भी वियोग के बाण सहते रहते हैं, निकलते नहीं।

चूर्णिका—बधिकौ=वधिक (व्याध) भी। बधिकौ०=वधिक भी (जिसका नित्य का कार्य जीवहत्या ही है वह भी) मारने पर सुध लेता है। इस प्रकार नहीं भुला देता जिस प्रकार आप भुला रहे हैं। गति=आपकी चाल, आपका आचरण तो किसी प्रकार समझ में नहीं आता। आवरी=व्याकुल। मति०=बुद्धि व्याकुल और बावली होकर स्तब्ध हो जाती है, उसे किसी प्रकार भी कोई उपाय नहीं सूझता। मन०=मन मुरझा जाता है। यौं०=आपने अपनाकर फिर इस प्रकार त्याग दिया इसी के विविध सोचों में मन शिथिल पड़ जाता है। न जूझि०=जूझ नहीं जाता, मर नहीं जाता।

दिनरैन० = दिनरात सुजान प्रिय के विरह के बाण सहता रहता है, यह पापी मरकर कष्टों से छुट्टी नहीं पा लेता।

तिलक—हे प्रिय, वधिक भी जिन जीवों की बाण आदि से हत्या करता है उनकी खोज-खबर लेता है। हत कहाँ है, मर गया कि जी रहा है इसे जानने के लिए उसके निकट जाता है। पर आपने मुझे नेत्र-बाणों से हत करने के अनंतर भी मेरी किसी प्रकार की सुध नहीं ली। इसलिए आपका आचरण समझ में नहीं आता। क्या आप वधिक से भी बढ़कर अथवा गए-बीते हैं? आपकी इस गति-विधि का विचार करने में बुद्धि बेचारी पहले तो व्याकुल होती है और व्याकुलता बहुत बढ़ने पर वह पगली हो जाती है। पगली होकर वह विचार करने में शिथिल हो जाती है। शिथिल होकर वह चकपकाकर उपायों के ढूँढ़ने में लगती है, पर कहीं कोई भी उपाय उसे दिखाई नहीं देता है। हे आनंदघन, आपने मुझे अपनाया और अब इस प्रकार परित्यक्त कर दिया है। इन सब सोचों में पड़कर मन तो मूर्छित हो जाता है, न बुद्धि ठिकाने है और न मन शांत। ऐसी स्थिति में इन पापी प्राणों को हो क्या कहूँ। ये दिनरात सुजान के वियोग के बाण सहते रहते हैं फिर भी नहीं निकल जाते। निकल जाने पर इन्हें वेदना से तो छुट्टी मिल जाती। जब किसी प्रकार उपाय ऐसा नहीं कि प्रिय अनुकूल हो तब फिर ये प्राण कष्ट ही क्यों सह रहे हैं।

व्य.ख्या—वधिकौ = जो क्रूरता के लिए ख्यात है, मारे जानेवाले की सुध जो न ले तो भी उसे दोष नहीं दिया जा सकता, वह भी सुध लेता है ऐसा सुनते हैं। मैंने सुना तो आपने भी सुना होगा। जिस समय वह किसी जीव को मार डालता है उस समय, जब वह किसी को मारता नहीं तब तो सुध और अधिक लेता होगा। आपकी चाल के लिए कोई औचित्य हो तो समझ में आए। मुझमें प्रेम करने में कोई दोष हो, आपका ध्यान करने में कोई त्रुटि हो। आपकी गति-विधि का सब प्रकार से विचार किया गया फिर भी वह समझ में नहीं आती। आपकी स्मृति-शक्ति दुर्बल हो, आपको इतने अधिक झमेले हों अवकाश न मिलता हो, मेरी बातें आप तक न पहुँचती हों आदि अनेक बाधाएँ भी नहीं हैं। मति० = मनन करनेवाली बुद्धि ने इतना अधिक चिंतन किया कि वह व्यग्र हो गई, व्यग्रता इतनी चरमावधि तक पहुँची कि वह पगली भी हो गई। किस प्रकार आपमें सुध लेने की वृत्ति जगे इसके लिए वह अनेक उपायों

को खोजने पर भी न पा सकी, एक भी नहीं मिला। अपाय अनेक दिखते हैं, उपाय एक नहीं। उपाय दिखता नहीं, फिर वह काम आए यह तो और भी कठिन है। मति पगली होकर भी मार्ग खोजने में विरत नहीं, उपायों के आने के मार्ग को वह ध्यान से देखती है, पर देखना ही हाथ है। अथवा वह अपनी दृष्टि भी खो चुकी है। हो सकता है कि कोई उपाय हो भी, उसे ही नहीं दिखाई देता। अंतःकरण चार प्रकार का है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। चित्त ने तो अनुसंधान करके आपका जोड़ नहीं पाया। प्रथम चरण में 'चित्त' के बेकार होने की बात कही है। दूसरे चरण में बुद्धि के बेकार होने की स्थिति बताई है। तीसरे चरण में मन के बेकार होने की चर्चा है। चौथे में 'अहम्' के बेकार होने की परिस्थिति है। घन० = घने आनंद से आपने अपनाया और इस प्रकार घने विषाद के समय परित्यक्त कर दिया। यदि अपनाया न होता तो भी इतना सोच न होता। अपनाने के अनंतर इस प्रकार त्यक्त कर देने में कोई कारण होना चाहिए, वह है नहीं। क्यों अपनाया इसका भी कारण ज्ञात नहीं, क्यों त्यागा इसका भी कारण ज्ञात नहीं। यदि मेरे प्रेम के कारण अपनाया था तो उसमें कोई अंतर मेरी ओर से न पड़ा, न पड़नेवाला ही है। दिन० = दिन में भी बाण की चोट होती है। प्रायः रात में युद्ध बंद रहता है पर वियोग के बाण रात में भी चलते हैं। प्रत्युत अधिक चलते हैं। बाणों की चोट से मर जाना ही उचित है, बाणों से प्रहार भी अधिक हैं और शक्ति भी नहीं है सहने की, पर ये प्राण जी रहे हैं। जो बहुत अधिक कष्ट भोगता हुआ भी जीता रहता है उसके संबंध में धारणा होती है कि वह अपने पापों का भोग भोगता है। इसी से धारणा बँधी है कि पापी शीघ्र नहीं मरता। उसे अधिक कष्ट भोगना रहता है।

पठांतर—क्यौं हूँ-क्यौं करि।

(कवित्त)

ए रे बीर पौन, तेरो सबै ओर गौन, बोरी
तो सो और कौन मनैं ढरकौंहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान घन-
आनंद-निधान, सुखदान दुखियानि दै।

जान उजियारे गुन-भारे अंत मोही प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथाहि मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि
धूरि तिन पायन की हाहा! नेकु आनि दै ।।७०।।

प्रकरण—विरही पवन-दूत प्रिय के निकट भेजना चाहता है। इसलिए वह पवन की प्रशस्ति करके पास जाने और वहाँ से उनके चरणों की धूलि ले आने की प्रार्थना करता है। पवन को दूत बनाने का कारण यह है कि वह सर्वत्र जा सकता है, प्रिय जहाँ भी हों उन्हें वहाँ ढूँढ़कर उनसे जा मिल सकता है। उसमें सम बुद्धि है, सबको समान समझता और वैसा ही आचरण करता है। उनके चरणों की धूलि लाने में वह समर्थ है।

चूर्णिका—बीर = भाई। पौन = पवन। गौन = गमन। बीरा = बीड़ा उठानेवाला, कार्य परिपूर्ण करने में उत्साह दिखानेवाला। मनैं० = मन को ढलनेवाली टेव सिखा, अपना मन दूसरों पर द्रवित कर। जगत के प्रान = संसार के प्राण तुम्हीं हो। ओछे = छोटे। सों = को। ओछे० = तू छोटे और बड़े के साथ समान व्यवहार करनेवाला है। घन० = घने आनंद का कोश ही है। सुखदान = दुखियों को सुख दे, उन्हें सुखी कर। जान = सुजान। उजियारे = दीप्तिमान्, यशस्वी। गुन० = गुणों की स्थिति के कारण महत्त्व-शाली, परम गुणी। अंत = अन्यत्र, विदेश में। पीठि = पहचान कर लेने पर पीठ फेरकर बैठ गए हैं। परिचय देकर पराङ्मुख हो गए हैं [अथवा —पहचान को ही पीठ दे रखी है, पहचान से ही विमुख हैं, मेरी प्रीति ही को विस्मृत कर बैठे हैं]। बिरह = बिरह की वेदना को दूर करनेवाली जड़ी। आँखिन = आँखों में भली-भाँति लगाऊँ। नेकु० = उन चरणों की धूलि थोड़ी सी ही लाकर मुझे दे।

तिलक—ऐ भाई पवन, एक तो तेरी गति सब ओर है, जहाँ प्रिय हैं वहाँ तू जा सकता है। दूसरे तेरे समान किसी कार्य का बीड़ा उठानेवाला और उसे संपन्न करनेवाला कोई दूसरा नहीं। बस मेरे प्रति तुझे अपने मन को द्रवीभूत होने की टेव भर सिखा देनी है। एक तो तू सारे संसार का प्राण ही है (पवन को प्राण कहते ही हैं), दूसरे तुझमें छोटे-बड़े सभी के

प्रति समान वृत्ति है। तू घने आनंद का कोश है, बस दुखियों (विरहियों) को सुख-दान भर तुझे देना है। कार्य भी तुझे विशेष कठिन नहीं करना है। मेरे प्रिय सुजान जो अत्यंत गुणी और यशस्वी हैं, जिन्होंने मुझसे मोह (प्रेम) किया था अब वे अमोही होकर मुझे (या मेरी पहचान को) पीठ दे बैठे हैं अर्थात् विमुख हो गए हैं, उनके चरणों की धूलि थोड़ी सी तुझे ले आ देनी है। वह धूलि विरह की पीड़ा को शांत करनेवाली जड़ी है। उसे मैं अपनी आँखों में भली भाँति लगा लूँ और नेत्र के कष्ट से छुट्टी पाऊँ।

व्याख्या—ए रे० = ऐ भाई, ऐ वीर जिसका कार्य ही वीरता दिखाना है। दूसरे को दूत बनाएँ तो वह न ऐसी वीरता दिखा सकता है और न वह सब ओर जा सकता है। तू सब ओर जा ही नहीं सकता, चलना तेरा नित्य धर्म है, तू सदागति है। बीड़ा उठाने में अन्य उसे संपन्न करें इसमें पूरा निश्चय नहीं रहता। तूने जो भी कार्य स्वीकार किया उसे संपन्न करके ही छोड़ा। मन भी तेरा प्रवित होनेवाला है, केवल उस प्रवृत्ति को मेरे लिए उभारने की आवश्यकता है। मेरी ओर मन को उन्मुख कर। कोई किसी की सहायता करने के लिए पहले तो वैसी शक्ति-सामर्थ्य रखनेवाला हो, फिर उसे उसकी ओर उन्मुख होना चाहिए। तुझमें शक्ति का प्रश्न नहीं है, केवल मेरी प्रार्थना तुझे स्वीकार करनी है। पहले चरण में पवन की निजी विशेषताओं का उल्लेख है। दूसरे चरण में परकीय संबंध में उसकी विशेषताओं का आख्यान है। जगत०=तू केवल शक्तिमान् ही नहीं है, सारा संसार तेरे ही कारण जीता है। यदि वायु न हो तो संसार के प्राणी एक क्षण नहीं जी सकते। दूसरे कोई भेदभाव रखनेवाला भी हो सकता है। पर तू किसी में भेदभाव नहीं करता, तेरी नीति समता की है। प्रिय बड़े हैं और प्रेमी छोटा है। प्रिय के प्रति भी उसकी अनुकूल वृत्ति है और प्रेमी के प्रति भी। प्रिय के पक्ष में संप्रति सुख ही सुख है, प्रेमी के पास दुख ही दुख। सम व्यवहार वाला समरसता भी रखने में प्रवृत्त होता है। दुखी विरही को केवल दुःख है उसके दुःख को कम करके उसे सुख देने की आवश्यकता है जो तेरे ऐसा समशील और समरसी ही कर सकता है। तू स्वयम् घने आनंद का कोश है। सुखी को दुःखदान करने की बात नहीं, दुखी को सुखदान करने की प्रार्थना है। इस पक्ष में गौरव है। जान० = मेरे प्रिय एक तो सुजान हैं, दूसरे यशस्वी हैं, तीसरे सर्वगुण-

संपन्न हैं। ऐसे की वृत्ति मेरे प्रति संप्रति प्रतिकूल है। पहले वे बड़े मोही थे, अब अमोही हुए हैं। उनकी हवा बदलनी है। उन्होंने पहचान तक भुला रखी है। तेरे उनके निकट पहुँचने से हो सकता है कि वे अपना रुख बदल दें। 'जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै' के अनुसार वे तुझे ही पीठ दे बैठें और मेरी ओर उन्मुख हो जाएँ। उनमें सुमुखता लाने की शक्ति भी तुझी में है। बिरह = आँखों की व्यथा धूल पड़ने से बढ़ती है और धूल से वह कम भी होती है। जंगल में जहाँ और कोई औषध प्राप्त न हो वहाँ स्वच्छ स्थान की धूल उँगली में स्पर्श द्वारा लेकर और उसे थोड़ा झटकारकर अंजन की भाँति आँख में लगा देने से आँख की व्यथा कम हो जाती है। प्रेमी की दर्शन की लालसा सर्वोपरि है। प्रिय के चरणों की धूलि यदि नेत्रों में अंजन की भाँति लग जाए तो प्रिय के संपर्क के अनुभव से उनकी वेदना दब जाएगी। सारी आँख में धूल ही धूल भर रखने की इच्छा है, प्रिय का संपर्क सर्वत्र आँख में हो यह इच्छा है। धूलि भी थोड़ी लानी है, नेत्रों में धूलि लगाई ही कितनी जाएगी। जो कार्य पवन से लेना है उसमें आयास भी विशेष नहीं है। हाहा के द्वारा दीनता दिखाई गई है। तीसरे चरण में प्रार्थना की उक्ति व्यंजना में है, प्रिय को उन्मुख करने की प्रार्थना उसमें अंतर्भुक्त है।

विशेष—इस छंद में भी तबले की ठनक सुनाई पड़ती है विशेषतया द्वितीय चरण में।

पाठांतर—ए रे-अरे। बीरी-'वारी', वारि,। 'वारि' का अर्थ है अतिरिक्त। तुझे छोड़कर दूसरा नहीं है। 'वारी' तुझपर निछावर हूँ।

एकै आस एकै बिसवास प्रान गहैं बास,
और पहिचानि इन्हैं रही काहू सौं न है।
चातिक लौं चाहै घनआनँद तिहारी ओर,
आठौ जाम नाम लै बिसारि दीनौ मौन है।
जीवन अधार जान सुनिये पुकार नेकु,
अनाकानी दैबो देया घाय कैसो लौन है।
नेह-निधि प्यारे गुन-भारे ह्वै न रूखे हूजै,
ऐसो तुम करौ तौ बिचारन कें कौन है॥७१॥

प्रकरण—विरही केवल प्रिय के लिए जी रहा है फिर भी प्रिय उसकी ओर उन्मुख नहीं होता। इस पर प्रिय से प्रेमी का निवेदन है कि यदि आप ऐसा करेंगे तो इन प्राणों के लिए और कोई अवलम्ब नहीं है। इन्हें प्रिय की आशा, प्रिय का विश्वास है। संसार में प्रिय के अतिरिक्त इनकी किसी से पहचान नहीं। इनकी चातक-वृत्ति है। आपका इस प्रकार न सुनना और भी दुःखद है। आप गुण-संपन्न हैं। आपके लिए यह शोभन नहीं।

चूर्णिका—गहैं० =वास में रहते हैं, ठहरे हुए हैं। और० =अन्य किसी की कोई पहचान इन्हें नहीं रह गई है। आठौं० =आठो पहर, रातदिन, बराबर। मौन =व्रजी में यह शब्द स्त्रीलिंग है। बिसारि० =इन्होंने मौन रहने की वृत्ति छोड़ दी है। अनाकानी = (अनाकर्णन) पुकार न सुनना (आनाकानी करना) विरह के आघात में वैसा ही है जैसे घाव पर नमक। नेह =स्नेह, प्रेम; तेल। निधि =समुद्र। गुन-भारे =गुणों की विशेषता से महत्त्वशाली। रूखे =उदास, चिकनाहट से रहित। बिचारन० =इन बिचारे प्राणों (चातकों) के लिए और कोई अवलंब नहीं है।

तिलक—हे प्रिय, केवल आपकी आशा और आपके विश्वास पर ही ये प्राण शरीर में टिके हुए हैं। आपकी पहचान के अतिरिक्त इन्हें और किसी की पहचान नहीं रह गयी है। हे आनंद के घन, हे प्राण, चातक की भाँति अन्य किसी से पहचान न होने के कारण केवल आपकी ही ओर देख रहे हैं। आपकी अनुकूलता स्वतः आपकी ओर से मिलती न देखकर इन्होंने अपना मौन व्रत भी छोड़ दिया। अब तो जैसे चातक पुकारता है वैसे ही ये भी निरंतर आपके नाम की रट लगाये हुए हैं। कदाचित् आप इस पुकार से पुकारने पर भी सुन लें। जीवन (जी; जल) के अवलंब हे सुजान टुक इन प्राण-चातकों की पुकार सुन लें। हाय दैया, आप इस प्रकार जो आनाकानी कर रहे हैं, नहीं सुन रहे हैं वह विरह की जलन के घाव के ऊपर नमक की भाँति और भी कष्ट दे रहा है। आप स्नेह के समुद्र हैं और गुणों से गुरु हैं आपको इस प्रकार रूखापन नहीं दिखाना चाहिए। आप जब इस प्रकार का बरताव करेंगे तो इन बेचारों को सहारा देनेवाला तो और कोई है ही नहीं।

व्याख्या—एकै० ='एक' यहाँ 'केवल' के अर्थ में। केवल आपकी आशा, आपका विश्वास। आपके अतिरिक्त किसी की आशा होती तो प्राण इस

प्रकार न टिकते। जो प्रिय से वियुक्त होने पर प्राणों का त्याग कर देता है वह वियोग की वेदना सहने में समर्थ नहीं है अथवा उसे किसी दूसरे की आशा है। प्रिय की आशा छोड़ देने पर भी ऐसी संभावना हो सकती है। यहाँ किसी से पहचान नहीं है, अपने से भी पहचान नहीं। केवल प्रिय ही प्रिय है। प्राण प्रियमय हैं। चातिक०=पहचान न होने पर भी किसी की ओर देखा जा सकता है, पर यह देखना भी केवल प्रिय की ओर ही है। हो सकता है कि कोई किसी की ओर सहेतु देखता हो। हो सकता है कि कोई किसी की ओर देखता हो, पर उससे उसका प्रयोजन न हो। सो भी नहीं है। इस भ्रांति को दूर करने के लिए अपना मौनव्रत भी इसने छोड़ दिया है, आपही का नाम ले रहा है। 'बिरही बिचारन की मौन मैं पुकार है' के नियम का परित्याग करके अब यह नाम आपका ही ले रहा है। जगत् जान ले कि यह प्रिय को चाहता है इसलिए नहीं। प्रिय समझ ले कि प्रेमी उसे ही चाहता है। उसकी पुकार सुन ले। मौन रहने से कदाचित् वह ध्यान न देता हो जीवन०=आपके पुकार सुनने में हेतु भी हैं। आप जीवन के आधार हैं और सुजान भी हैं। पुकार भी सुनने में अधिक समय नहीं लगता है। थोड़ी-सी भी पुकार सुन लें तो काम बन जाय। 'आनाकानी' केवल न सुनने के लिए नहीं है, सुनकर भी नहीं सुनते। यह अनसुनी विशेष कष्टप्रद है। यह केवल घाव पर ही नमक नहीं, जले पर भी नमक है। विरह की जलन और विरह-बाण का आघात। नेह० = स्नेह का समुद्र होने से किसी प्रकार की कमी नहीं। अत्यंत गुण होने से अवगुण की संभावना नहीं। प्रिय होने से उदासीनता या विमुखता की असंगति। 'तुम' शब्द में सभी प्रकार के गुणों की संपन्नता व्यंजित है। विवशता के लिए बेचारा शब्द रखा गया है।

पाठान्तर—एकै–एक। कै–कौं।

(सवैया)

रंग लियौ अबलानि के अंग तें च्वाय कियौ चितचैन कौ चोवा।
और सबै सुख सोंधे सकेलि मचाय दियौ घनआनंद ढोवा।
प्रान अबीरहि फेंट भरे अति छाक्यो फिरै मति की गति खोवा।
स्याम सुजान बिना सजनी ब्रज यौं बिरहा भयौ फाग बिगोवा॥३२॥

प्रकरण—प्रिय श्रीकृष्ण जब व्रज में थे तब होली खेलते थे विशेष

अभिरुचिपूर्वक। अब उनके प्रवासी हो जाने से उनका विरह उनका प्रतिनिधित्व कर रहा है। उस विरह ने फाग की सारी सामग्री एकत्र की है। होली में रंग, सुगंधित पदार्थ, अबीर की मूठ का प्रयोग होता है। इसने भी यह सारी सामग्री इकट्ठी की है। गोपिकाओं के शरीर से रंग, उनके चित्त के हर्ष का चोवा, सुखों से अन्य सुगंधित पदार्थ, प्राणों से अबीर बनाकर वह मतवाला बनकर घूम रहा है।

चूर्णिका—रंग० = अबलाओं (गोपिकाओं) की देह से रंग लेकर फाग खेल रहा है। वे विवर्ण हो गई हैं। विरह में उनका सहज रंग उड़ गया है। च्वाय = चुलाकर, टपकाकर। चोवा = चंदन आदि कई सुगंध द्रव्यों को गरम करके भबके की रीति से उनसे जो विशेष प्रकार का सुगंधित पदार्थ बनाया जाता है उसको चोआ कहते हैं। च्वाय० = उनके चित्त के चैन को (विरह की गरमी से) टपकाकर चोवा बना लिया है। विरहिणियों के चित्त में आराम का नाम नहीं रह गया है। सुख० = सुख अन्य सुगन्धित पदार्थ हैं। सोधे = सुगन्धित द्रव्य, इत्र आदि। सकेलि = एकत्र करके। ढोवा = चढ़ाई, होली में एक दूसरे से खेल में उलझना। [अथवा ढोवा = सामग्री की ढुलाई, एकत्र करना]। मचाय० = घने आनन्द की सामग्री एकत्र की है या आनन्द उलझ गए हैं। प्रान० = प्राणरूपी अबीर को फेंट में भर लेकर, प्राणों को उड़ाने के लिए अपने पास करके। अति० = अत्यन्त नशे में चूर होकर (मतवाला बनकर) घूम रहा है। मति० = बुद्धि की गति खोकर, बुद्धि का परित्याग कर। बिगोवा = सत्यानासी, बुरा।

तिलक—प्रिय श्रीकृष्ण का यह सत्यानासी विरह व्रज में फाग की-सी छटा मचाए हुए है। उसने विरहिणी अबला गोपियों के शरीर से रंग ले लिया है। उनके चित्त के चैन को चुलाकर सुगंधित चोआ बनाया है। उनके अन्य सुख को हरण करके अन्य सुगंध-द्रव्य एकत्र किए हैं। इस प्रकार उसने घने आनंद का सारा सामान ढोकर इकट्ठा कर रखा है। प्राणों को अबीर की भाँति फेंट में भरकर और अत्यंत उन्मत्त बनकर वह फाग खेलने में तत्पर है। उसे देखकर तो मति की गति भी खो जाती है (बुद्धि ठिकाने नहीं रह पाती)। उन सुजान श्याम के न रहने पर इसी ने यह व्यापार ठान रखा है।

व्याख्या—रंग० = व्रज की गोपिकाओं के शरीर में अनेक वर्ण थे। सबको उसने लिया। रंग भी उसके पास विविध प्रकार के हैं। रंग लेने में उसे देर भी नहीं लगी, अबलाओं के रंग हरने में उन्होंने कोई प्रतिवाद भी नहीं किया। 'अंग' से केवल शरीर से प्रयोजन नहीं, प्रत्येक अंग से तात्पर्य है। किसी अंग में रंग नहीं रह गया। रंग शरीर को बाह्य विशेषता है। अब रहा अंतःकरण, उसमें भी जो जो रंग (चैन) था उसे उसने लिया। बाहरी रंग लेने में कठिनाई नहीं थी। अंतःकरण से उसे निकालने में कठिनाई थी। आँखों की नली से सारा चैन, सारी सरसता, टपककर बाहर आ गई। और० = अंतःकरण के अतिरिक्त जो परिस्थितिजन्य सुख थे उन्हें भी एकत्र किया। वाह्यकरण और अंतःकरण के अतिरिक्त जो रंग था उसे भी उसने ले लिया। 'रंग' में सौंदर्य है, पर चोवा देखने में सुन्दर नहीं, उसकी रमणीयता उसकी मंध में हैं। रंग की अपेक्षा उसकी रमणीयता सूक्ष्म है। सुख को इत्र माना है जिसका बाह्य भी अच्छा और जिसकी सूक्ष्म गंध भी आकर्षक। 'सकेलि' केवल एकत्रकरके हो नहीं 'स + केलि' क्रीड़ापूर्वक कार्य करने की ओर भी संकेत है। घने आनंद को लूटने का, एकत्र करने का, उसने पूरा प्रयास किया। 'ढोवा' युद्ध के समय की लूट के लिए भी आता है। चैन, सुख और आनंद में भेद किया है। अंतःकरण की अनुकूल वृत्ति चैन है, परिस्थितिजन्य संपत्ति आदि की आह्लादकता सुख है और यश आदि का प्रमोद आनंद है। उसने सब पर आक्रमण किया। प्रान० = प्राण निकलने में कलेजा निकलने में, लाल होगा, अबीर का रंग भी लाल है। 'अति छाक्यौ' में उसके मतवालेपन की उस अधिकता की ओर संकेत है जो मनमानी करने से विरत नहीं होता जिसे कोई दबा नहीं सकता। उसके फिरने में बुद्धि की चाल समाप्त है। उसमें तो अधिक गति हे, बुद्धि में कोई गति नहीं। विरह ने नशा छा दिया है। प्रेम को ही पी गया है। उसी का नशा है उसे। स्याम० = श्याम सुजान थे, पर उनका विरह तो अजान है।

(कबित्त)

पीरी परि देह छीनी राजति सनेह भीनी,
कीनी है अनंग अंग अंग रंग-बोरी सी।

नैन पिचकारी ज्यौं चल्यौई करैं छिनरैन,
बगराए बारनि फिरति झकझोरी सी।
कहाँ लौं बखानौं घनआनँद दुहेलो दसा,
फागमई भई जान प्यारे वह भोरी सी।
तिहारे निहारे बिन प्राननि करति होरा,
बिरह-अंगारनि मगारि हिय होरी सी ॥७३॥

तिलक—सखी द्वारा विरहिणी के विरह का प्रिय के प्रति निवेदन। विरहिणी फागमय हो गई है। काम ने उसके प्रत्येक अंग को रंग में डुबो दिया है। पीले रंग में डुबोया है। नेत्र पिचकारी का काम कर रहे हैं। उसके खुले केश झकझोरे जाने की सूचना देते हैं। वह प्राणों को 'होला' बनाकर विरह के अंगारों में भून रही है। आपके विरह ने उसकी यह स्थिति कर रखी है।

चूर्णिका—छीवी० =क्षीण, दुर्बल। सनेह० =प्रेम से युक्त होकर। कीनी० =अनंग ने प्रत्येक अंग को (पीले रंग में) डुबो दिया है। नैन० = आँखें निरंतर आँसू गिराती हुई पिचकारी की भाँति चल रही हैं। बगराए० = विरहिणी के विरह के कारण बिखरे हुए केश ऐसे प्रतीत होते हैं कि वह होली के खेल में झकझोर दी गई है, इसी से केश खुलकर बिखर गए हैं। दुहेली = दुःखवाली, दुःखमय। निहारे बिन = बिना दर्शन किए, वियोग में, विरह में। होरा = होला, आग की लपटों में भूना हुआ अनाज का हरा पौधा, होला नवान्न करने के लिए चने जौ आदि के हरे पौधे होली की लपटों में भूने जाते हैं। मगारि = जलाकर। 'आग मंगलना' आग जलने के अर्थ में चलता है। राजस्थान की ओर 'होली जलना' न कहकर 'होली मंगलना' बोलते हैं— 'आपके महल्ले में होली मंगल गई कि नहीं' प्रश्न होता है, 'हमारे यहाँ तो मंगल गई, आपके क्या अभी नहीं मंगली'—उत्तर और जिज्ञासा होती है। 'मंगलना' से 'मगरना' जलने के अर्थ में और 'मंगारना' जलाने के अर्थ में प्रयोग बने। * बिरह = विरह के अंगारों से हृदय में होली सी जलाकर।

---

* विस्तार के लिए देखिए 'हिंदी साहित्य का अतीत', भाग २।

तिलक—हे प्रिय सुजान, आपकी विरहिणी की क्षीण देह पीली पड़कर और स्नेह से युक्त होकर शोभित हो रही है। काम ने उसके प्रत्येक अंग को रंग में भली भाँति डुबो दिया है। दोनो आँखें दो पिचकारियों की भाँति निरतर चलती रहती हैं, उनसे रात-दिन वेगपूर्वक आँसू की धारा प्रवाहित होती रहती है। प्रिय के वियोग के कारण उसने सिंगार करना बंद कर दिया है। उसके केश बिखरे हुए हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं कि काम ने उसे झकझोर कर होली के खेल में इन्हें बिखेर दिया है। वह अपना ऐसा ही भेष बनाए घूमती-फिरती रहती है। उसकी दुःखपूर्ण दशा का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ और विवरण दूँ। आप तो घने आनंद से युक्त हैं, वह घने निरानंद में पड़ी है। वह भोली-भाली विरहिणी तो फागमय हो रही है। उसने आपके दर्शन के अभाव में अपने प्राणों को होला की भाँति भून लिया है। विरहाग्नि के अंगारों से उसने हृदय में पूरी होली ही जला रखी है।

व्याख्या—पीरी० = देह में तनुता तो पहले से ही थी, विरह से पीलापन आया और यह स्नेह (तेल) से युक्त भी है इसलिए रंग भली-भाँति लग गया है, शीघ्र हटनेवाला नहीं। पानी में घुला रंग शीघ्र छूटता है। तेल में मिला रंग शीघ्र नहीं छूटता। 'भीनी' शब्द से भी स्पष्ट है कि स्नेह के साथ वह भिन गया है। 'अनंग' और 'अंग' में विरोध है। किसी वस्त्र को रँगते समय यह देखा जाता है कि कोई अंश रंग चढ़ने से रह तो नहीं गया। काम ने इसी प्रकार रंग में डुबोकर पीलापन उसमें चढ़ाया है। सारी देह में एक सा रंग छाया है। नैन = आँखों से आँसू वेग से और अधिक परिमाण में निकलते हैं। होली का गीला खेल दिन में ही होता है। रात में पिचकारी आदि नहीं चलती। पर यहाँ वह रात में भी चल रही है। पिचकारी कम से कम उतने समय के लिए नहीं चलती जब उसमें रंग भरते रहते हैं। पर यहाँ पिचकारी में रुकने का नाम नहीं। केशों के बिखरे होने से और इधर-उधर बेचैन होकर जाने-आने से उसकी स्थिति होली के खेल के द्वंद्व से पूरी मिलती है। जो झकझोर दिया जाता है वह भी कुछ देर के लिए रुकता है होली में, पर यहाँ तो रुकने का नाम नहीं है। कहाँ लौं० = होली में रंग और झकझोरने की बात भर नहीं होती, कीचड़ भी उछाला जाता है। उसका वर्णन करके विस्तार आदि

क्या करें। उसकी जो दुर्गत हुई है उसके लिए इतना ही कह सकते हैं कि वह फागमय हो गई है। होली के खेल में जो भोले-भाले होते हैं उनकी बुरी गत बनाई जाती है। जो चतुर होते हैं वे कठिनाई से कस में आते हैं। यह भोली-भाली थी इसलिए इसकी दुर्गत सबसे अधिक हुई। आप तो सुजान हैं, चतुर हैं। होली में निकलने के दाँव-घात जानते हैं, वह अजान है। तिहारे० = तीन चरणों तक तो काम के द्वारा होनेवाले उपद्रव का विवरण है, चौथे चरण में विरहिणी के द्वारा होली के त्योहार के मनाने की बात है। होली का त्योहार मनाने में होला भूनकर नवान्न करते हैं। आप होते तो नवान्न की व्यवस्था करते, पर आप नहीं थे अतः वह नवान्न के लिए हरे पौधे तो ला नहीं सकी। इससे उसने प्राणों को ही भून डाला। होली में दूर जाने की शक्ति नहीं थी इससे हृदय में ही होली जला ली।

विशेष—यहाँ 'सी' के प्रयोग द्वारा वास्तविकता का निषेध करके अवास्तविकता की कल्पना का संकेत है। विरह के कारण जो स्थिति है वह विरह से नहीं है, काम के द्वारा होली खेलने के कारण है। 'सी' संभावना का सूचक है। उत्प्रेक्षा की स्थिति स्पष्ट है।

पाठांतर—परि–परी। लग अंग–मानों अंग। 'सभा' की प्रति में 'मगारि' शब्द समझ में न आने से उसे 'मगरि' समझा गया है और 'मगरि' को 'मगरी' करके तथा उसे 'मंगली' का विकृत या विकसित रूप मानकर 'छोकड़ी' अर्थ किया गया है। यह 'छोकड़ी' वही विरहिणी है।

कहाँ एतो पानिप बिचारी पिचकारी धरै,
आँसू-नदी नैननि उमगियै रहति है।
कहाँ ऐसी राँचनि हरदि केसू केसरि में,
जैसी पियराई गात पगियै रहति है।
चाँचरि-चौपहू सु तौ अवसर ही माचति पै,
चिंता की चहल चित्त जगियै रहति है।
तपनि-बुझावनि अनंदघन जान बिन,
होरी सी हमारे हियें लगियै रहति है ॥७४॥

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के विरह में जिस कष्ट का अनुभव कर रही है उसे वह होली के अवसर से मिलाकर तुलना करती है और निष्कर्ष निकालती

है कि होली में जो कुछ होता है, विरह में उससे बढ़कर होता है। आँखों से जितने आँसू निकलते हैं, कोई पिचकारी उतना जल एक समय में धारण ही नहीं कर सकती। जैसा पक्का, एक सा पीला रंग विरह का है वैसा हल्दी, किंशुक और केसर से क्या होगा। जैसा चिंता का कर्दम चित्त में है वैसा चाँचर में कीच का प्रयोग क्या होगा। जैसी आग विरह की लगी है वैसी होली में क्या जलेगी।

चूर्णिका—एतो० = इतना पानी। राँचनि = पीले रंग का चटकीलापन, रंग का भली भाँति चढ़ना। हरदि = हल्दी। केसू = (किंशुक) टेसू, पलाश का पुष्प। फूलों के रंग निकालकर उसमें वस्त्र रँगते थे। गति० = शरीर में पगी रहती है, पक्के रंग की भाँति चढ़ी रहती है, छाई रहती है। चाँचरि = होली के अवसर पर कीचड़ उछालते हुए और गाने गाते हुए खेल का उपद्रव। चहल = कीचड़। चिंता = चिंता की चहल-पहल जैसी है वैसी चाँचरि की चहल (कीचड़) क्या होगी। तपति० = विरह की तपन बुझानेवाले प्रिय।

तिलक—(सखी के प्रति नायिका अपना विरह बता रही है। अवसर होली का है। इसी से उससे तुलना कर रही है। अपने विरह में व्यतिरेक की स्थिति मान रही है) नेत्रों से जैसी आँसुओं की नदी निरंतर उमड़ती रहती है, भला छोटी सी पिचकारी उतना पानी अपने आकार में कैसे धारण कर सकती है। एक व्यक्ति एक समय में एक ही पिचकारी चलाता है, यहाँ दो दो पिचकारियाँ चलती रहती हैं। विरह के कारण शरीर में जैसा पीलापन रच गया है, भली भाँति चढ़ गया है, वैसा पीलापन न हल्दी में होता है और न पलाश के फूल में और न केसर में। चाँचर की उमंग भी होली आने पर ही होती है, पर यहाँ नित्य की चहल-पहल चाँचर के कीचड़ के उपद्रव से बढ़-चढ़कर और बारहो महीने होती रहती है। आनंद के घन प्रिय सुजान के वियोग में विरह की आग बुझाने के कारण होली भी यहाँ (हमारे हृदय में) सदा ही लगी रहती है।

व्याख्या—कहाँ० = पिचकारी में चाहे जितना रंग भरा जाए, नदी प्रवाहित होने की-सी स्थिति नहीं हो सकती। यहाँ नेत्रों से दो-दो नदियाँ उमड़ती रहती है, वे घटने के बदले बढ़ती रहती हैं। पिचकारी में तो धीरे-धीरे धार

पतली हो जाती है, यहाँ बढ़ती रहती है होली के अनंतर भी ये नदियाँ सूखती नहीं। बराबर बहती बढ़ती रहती हैं। कहाँ = हल्दी का रंग एक तो बराबर चढ़ता नहीं, दूसरे वह धूप में उड़ जाता है। वस्त्र के नित्य धोने से वह हलका पड़ता रहता है। हल्दी जड़ होती है। पलाश फूल होता है और केसर किंजल्क। पलाश के फूल का रंग हल्दी के रंग से अधिक एकरस चढ़ता है। धोने से हलका नहीं पड़ता, पर धूप में उड़ जाता है। केसर का रंग एकरस होता है। धोने से नहीं उतरता और धूप में भी कम नहीं होता। हल्दी, किंशुक और केसर में रचने का रंग चढ़ने का तारतम्य है। सबसे अधिक पक्कापन केसर में होता है। पर उसमें गाढ़ापन उतना नहीं जितना विरहिणी के शरीर में। धूप में केसर के रंग पर पानी के छींटे देकर वस्त्र से उसे हटा सकते हैं। पर शरीर का पीलापन तो उसमें पगा है, हटेगा ही नहीं। फिर ये रंग तो भट्ठी आदि पर चढ़ाने से हट जाएँगे। सदा निरन्तर ये नहीं रह सकते। विरहिणी में 'पियराई' (प्रिय के संबन्ध के कारण) है। उनके आने पर यह हट सकती है। चाँचरि० = चाँचर के खेल सब समय नहीं होते। चिंता में चाँचर का सा उपद्रव बराबर जगा ही रहता है, कम नहीं पड़ता, अधिक ही होता रहता है। तपति० = विरह का संताप और गरमी होने के लिए 'तपति' शब्द है। आनंद के बादल में भी आनंद से संताप की ओर बादल से गरमी की शांति का प्रयोजन है।

पाठांतर—एतो–इतो। चोप–चोपही हूँ। चहल–चुहल। जगियै–लगियै।

दसन-बसन ओलो भरियै रहै गुलाल,
हँसनि-लसनि त्यौं कपूर सरस्यौ करै।
साँसनि सुगंध सोंधे कोरिक समोय धरे,
अंग-अग रूप रंग रस बरस्यो करै।
जान प्यारी तो तन अनंदघन-हित नित,
अमित सुहाग-राग फाग दरस्यौ करै।
इते पै नवेलो लाज अरस्यौ करै जु, प्यारो,
मन फगुवा दै गारी हू कौं तरस्यौ करै ॥७५॥

प्रकरण—प्रेमिका के पूर्वराग का वर्णन है। प्रेमिका मुग्धा है इसलिए मारे लज्जा के वह कुछ बोलती नहीं। प्रिय उसके अंगों में होली की छटा देखता है। उसके न बोलने से उसे कमी का अनुभव होता है। ओठों को झोली और उनकी ललाई को गुलाल, हँसी को कपूर, श्वास की सुगन्ध को इत्र, शरीर के रंग को वर्ण कहा। सिंदूर का टीका फाग के रूप में दिखाई देता है। प्रिय अपना मन भेंट में देता है। पर प्रेमिका अबोली है इससे उसे मीठी बातें तो दूर गाली भी नहीं मिलती।

चूर्णिका—दसन० = दाँतों के वस्त्र, रदनच्छद, ओठ। ओली = पहनी हुई धोती के आँचल को झोले के रूप में बना लेना ओली है। दोनो ओठों से ओली का रूप स्पष्ट होता है। भरियें० = गुलाल भरा ही रहता है; ललाई छाई ही रहती है। हँसनि = मुसकराहट। छसनि = छटा। त्यौं = उसी प्रकार। कपूर०=कपूर अपनी सुगन्ध प्रसारित करता रहता है। साँसनि० = सुगंधित साँसों द्वारा निकलने वाली सुगंध। सौंधे = सुगंधित पदार्थ, इत्र आदि। कोरिक= करोड़ों। समोय०=सुवासित कर रखे हैं। साँसनि०=साँसों की सुगंध से करोड़ों द्रव्यों को सुवासित करके सुगंधित बना रखा है। अंग = प्रत्येक अंग के सौंदर्य से आनंद का रस बरसता रहता है। प्रत्येक अंग में जो रंग है वह होली के रंग की भाँति बरसता रहता है। 'रंग' और 'रस' के दुहरे अर्थ हैं। रंग और आनंद तथा जल और प्रमोद। तो तन = तेरे शरीर में। हित = के लिए। राग = ललाई; गान का राग फाग = होली के गान। अमित० = अत्यन्त सौभाग्य ही फाग के राग की भाँति दिखाई देता है [अथवा अत्यंत सौभाग्य (मंगल-बिन्दु) फाग की ललाई की भाँति छाया है]। अरस्यौ = आलस्य करती है, बाधा डालती है, खुलकर मिलने नहीं देती। फगुवा = होली के त्योहार पर उपहार। इते पै० = इतने पर भी मेरी लाज ऐसी बाधा डालती है कि प्रिय अपना मन होली के त्योहार के उपहार में देकर भी गाली तक के लिए लालायित रहता है, तेरी लाज उससे मीठी बातें करना तो दूर होली की गाली भी नहीं देने देती। फगुआ देने पर गाली मिलना यह रीति है, व्यव-हार है। उसने तो मन दे डाला और तू गाली भी नहीं देती।

तिलक—(सखी प्रेमिका से कह रही है) हे प्यारी सुजान, तेरे प्रेमी के लिए तेरे शरीर में फाग की सारी छटा दिखाई देती है। दोनो ओठ (अधर

और सधर) तो ओली की भाँति दिखाई देते हैं जिनमें की नैसर्गिक अरुणिमा गुलाल के रूप में भरी जान पड़ती है। उसी प्रकार हँसने की छटा ही उस गुलाल में मिले कपूर की भाँति है जो सुगंधित होने के कारण चारो ओर सुगंध फैलाती रहती है। साँसों की सुगंध ऐसी जान पड़ती है कि अन्य अनेक द्रव्य होली के उपयोग के लिए सुगंधित करके एकत्र किए गए हैं। तेरे प्रत्येक अंग में जो रूप-रंग (वर्ण) है वह होली के रंग की भाँति बरसता रहता है। तेरे प्रिय के घने आनंद के लिए नित्य अत्यन्त सौभाग्य की ललाई फाग की ललाई के रूप से दिखाई देती है। होली की सभी अपेक्षित सुषमा तेरे शरीर में हो जाने पर भी केवल एक लज्जा ही बाधा डालती है, क्योंकि प्रिय ने तो होली के उपहार में तुझे अपना मन दे दिया। पर इस उपहार के देने पर इस अवसर पर जो गाली मिलती है वह भी उसे नहीं मिल पा रही है। और कुछ नहीं तो उसे गाली पाने का अधिकार ही समझकर तू कुछ भली बुरी कह दे।

व्याख्या—दसन० =होली में गुलाल को कपूर से सुवासित करके प्रयोग में लाते थे। प्रेयसी के ओठों में ललाई और मुसकुराहट है। ओठ खुलते नहीं। बस खुलते भी हैं तो इतने ही कि उनसे साँस भर निकले। साँसनि० = साँसें न जाने कितनी प्रतिदिन निकलती रहती हैं इसी से 'करोड़' शब्द का व्यवहार है। अनेक, अधिक के लिए इसका प्रयोग किया गया है। कुमकुमा आदि भी सुगंधित द्रव्यों से युक्त करके ही चलाये जाते रहे हैं। जान० = जो प्रिय स्वयम् आनंदघन है उसके लिए भी तेरे शरीर में आनंद का आकर्षण है। तुझमें आनंद की अधिकता है। 'अमित' के द्वारा असीम सौभाग्य और प्रेम का आकर्षण कथित है। इते० = 'नवेली' कहने में लज्जा की प्राथमिकता अंकित है। प्रेम की लज्जा अभी पहले-पहल हुई है इसी से उसे हिचक होती है। 'अरस्यौ करैं' में 'हिचकती रहती है', 'संकोच करती रहती है' का भाव है। होली पर जिससे जिसका सामाजिक संबंध होली खेलने का माना जाता है उसके हाथ होली खेलने पर उपहार देना और बदले में गाली पाने का चलन है। प्रिय प्रेयसी से गाली पाकर भी संतुष्ट हो सकता है।

पाठांतर—जु-सु।

(सवैया)

घर हौ घर चौचँद-चाँचरि दै बहु भाँतिन रंग रचाय रह्यौ।
भरि नैन हियें हरि सूझि सम्हार सबै करि नाक नचाय रह्यौ।
घनआनँद पै ब्रज-गोरनि कों नख तें सिख लौं चरचाय रह्यौ।
लखि सूनो सकै कित रावरो ह्वै बिरहा नित फाग मचाय रह्यौ ॥७६॥

प्रकरण—विरह के कारण फाग के समय की सी स्थिति है। दोनो का रूपक बाँधा गया है। बदनामी की चर्चा ही चाँचर है। अनेक प्रकार की जो गलत-सही बातें फैल रही हैं यही रंग बरस रहा है। नेत्र भी और हृदय भी भर गए हैं। जिससे रंग खेल रहा है उन्हें यह बहुत तंग कर रहा है। नाक के बल नचा रहा है। व्रज की गोपिकाएँ इसमें सराबोर हैं। विरह प्रिय का ही है, अतः प्रिय की भाँति वह भी आचरण कर रहा है।

चूर्णिका—चौचँद = अपवाद। चाँचरि = होली के वे गाने जो कीच आदि के उपद्रव के साथ गाए जाते हैं। रंग = विनोद; रंग (लाल, पीला आदि)। भरि० = नेत्र और हृदय को भरकर, नेत्र को आँसू और हृदय को व्यथा से। हरि० = सूझ (नेत्रों से) सम्हाल या होश (हृदय से) हटकर। सबै० = सबको नाक के बल नचा रहा है। चरचाय० = (रंग या कीचड़ से) सिर से पैर तक भर दिया है। लखि० = आपका विरह व्रज को सूना नहीं देख सकता। कुछ न कुछ खेल तमाशे किया ही करता है।

तिलक प्रेमिका का संदेश या प्रिय के प्रति कल्पना में ही कथन है—आप यहाँ नहीं हैं तो आपका विरह ही होली मचाए हुए है। प्रत्येक घर में जा आपके व्रज में चले जाने के कारण गोपिकाओं का अपवाद हो रहा है वही चाँचर के वे गाली वाले गाने हैं। इस अपवाद के कारण जो रंग-सा रचा हुआ है, विनोद और चुहल के कारण सारे व्रज में जो रंग आ गया है वही मानो होली पर अनेक प्रकार के रंगों की होनेवाली वृष्टि है। होली में अबीर से नेत्र भर जाते हैं, गाली खाते-खाते जी भर जाता है। विरह में नेत्र आँसू से भरे हैं, हृदय वेदना से भरे हैं। होली में नेत्रों में गुलाल आदि के पड़ जाने से दिखाई नहीं देता विरह में भी नेत्र से दिखाई नहीं पड़ता। होली में नशे या खेल के श्रम से हृदय में होश नहीं रह जाता है, विरह में भी होश नहीं रहता, होली में जो सीधा होता है उसे बहुत परेशान करते हैं, विरह भी विरही को

बहुत अधिक परेशान कर रहा है। होली में सिर से पैर तक रंग या कीच में डूबे रहते हैं। इसने भी व्रज को गोपिकाओं को आपादमस्तक पीले रंग में डुबो दिया है। भला आप जब इतने विनोदी थे कि होली में अत्यधिक उपद्रव करते थे तो फिर यह आपका ही विरह आपकी भाँति आचरण क्यों न करे। आपके सूनेपन को यही दूर कर रहा है और भली भाँति होली मचाए हुए है। यह होली के अवसर की भी चिंता नहीं करता, नित्य ही यहाँ की फाग सी स्थिति बनाए हुए है।

व्याख्या – घर० = प्रत्येक घर में एक घर से दूसरे घर में अपवाद के फैलने से। अपवाद करने में भी दूसरे पर कीचड़ उछालने का ही भाव रहता है। चाँचर में भी कीच उछालते हैं। अपवाद में भी अपशब्द कहते हैं, चाँचर में भी गाली रहती है। अनेक प्रकार से रंग रचाने में अनेक प्रकार के रंग लाल, पीले, नीले आदि को ही रंग अधिक चढ़ने के लिए उसे पक्का करके प्रयोग में लाना (चिकने के साथ उसका प्रयोग करना) बहुत सी प्रक्रियाओं को ओर संकेत है। कई बार रंग पड़ने से भी उसमें रचने की विशेषता आती है। रंग रचना वैसे ही जैसे मेंहदी रचती है। गहरा होकर प्रकट होती है। भरि = नेत्र भर दिए, गला भर दिया और नाक के बल नचा भी रहा है। नेत्र और कंठ भर जाने पर भी नहीं छोड़ा। उससे भी अधिक परेशान कर रहा है। नाक के बल खड़ा होना ही कठिन है। नाक बहुत कोमल है, उस पर शरीर का बोझ टिक नहीं सकता फिर उसी पर नाचना तो और भी कठिन है। घत० = 'पै' यहाँ निश्चयार्थक है। व्रज की गौरांगी गोपिकाएँ सब रँग गईं, पीली पड़ गईं। सारा अंग पीला हो गया। रंग पड़ने पर शिख से नख की स्थिति रहती है। विरह में पहले नख पीले पड़ते हैं। हृदय से जो अंग दूर हैं पहले उन्हीं में रक्त के संचार की कमी या उनके दोष एकत्र होते हैं। इसीसे नख से शिख का व्यवहार है। भक्ति के क्षेत्र में 'गोपीकृष्ण' की उपासना होने से पूज्य भाव है। पूज्य का वर्णन नख से शिख की ओर करते हैं इसी से नख से शिख का प्रयोग है। 'चर्चा' उस रंगकारी को कहते हैं जो हाथी के मस्तक पर रंग-बिरंगी होती है। यहाँ 'चरचाय' में रंगों का वैविध्य और परस्पर मिश्रण तथा उस मिश्रण से उत्पन्न छटा की ओर संकेत है। लखि० =

संयोग में आप और वियोग में आपके विरह ने होली मचा रखी है। आप विनोदी वृत्ति के हैं तो आपका विरह भी वैसा ही है। नित्य आनंद की स्थिति। भक्ति-संप्रदाय में भी नित्य आनंद की भावना मानी जाती है। विरह आदि के विषाद वस्तुतः उस आनंद के स्वाद की वास्तविक अभिव्यक्ति के लिए हैं। आनंद की सत्ता नित्य है। हर्ष-विषाद या सुख-दुःख तो स्वादवाद मात्र है।

(कबित्त)

फागुन महीना को कही ना परैं बातैं दिन-
गातैं जैसें बीतत सुने तें डफ-घोर कों।
कोऊ उठै तान गाय प्रान बान पैठि जाय
हाय चित-बीच पै न पाऊं चितचोर कों।
मची है चुहल चहूँ दिसि चोप-चाँचरि सों,
कासों कहौं सहौं हौं बियोग-झकझोर कों।
मेरो मन आली वा बिसासी बनमाली बिन
बावरे लौं दौरि-दौरि परै सब ओर कों॥ ७७॥

प्रकरण—विरहिणी श्रीकृष्ण के विरह से संतप्त है। होली का अवसर आने पर उसकी वेदना बढ़ जाती है। इसी का वर्णन यहाँ किया गया है। फागुन के महीने में रातदिन फाग गाया जाता है, डफ बजता है। गान प्राणों को कष्ट देता है। चाँचर का उपद्रव भी मचा है। इन सबसे मन पागल होकर सर्वत्र व्यथा से दौड़ता रह जाता है।

चूर्णिका—कही० = बातें कही नहीं जा सकतीं। सुने तें० = डफ की प्रबल ध्वनि सुनने से। प्रान० = तान उसी प्रकार कान से होकर प्राणों में पहुँचती है जिस प्रकार बाण प्रविष्ट होते हैं। चित० = प्रिय अंतःकरण में ही कहीं बैठा है, फिर भी इस स्थिति में मेरा बचाव करने के लिए तत्पर नहीं होता, मुझे दिखता तक नहीं, मिलता तक नहीं। चुहल = विनोद, हँसी-मजाक। चोप = चाँचर की उमंग से। बिसासी = विश्वासघाती। बनमाली = वनमाला पहनेवाला, श्रीकृष्ण प्रिय। 'वनमाला' पैरों या घुटने तक लंबी माला को कहते हैं।

तिलक—फागुन महीने की बात तो कुछ कही ही नहीं जा सकती। इस महीने में लोग डफ बजाकर रात-दिन गाते बजाते रहते हैं। डफ की गंभीर

ध्वनि सुनने से जो हृदय पर बीतती है वह अकथनीय है जब कोई आलाप करता हुआ जाता है तो ऐसा जान पड़ता है कि तान का शब्द नहीं प्रत्युत बाण ही कलेजे में धँस रहा है। मेरा चित्तचोर प्रिय भी अंतःकरण में ही है, पर इन बाणों के लगने पर और उनकी वेदना से व्यथित होने पर भी वह भीतर से बाहर निकलकर बचाव नहीं करता। उसे मैं पाती ही नहीं। चाँचर की उमंग से चारो ओर विनोद-हँसी की चहल-पहल मची हुई है। इसके कारण जो पीड़ा होती है उसे किससे कहें ? इस वियोग के कारण जो झटका सहना पड़ता है उसे सहती हूँ। हे सखी, मेरा मन उस विश्वासघाती बनमाली के बिना इस अवसर पर उसे खोजने के लिए पागलों की भाँति सब ओर की दौड़ लगाता है, पर वह नहीं मिलता।

व्याख्या—फागुन० = कष्ट तो और महीनों में भी होता रहा है। पर रात-दिन कष्ट की ऐसी स्थिति नहीं थी। और महीनों का दुःख तो कहा जा सकता था, पर इस महीने का नहीं। डफ की प्रचंड ध्वनि ऐसी है और साथ ही निरंतर हो रही है कि जब उससे कुछ छुट्टी मिले तब कहने की नौबत आए। बातें भी अनेक हैं, अपरमित हैं, कहकर समाप्त करना कठिन है। उनसे कहीं अवकाश नहीं है। जब अवकाश हो तभी तो कुछ कहा जाए। जैसी बीत रही है वह अनुभव की वस्तु है, वचन के द्वारा कही ही नहीं जा सकती। सुनने से ही जब यह स्थिति है तो देखने से तो और भी अधिक होगी। डफ का शब्द इतना तीव्र है कि घर के भीतर इस विचार से छिपकर बैठने पर कि वह सुनाई न पड़े, वह सुनाई पड़ ही रहा है। कोऊ० = डफ की ध्वनि तो एक ओर, दूसरी ओर आलाप से गाना। यह गान सहसा होता है। जैसे बाण सहसा छूटते हैं। ये सीधे प्राणों पर प्रभाव डालते हैं। कानों के द्वारा भीतर शीघ्र और गहरा असर होता है। गरमी के दिनों में लू से बचने के लिए इसीसे कान ढके रहते हैं। जाड़ों में ठंढी हवा चलने पर उससे बचाव के लिए कंटोप से कानों को ही ढकते हैं। 'कंटोप' शब्द 'कान + तोप'—कान को ढकनेवाला ही अर्थ में है। कानों से अन्तःकरण पर अधिक प्रभाव पड़ता है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के वेणुनाद के कानों के माध्यम से होनेवाले प्रभाव की विस्तृत चर्चा है। विरहिणी को प्रिय की बाँसुरी ने पूर्वराग के समय अधिक प्रभावित किया था। इसलिए

उसके कर्ण प्रिय के वेणुवादन से आप्लायित हो चुके हैं। उनके वियोग में अन्य वाद्य-गान की ध्वनियाँ उसके लिए सबसे अधिक कष्टप्रदायिनी हो रही हैं। ये बाण ऐसे पैठते हैं कि निकलते ही नहीं। यदि निकाला जाए तो 'नटसाल' की स्थिति हो जाती है, फल उसी में टूटकर रह जानेवाली स्थिति। सबसे बड़ी दुःख की बात तो यह है कि जिस अंतःकरण में बाण लगते हैं उसी में प्रिय भी बैठा है। चित्त को चुराकर उसने चित्त को छोड़ा तो है नहीं। उसे अँकवार में कसे वह बैठा है। उस चित्त में बाण लगने पर भी वह बचाव के लिए प्रत्यक्ष नहीं दिखता। ये बाण चित्त में तो लग रहे हैं पर उस चित्तचोर को नहीं लग जाते। यदि उसे भी कुछ वेदना का अनुभव होता तो कदाचित् वह दिखाई पड़ता। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन बाणों के प्रहार से बचने ही के लिए वह चित्त से हटकर चला गया या कहीं कोने-अँतरे जा बैठा है जहाँ से निकलता ही नहीं। मचो० = लोग हँसी-विनोद में तथा चाँचर की उमंग में इतने लीन हैं कि यदि किसी से कहूँ भी तो वह अपनी धुन के सामने इसे सुनेगा ही नहीं। सुने भी तो इस आनंद के समय वह मुझसे समानुभूति दिखाने भला क्या बैठेगा। इसलिए और लोग होली की झझकोर सहते हैं, मैं वियोग की झझकोर सह रही हूँ। चारो ओर यही दृश्य है, एक ओर भी बची होती तो भी कुछ किसी के संवेदना प्रकट करने की संभावना होती। मेरो० = मेरा मन ही ऐसा नालायक है कि वह उस विश्वासघाती को नहीं छोड़ता। प्रिय भी ऐसा कि उसे घर नहीं वन में ही घूमते रहने की सूझती है, वहीं मनमानो मालाएँ बनाकर वह पहनता है। मन को सब ओर नहीं जाना चाहिए। वनमाली को व्रज में जाकर ढूँढना चाहिए। पर वह इतनी चेतना खो बैठा है कि उसे क्या करना चाहिए सूझता ही नहीं। जिधर भी उसकी आहट पाता है, जाता है।

पाठान्त—पैठि–बैठि। चुहल–चहल।

(सवैया)

सोंधे की बास उसासहि रोकति चंदन दाहक गाहक जी को।
नैनन बैरी सो है री गुलाल अबीर उड़ावत धीरज ही को।
राग बिराग धमार त्यों धार सी लौटि पर्‌यो ढँग यों सबही को।
रंग रचावन जान बिना घनआनँद लागत फागुन फीको ॥७८॥

प्रकरण—प्रिय के वियोग में पहले-पहल फागुन का समय आया है। उस समय संयोग के अनुभव से विपरीत स्थिति का अनुभव हो रहा है। इसी का वर्णन है। सुगंध से साँस रुकती है। चंदन जलाता है। नेत्रों को दिखाई पड़कर गुलाल उनको देखने की शक्ति ही हर लेता है और अबीर के उड़ने से धैर्य उड़ जाता है। राग से वैराग्य, धमार से धार की चोट हो रही है। एक 'रंग' (आनंद) की सृष्टि करनेवाले श्रीकृष्ण के न रहने से आज फागुन की सरसता फीकी हो गई है।

चूर्णिका—सोंधे = सुगंधित पदार्थों की गंध, इत्र आदि की सुवास। उसास० = उच्छ्वास, साँस। सोंधे० = सुगंध से तो साँस ही रुक जाती है। गाहक = ग्राहक, लेनेवाला। नैननि० = गुलाल नेत्रों का शत्रु है, उसे देखकर नेत्रों में वेदना होती है। अबीर = अबीर को उड़ते देखकर हृदय से धैर्य उड़ जाता है, दूर हो जाता है। राग० = होली के राग से विराग (उदासी) होता है। धमार = होली के गीत। धार = तलवार की धार (के समान कष्टप्रद)। फीटि० = सबका रंग-ढंग ही बदल गया है। रंग = आनंद, रंग। रंग = रंग से रँगनेवाले।

तिलक—घने आनंद के प्रदायक तथा (वास्तविक) रंग (आनंद, रंग) को रचानेवाले (भली भाँति रँगनेवाले; आनंद को उत्पन्न करनेवाले, विस्तृत करनेवाले) सुजान प्रिय के यहाँ न होने से (उनके वियोग के कारण) फागुन फीका (रंगहीन, निरानंद) लग रहा है। सुगंधित पदार्थों की सुवास से तो साँस रुकने लगती है, कंठावरोध हो जाता है। चंदन जलाता है और प्राणों का ग्राहक हो रहा है। नेत्रों के लिए गुलाल तो शत्रु के सदृश कष्टदायक है। अबीर को उड़ता देख-समझकर हृदय से धैर्य ही चला जाता है। राग से उदासी हो रही है और धमार तलवार की धार सी प्रतीत हो रही है। समष्टि में कहना यह है कि संयोग के समय जितने सुखदायक थे उन सबका रंग-ढंग ही पलट गया है।

व्याख्या—सोंधे = 'सुगंधि पुष्टिवर्धनम्' का विपरीत है। रुकी साँसें भी जिस सुवास से चल पड़ें वह आज साँस क्या उसास को रोक रही है। वियोग में लम्बी साँसें ली जाती हैं। उन तक को वह रोक देती है। चंदन से शीतलता तो मिलती नहीं दाहकता प्राप्त होती है, पर वह भी चरम सीमा पर

पहुँची है। जैसे साँसों का रुकना प्राणावरोधक है वैसे ही चंदन से भी होता है। सुगंध बाहर से वही कार्य करती है जो चंदन भीतर से। सुगंध सब शीतल नहीं, उसमें सुवास की ही विशेषता है। चंदन में सुवास तो है, पर साथ ही शीतलता है। शीतलता उसकी प्रमुख विशेषता है। नासिका की घ्राणशक्ति विकृत है। शरीर में त्वचा की स्पर्श-शक्ति विकृत है। नैननि० = नेत्रों की दर्शन-शक्ति विकृत है। गुलाल देखते ही वेदना होती है। नेत्रों को जो न रुचे वह शत्रु ही हो सकता है। उड़ने की प्रक्रिया आकाश-तत्त्व में होती है—अबीर से धैर्य उड़ गया। राग० = श्रवणेन्द्रिय के विकृत होने से राग बेकार हो रहे हैं तथा धमार में घार की स्थिति है। 'राग' में 'वि' लगने से विराग हुआ। 'धमार' से 'म्' हटने से 'धार' बनी। 'विराग' 'विगत राग' है, राग का अभाव ही तो है विराग। 'धमार' में 'म्' का अभाव है, कुछ परिवर्तन से वही स्थिति, दूसरे चरण में भी मारक स्थिति का संकेत। शत्रु मारक होता है। धैर्य छूट जाने से मृततुल्य हो जाता है कोई। विराग से जगत् से निवृत्ति की इच्छा होती है। घार प्रत्यक्ष मारक है। जो पदार्थ जिलाते थे वे सब किसी न किसी रूप में मार रहे हैं। यही पलटी परिस्थिति है। रग० = प्रिय की ही सत्ता से सारी वस्तुएँ सत्तावान् हैं। वह नहीं है तो सबका सार तत्त्व समाप्त, उनमें विपरीत गुण या दोष की अवस्थिति। 'फीका' शब्द केवल वर्ण के ही लिए नहीं है, 'स्वाद' के लिए भी होता है। प्रिय का ही आनंद 'स्वादु, सत्ता' का कारण है। वह नहीं तो आस्वाद नहीं।

सुनि री सजनी रजनी की कथा इन नैन-चकोरन ज्यौं बितई।
मुख-चंद सुजान सजीवन को लखि पाएँ भई कछु रीति नई।
अभिलाषनि आतुरताई घटा तबही घनआनँद आनि छई।
सु बिहाति न जानि परी भ्रम सी कब ह्वै बिसवासिनी बीति गई।।७९।।

प्रकरण—प्रिय के दर्शन का सुअवसर रात्रि के समय हुआ। अनुरागिणी अपनी सखी से इसका वर्णन कर रही है। बतला रही है कि प्रिय का मुखचंद्र देखने के लिए नेत्र-चकोर उधर ज्यों ही गए उतावली के कारण ऐसी घटा छा गई कि उसके कारण चंद्र छिप गया। वह रात इस प्रकार समाप्त हो गई जैसे उसके होने का केवल भ्रम रहा हो, वह हुई ही न हो।

चूर्णिका = सजनी = सखी । बितई = वह रात्रि (रजनी) बिताई । सजीवन = जिलानेवाले (सुधा द्वारा) । लखि० = देख पड़ते ही । अभिलाषनि = अभिलाषों के कारण, उत्कंठाओं से । आतुरताई=उतावली, हड़बड़ी । घटा = घनघटा । सु = सो, वह । बिहाति = व्यतीत होती हुई । भ्रम सा० = रात्रि की प्रतीति ही नहीं हुई, उसके होने का भ्रम सा हुआ । बिसवासिनी = वह विश्वासघातिनी रजनी । कब ह्वै = कितने समय में, किस क्षण ।

तिलक—हे सखी, रात की कथा सुन, जिस प्रकार इन नेत्ररूपी चकोरों ने उसे बिताया । (अपनी सुधा से) जिलानेवाले सुजान प्रिय का मुखचंद्र ज्यों ही इन्होंने देखा त्यों ही कुछ नई रीति दिखाई पड़ी । अभिलाषों के कारण उतावली की वह घटा सहसा छा गई, आनंद के बादलों को लिए हुए । फल यह हुआ कि वह विश्वासघातिनी रजनी न जाने कब व्यतीत हो गई, उसके समाप्त हो जाने का पता तक न चला । ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे रात्रि होने (चंद्रोदय होने आदि) का केवल भ्रम हुआ ।

व्याख्या—सुनि० = सुनाने की अत्यधिक उत्सुकता संकेतित है, सखी सुनने पर पूरा ध्यान नहीं दे रही है, इसी से 'सुनि री' कहकर उसे उन्मुख किया जा रहा है । सजनी में स्वजनत्व होता है, अपनापन होता है, इसी से यह शब्द चुना है । रजनी शोभावाली होती, रुचती है । इसी से 'रजनी' नाम रखा । रात की घटना, रात के बीतने की घटना । प्रिय के दर्शन के कारण रात की विशेषता की समाप्ति की गाथा । मुख० = मुखचंद्र में 'मुख-सुधाधर' की ओर संकेत है । सुजान और सजीवन दोनो विशेषण इसीसे हैं । अमृत चेतना (ज्ञान) लानेवाला और संजीवन करनेवाला है । 'लखना' दूर से देख पाने के लिए है । इतना आभास मिला कि चंद्रोदय हो रहा है बस इतने में ही । 'कछु रीति नई' कहने में यह संकेत है कि इसके पूर्व कोई संभावना नहीं थी, कोई आशंका नहीं थी कि बादल आ जाएँगे । अभिलाषनि० = अभिलाष इतने अधिक थे कि उन्होंने बादल बनने में योग दिया । देखने, मिलने, स्पर्श करने, आलिंगन करने, वार्ता करने आदि के नानाविध अभिलाष । 'आतुरताई' से सहसा घटा छाने की ओर भी संकेत है । नेत्र में उतावली होने पर क्या होता है—आँसू आते हैं, आनंद के आँसू आते हैं । 'कौन बियोग भरे अँसुवा जु संयोग में आगेई देखन धावत' । अथवा द्विजदेव के आनंदाश्रु—'पै द्विजदेव न जानि परयौ धौं कहा

तेही काल परे अँसुवा जगि, तू जो कहै सखि लोनो सरूप सो मो अँखियानि में लोनो गई लगि'। संयोग में भी देखते नहीं बनता—'देखत बनै न देखतैं बिन देखें अकुलाहिं'। कामनाओं से अंत:करण से बाष्प की-सी उठान होती है। 'तब ही' कहने में देर न लगने की ओर संकेत है। देखने का अवसर ही न मिला। घटा भी आनंद के घन की ही थी। 'आनि छई' न जाने कहाँ से, किस ओर से आकर छा गई। सु बिहाति० = उसके बीतने का अनुभव हो नहीं हुआ। भ्रम का अनुभव अवश्य हुआ। 'बिहात' में विभात (= प्रभात) की ओर भी संकेत हो सकता है, उसके प्रभात में परिणत होने में देर नहीं लगी। मुखचंद्र 'सुधाघर' का और यह 'बिसवासिनी' विष को बसाए रहनेवाली हुई। प्रिय और प्रेमी के मध्य केवल भ्रम का अंतर है। ब्रह्म और जीव के बीच केवल भ्रम (माया) का अंतर है। माया का आच्छादन यदि न रहे तो 'सोहम्' का बोध हो। माया ब्रह्म से संबद्ध न होकर जीव से संबद्ध है। उसी का भ्रम है।

पाठांतर—लखि–लगि।

मन जैसें कछू तुम्हैं चाहत है सु बखानिये कैसें सुजान हौ हौ।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे बावरे लौं लगियै नित लौ।
बुधि औ सुधि नैननि बैननि मैं करि बास निरंतर अंतर गौ।
उघरौ जग छाय रहे घनआनँद चातिक त्यौं तकियै अब तौ ॥८०॥

प्रकरण—प्रिय के अनुराग में प्रेमी कितना तन्मय है इसी का वर्णन है। वह अपने तन्मयीभवन की स्थिति बताता है। कहता है कि मैं जितना आपको चाहता हूँ वह अकथनीय है। फिर आप ऐसे सज्ञान को बताना ही व्यर्थ है, स्वयम् समझ लें। मेरे जी के केवल आप ही शरण हैं। उसकी वृत्ति पागलों की-सी है। मेरा अंत:करण तो आपकी प्रेम-साधना और आपके ध्यान में ऐसा लगा कि अब केवल आप मेरे सामने हैं, सारे संसार की प्रतीति समाप्त हो गई है। चातक की भाँति केवल देखना है।

चूर्णिका—जैसे कछू = जैसा कुछ, जितना अधिक। चाहत हैं = प्यार करता है। सु = वह। बखानियै० = उसका वर्णन कैसे करूँ उसका विवरण क्या दूँ। सुजान = आप स्वयम् चतुर हैं, बिना बताये जान सकते हैं। गति० = आप ही इन प्राणों के लिए एकमात्र शरण हैं। लौ = लगन, प्रीति। अंतर =

मन । बुधि० = बुद्धि, स्मृति, नेत्रों और वचनों में क्रमशः बसता हुआ । मन अब चला गया है (पहले प्रिय का बुद्धि से चिंतन किया, फिर उसका स्मरण, फिर नेत्रों में उनको देखने की लालसा, फिर वाणी से उसके गुणों का गान—इन सबमें अंतःकरण का संनिकर्ष बराबर रहा) । मन के चले जाने से अब विमनस्क की स्थिति है । उघरौ० = संसार हट गया । छाय० = हे आनंद के घन, केवल आप ही छाए हैं । त्यौं = सदृश । चातिक = अब तो जैसे चातक को घन का, उसमें स्वाती के जल का, आसरा-भरोसा रहता है—वैसे ही मुझे आपका है । उघरौ० = मन के आपमें समा जाने से और मन में आपके आ जाने से मेरी वृत्तियाँ संसार से हट गईं । अतः अब जगत् मेरे सामने रह ही नहीं गया है । केवल आप ही आप रह गए हैं । ब्रह्ममय हो जाने से जैसे साधक को 'इदम्' का बोध नहीं होता केवल सोहमस्मि' की प्रतीति होती है ।

तिलक—हे प्रिय, मेरा मन जैसा कुछ आपको चाहता है उसे आपसे क्या बताऊँ । आप स्वयम् सुजान हैं, समझ सकते हैं कि वह आपमें कितना तन्मय है । फिर भी इतना तो कहना ही है कि मेरे जी के लिए आपके अतिरिक्त कोई दूसरी शरण नहीं है, सदैव उसकी यही वृत्ति है । केवल आपमें लौ लगी है, पागल की भाँति मेरा जी आपको ही ध्यान में रखे हुए है । मेरा अंतःकरण बुद्धि के द्वारा आपके अचिंत्य रूप की ही तर्कणा करता रहा, स्मृति में उसने आपको ही बसाया । नेत्रों में उसने आपके दर्शन किए और वचनों में वह आपके ही गुणों का आख्यान करता रहा । किसी की आंतरिक चेतना समाप्त होने में पहले उसकी बुद्धि क्षीण होती है, फिर स्मृति, फिर नेत्र-ज्योति और अंत में वचनों के कहने की शक्ति । मेरे अंतःकरण की समाप्ति भी इसी प्रकार हो गई । इन सबसे मन हट गया, केवल इनमें आप ही रह गए । अतः सारा जगत् हट गया, केवल आप ही उसमें व्याप्त हो गए । जैसे चातक के लिए घन केवल दर्शनीय रह जाए, क्योंकि वह तो अपने लिए पानी की बूँद भी नहीं चाहता, प्रिय के दर्शन की लालसा भर चाहता है । द्रष्टा और दृश्य की समाप्ति है, केवल दर्शन रह जाता है । पूर्ण अद्वैत की स्थिति में शुद्ध दर्शन रह जाता है ।

व्याख्या—मन० = चाहनेवाला मन है और कहनेवाली जीभ है । दूसरे का अनुभव दूसरा कैसे कहे । 'जैसे' में यह भी व्यंजित है कि वेदनाओं को

भोगता हुआ भी। 'कछू' में अत्यधिक की व्यंजना है। 'तुम्हें' में अन्य का निषेध है। 'चाहना' इच्छा की प्रक्रिया है, इच्छा केवल आपकी ओर प्रवृत्त होती है। 'बखानने' में केवल कहना नहीं होता, प्रशंसा का भी भाव होता है। अपनी ओर से यदि उसे कहें तो उसमें आत्मप्रशंसा की झलक आ जाएगी जैसा करना ठीक न होगा। 'सुजान' हैं तो जान ही लेंगे, पर यदि अजान हों तो कहना भी व्यर्थ जाएगा। 'सुजान कहाय अजाननि आगौ' से भला क्या कहेंगे। मेरी धारणा यही है कि आप सुजान हैं, आचरण चाहे आप जैसा करें। इन = इन प्राणों की गति जो विरह की चरम वेदना में दग्ध हैं। एक अर्थात् केवल, दूसरे सदा अर्थात् अनुकूल व्यवहार हो या प्रतिकूल शरण आप ही हैं। बावरे की भाँति जी से किसी की न सुनना, किसी को न मानना, अपनी धुन में ही रहना। आधुनिक मनोविज्ञान ने सिद्ध किया है कि पागलपन के मूल में काम की वासना ही होती है। अतः अत्यंत प्रेम और प्रेम की पूर्ति होने पर किसी प्रेमी का पागलों का-सा व्यवहार हो जाना स्वाभाविक है। जो स्थिति प्रेम में होती है, वह भगवद्भक्ति में भी। दोनों की एक ही वृत्ति होने से। भक्त भी भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर तद्वत् व्यवहार करने लगते हैं। ये भगवान् की भक्ति में लीन होने पर अपने को ही भगवान् समझ बैठते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस काली के लिए पुजारी की दी माला स्वयम् पहन लेते थे, अपने को काली मानकर। उनका काली से अभेद हो गया था। दूसरों की दृष्टि में यह पागलपन समझा जाता है। इसी को और स्पष्ट कर तीसरे चरण में प्रकट करते हैं। बुधि० = प्रिय का प्रभाव पहले बुद्धि पर पड़ा अर्थात् विवेचन-शक्ति नहीं रह गई। फिर स्मृति पर पड़ा, विस्मृति की स्थिति आई, अपने और प्रिय के अतिरिक्त अन्यों के प्रति। बुद्धि तन्मय। स्मृति तन्मय। फिर नेत्र तन्मय हुए और अंत में वचन भी तन्मय हो गए। फल यह हुआ कि जो मन इनके संनिकर्ष में था वह भी तन्मय हो गया। न बुद्धि की अहंता रही, न स्मृति की, न नेत्रों की, न वचनों की और न मन की। ये सब तन्मय हो गए। जगत् के लिए तीन प्रकार की वृत्तियाँ अपेक्षित रहती हैं—अहंवृत्ति, ममत्ववृत्ति और भेदवृत्ति। अहंवृत्ति समाप्त हो गई तन्मय होने से, मन के न रह जाने से ममत्ववृत्ति भी नहीं रही और जग के हट जाने से भेदवृत्ति भी न रही। उघरौ० = जो जग

सब प्रकार से छाया था वह हट गया, केवल आप ही छाए रह गए। आप आनंद के बादल हैं। मेरी स्थिति चातक के मेघ-दर्शन की-सी रह गई। चातक को केवल मेघ दिखाई देता है। सर्वत्र वह मेघ ही दिखता है। जीव, जगत् और ब्रह्म में से यदि 'जगत्' हट जाय तो जीव और ब्रह्म की एकता हो जाती है। इसे यों समझिए कि यदि जीव ब्रह्मास्मि का अनुभव करने लगे तो जगत् हट जाता है। यहाँ प्रेम और दर्शन दोनो क्षेत्रों की एकवाक्यता की गई है। यह तत्त्वतः कवि का 'प्रेम-दर्शन' ही है। जब द्रष्टा अपनी व्याप्ति कर लेता है तो 'दृश्य' उसके सामने कुछ नहीं रह जाता। वह आत्मदर्शन और विश्वदर्शन में एकता स्थापित कर लेता है। 'सर्वत्र मैं ही हूँ' का ज्ञान हो जाने से, अनुभूति हो जाने से न 'अहम्' रह जाता है और न 'इदम्' या 'तत्' रह जाता है। 'अहम्' और 'तत्' का अद्वैत हो जाने पर ही वह निष्केवल स्थिति आती है।

पाठांतर---लगियै-लगि नै।

लगियै रहै लालसा देखन की किहि भाँति भटू निस-द्यौस कटै।
करि भीर भरी यह पीर महा बिरहा तनको हिय तें न हटै।
घनआनँद जान सँयोग समै बिसमै बुधि एकहि बेर बटै।
सपनो सो टरै फिरि सौ गुनौ चेटक बाढ़त डाढ़त घोटि घटै ॥८१॥

प्रकरण---संयोग के समय जब प्रिय प्रत्यक्ष उपस्थित होता है तब भी उसके दर्शन नहीं हो पाते। इसका यह फल होता है कि रात-दिन प्रिय-दर्शन की लालसा बनी ही रहती है। प्रेमिका अपनी सखी से इसी स्थिति का वर्णन कर रही है। बता रही है कि यह विरह वियोग में तो रहता ही है, संयोग में भी बना रहता है। संयोग के समय बुद्धि और विस्मय दोनो मिलकर एक हो जाते हैं। केवल विस्मय होकर रह जाता है। इसीसे प्रिय के चले जाने पर ऐसा जान पड़ता है कि उनके दर्शन का स्वप्न मात्र हुआ है। माया ऐसी बढ़ती है कि शरीर को जला डालती है।

चूर्णिका---भटू = (बधू) हे सखी। कटै = बीते। भीर = समूह। करि० = पीड़ा भीड़ के रूप में भर गई है। अत्यधिक वेदना हृदय में समाई है। बिरहा० = विरह थोड़ा भी मन से हटता नहीं। समै = समय) बेला। बिसमै० = (विस्मय) आश्चर्य। एकहि० = एकबारगी। बटै = बट जाती है,

रस्सी की लड़ी की भाँति मिलकर एक हो जाती है। बिसमै० = बुद्धि एकबारगी आश्चर्य में लीन हो जाती है, अचरज में पड़ जाती है। सपनो० = जिस प्रकार स्वप्न आते और तुरंत चले जाते हैं, उसी प्रकार उनका संयोग भी क्षणस्थायी ही होता है। चेटक = जादू, माया। डाढ़त = जलाता है। घटैं = घट को, शरीर को। घोटि = शरीर को घोंट डालता है। सपनो० = प्रिय के संयोग का समय इतनी शीघ्रता से समाप्त हो जाता है जैसे स्वप्न। फिर अत्य० धिक माया बढ़ती है जो जलाती है और शरीर को घोंट डालती है।

तिलक—हे सखो, घने आनंददायक प्रिय सुजान के संयोग का समय जब आ उपस्थित होता है तब एकबारगी बुद्धि विस्मय में लीन हो जाती है। बुद्धि का पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। केवल विस्मय रहता है, अतः देखकर भी प्रिय के देखने का अवसर नहीं मिलता। वियोग में तो उनके देखने की लालसा रहती ही है, संयोग में भी उनके न देखे जा सकने के कारण यह लालसा ज्यों की त्यों बनी रहती है। जब सदा देखने की लालसा बनी ही हुई है तब भला ये दिन और ये रातें किस प्रकार बीतें। लालसा की किसी प्रकार पूर्ति न होने से और संयोग में प्रिय के न देखे जाने से विरह हृदय में ज्यों का त्यों बना रहता है, थोड़ा भी नहीं हटता। पीड़ाएँ एक के अनंतर एक इतनी अधिक वहाँ एकत्र हो जाती हैं कि उनका मेला लग जाता है, भारी भीड़ हो जाती है। प्रिय का संयोग उसी प्रकार शीघ्र दूर हो जाता है जिस प्रकार कोई स्वप्न। उसके हटते ही सौगुनी माया बढ़ती है और उससे शरीर जलने लगता है, घुटने लगता है।

व्याख्या—लगियै० = बहिर्मन में जब तक चिंतन की वृत्ति बनी रहती है तब तक समय के समाप्त होने का अनुभव नहीं होता। मन बहिर्मुख रहता है, अंतर्लीन हो तो समय का ज्ञान उसे न हो। लालसा पीछे लगी रहती है, उससे मुक्त हो तो समय का बंधन भी टूटे। प्रत्येक क्षण बीतना कठिन है, रात-दिन का बीतना तो बहुत कठिन है। करि० = एक तो लालसा नहीं हटती, दूसरे विरह नहीं हटता। वह अकेला नहीं रहता। उससे पीड़ाओं का मेला लगा रहता है। लालसा पीछे लगी है। घर में पीड़ाएँ भर गई हैं, विरह हटाने से हटता नहीं। घोर अशांति का दृश्य है। इसमें शांति कैसे मिले। घन० = प्रिय के संयोग का समय अत्यंत आनंददायक है। अमृतमय है, पर उसमें 'बिसमै'

(विषमय) स्थिति भी है। उसमें बुद्धि एकबारगी चक्कर खाने लगती है। सपनो० = स्वप्न देखने में प्रिय और परिणाम में अप्रिय होता है। प्रिय का संयोग प्रिय, पर उसका परिणाम अप्रिय। यदि प्रिय का संयोग न हुआ होता तो, वियोग ही वियोग बना रहता, तो सौगुनो माया न बढ़तो। उसमें प्रचंडता न आती। जादू भी विस्मय उत्पन्न करनेवाला होता है। बुद्धि में विस्मय छा गया है इसी से वियोग में वह बढ़ता ही जाता है। शरीर को पहले घोंटता है फिर जलाता है।

पाठांतर—घोटि–घोरि।

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ झझकैं कपटो जे निसांक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटांक नहीं ॥८२॥

प्रकरण—प्रिय के समक्ष प्रेममार्ग की विशेषता का वर्णन कर प्रेमी यह दिखा रहा है कि आप इसकी विशेषता का पालन नहीं कर रहे हैं। उसकी स्थापना है कि यह मार्ग सीधा है। इसमें सरलता है। चतुरता यहाँ कुछ भी नहीं, बाँकपन यहाँ कुछ भी नहीं। यहाँ अपनत्व का दान कर देना पड़ता है। यहाँ निष्कपट व्यवहार होता है। कपटी यहाँ हिचकते हैं। इस मार्ग में केवल एक ही चिह्न, एक ही निश्चय, रहता है, प्रिय से प्रेम करना। दूसरी कोई बात इसमें नहीं आती, पर आपने न जाने क्या पट्टी पढ़ रखी है कि मन लेकर भी कुछ देते नहीं।

चूर्णिका—सूधो = सीधा, सरल, ऋजु। सयानप = चतुरता। बाँक = (बंक) टेढ़ा। जहाँ = इसमें टेढ़ा चातुर्य थोड़ा भी नहीं, इसमें कुटिलता का नाम नहीं। साँचे = सच्चे, ईमानदार प्रेमो। आपनपौ = अपनत्व। झझकैं = हिचकते हैं। निसांक = निःशंक। एक तें = प्रिय के प्रेम की जो रेखा खिच गई उसके अतिरिक्त दूसरी कोई रेखा नहीं खिच सकतो। प्रिय के प्रेम का जो निश्चय हो गया वही बना रहता है, फिर दूसरा निर्णय कभी नहीं होता। पाटी = पट्टी। पट्टी पढ़ना = ज्ञान या शिक्षा प्राप्त करना। तुम० = आपने न जाने कैसी पट्टी पढ़ रखी है, न जाने कैसी शिक्षा पाई है। मन = हृदय; ४०

सेर। छटाँक = थोड़ा; सेर का सोलहवाँ भाग। 'मन' को उलटने से 'नम' = नमस्कार, झुकाव, प्रवृत्ति और छटाँक को उलटने से कटाँछ (कटाक्ष) भी होता है [अथवा छटा + अक = शोभा की झलक]।

तिलक—हे प्रिय, प्रेम का मार्ग अत्यंत ऋजु है। इसमें कहीं भी टेढ़ा चातुर्य नहीं है। इसमें चतुराई का टेढ़ापन है ही नहीं। जो चातुर्य करेगा वह इस मार्ग में चल नहीं सकता। इसमें केवल सच्चे प्रेमी ही चलते हैं। वे चातुर्य क्या, अपनत्व तक को भूले रहते हैं। जो कपटी हैं, कुटिल हैं, वे उनकी भाँति निःशंक इस पर नहीं चल पाते, उन्हें इस मार्ग पर चलने में झिझक होती है। हे घन आनंददायक सुजान प्रिय, आप सुन लें कि इस मार्ग पर केवल एक ही रेखा, एक ही अंक, एक ही निश्चय रहता है प्रिय के प्रेम का, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं। आपको सुनाने की आवश्यकता यों है कि आप केवल लेना जानते हैं देना नहीं। और यह मार्ग सर्वस्व दान करनेवालों का है। आपने मन तो ले लिया पर उसके बदले में छटाँक भी नहीं दिया। चालीस सेर लेकर कम से कम चालीस सेर ही देना चाहिए। अधिक देने की प्रशंसा है। पर आप तो उसका ६४० वाँ भाग भी नहीं देते। एक छटाँक देने में भी लेन-देन माना जाता है पर यहाँ वह भी नहीं। प्रेमी की ओर से 'मन' गया तो प्रिय की ओर से 'नम' झुकाव, उन्मुखता होनी चाहिए। बदले में छटा का अंक, शोभा की झलक मिलनी चाहिए, अथवा छटाँक का उलटा कटाक्ष मिलना चाहिए। पर वह भी नहीं।

व्याख्या—अति० = इतना सरल मार्ग है यह कि इसपर अज्ञान से अज्ञान व्यक्ति भी चल सकता है। भोलापन इसका नित्य लक्षण है। मार्ग सीधा होने से कोई भी उसपर चलनेवाले को अधिक से अधिक दूरी से देख सकता है, दुराव-छिपाव का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। टेढ़े मार्ग पर जाने की आवश्यकता तब होती है जब कोई किसी से अपने को छिपाना चाहे, उस मार्ग पर उसे कोई चलता न देख सके। 'सनेह' से चिकनापन भी, यह रूखा मार्ग नहीं, इसमें सरसता है। हृदय में सरसता और बुद्धि में रूखापन होता है। सयानेपन में सचाई नहीं रहती, चतुराई में झूठ आता ही है। इसी से यहाँ चातुर्य का नाम नहीं। टेढ़ापन होने से भोले-भाले तो इस पर चल ही न सकेंगे, भटक जाएँगे।

तहाँ० = केवल सच्चे ही चलते हैं। अपनत्व का परित्याग इसलिए कर देते हैं कि उसके कारण टेढ़ापन आने की, झूठ के प्रवेश की संभावना या आशंका रहती है। अहंता का विसर्जन प्रेममार्ग का नित्य लक्षण है। संशय यहाँ रहता नहीं—संशयात्मा विनश्यति। यहाँ निःशंक रहने की आवश्यकता है। जो निःशंक न होगा उसे कुछ न कुछ कपट करना पड़ेगा, वह इस मार्ग से विचलित होगा। अहंता—स्वार्थ—के आ जाने से त्याग-वृत्ति नहीं रह सकेगी। घन० = आप 'घन आनंद' हैं, केवल अपने आनंद को ही देखनेवाले हैं, आप सुजान हैं, ज्ञान-सम्पन्न हैं, चातुर्ययुक्त हैं। इस प्रेममार्ग में प्रिय के अतिरिक्त अथवा प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रवेश नहीं। 'एक आँक' का अर्थ निश्चय होता है।—एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं।—तुलसीदास, रामचरितमानस, द्वितीय सोपान। एक निश्चय जो हो गया, हो गया। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। तुम० = ऐसी पट्टी किसी ने नहीं पढ़ी, ऐसी शिक्षा कभी किसी को नहीं मिली। ऐसी पट्टी किसी की जानी-समझी नहीं। आप ही ने पढ़ी है, किसी दूसरे ने नहीं। जो कहीं मन भर वस्तु लेता है उसे छटाँक देने की चिंता नहीं रहती है अपने पास से देना ही क्या है।

विशेष—यहाँ 'परिवृत्ति' अलंकार है। 'परिवृत्ति' शब्द का अर्थ है परिवर्तन, लेन-देन। तीन प्रकार की परिवृत्ति मानी जाती है—अधिक लेकर थोड़ा देना, थोड़ा लेकर अधिक देना, सम लेकर सम देना। लेकर कुछ न देने में परिवृत्ति नहीं मानते अथवा ऐसे उदाहरण नहीं मिलते। अब यहाँ विचारणीय यह है कि चमत्कार इसमें लेन-देन का है या नहीं। यहाँ भले ही कुछ दिया न गया हो, पर चमत्कार लेन-देन का ही है। परिवृत्ति अलंकार का मेरे विचार से एक चौथा भेद भी मानना चाहिए जहाँ कुछ या अधिक लेकर कुछ भी न देने की चर्चा की गई हो।

पाठांतर—यहाँ–इत। कहो–लला।

करुवो मधुर लागै वाको बिष अंग भएँ,
यहि देखें रसहू में कटुता बसति है।
वाके एक मुख ही तें बाढ़त बिकार तन,

यह सरबंग आनि . प्राननि गसति है।
सुंदर सुजान जू संजीवन तिहारो ध्यान,
तासों कोटि गुनी ह्वै लहरि सरसति है।
पापिनि डरारा भारी साँपिनि निसा बिसारी,
बैरिनि अनोखी मोहि डाहनि डसति है ।।८१।।

प्रकरण—वियोग के समय रात्रि सर्पिणी से भी बढ़कर कष्टदायिनी होती है, इसी का विवेचन इसमें किया गया है। प्रिय को संदेश भेजा गया है या प्रिय को कल्पना में स्थित करके यह स्थिति निवेदित की गई है। सर्प जिसे काट लेता है उसे नीम या अन्य कड़वी वस्तु खिलाते हैं। यदि उसे कड़वी वस्तु मीठी लगे तो समझ लेना चाहिए कि विष का असर हो गया। नागिन का विष कड़वी वस्तु को मीठा कर देता है पर रात्रि से मीठी वस्तु में कड़वापन आ जाता है। वह मुख से ही काटती है, रात्रि अपने सारे अंगों से शरीर में विष फैलाती है। जिसको विष चढ़ जाता है उसे संजीवनी बूटी खिलाने से विष उतर जाता है। यहाँ संजीवनी बूटी से विष बढ़ता है। वह ईर्ष्या से नहीं डसती, छेड़ने से डसती है।

चूर्णिका— वाको = नागिन का। अंग० = शरीर में प्रविष्ट होने से। याहि = रात को। रसहू = आनंद में; मीठे पदार्थ में। कटुता० = विषाद हो जाता; कड़वापन आ जाता है। करुवो० = साँप का विष शरीर में फैल गया हो तो कड़वी वस्तु मीठी प्रतीत होती है। वाके = नागिन के। बिकार = दोष (विष)। यह = रात। सरबंग = सर्वांग से, सब अंगों से। आनि = आकर। गसति० = गँस लेती है, भली भाँति पकड़ लेती है। संजीवन० = यद्यपि आपका ध्यान जिलानेवाला है, संजीवनी बूटी है तथापि। लहरि = विष का दौरा। सरसति० = बढ़ती है। डरारो = डरावनी, भयप्रद। बिसारी = विषैली। डाहनि = दूसरों की ईर्ष्या से। डसति० = काटती है। डाहनि० = रात नागिन से बढ़ जाना चाहती है, इसलिए उससे होड़ लगाकर मुझे भली भाँति डसतीहै।

तिलक—हे सुंदर सुजान प्रिय, यह रात्रि पापिनी बड़ी डरावनी, भारी विषैली, विलक्षण बैरिन मुझे होड़ में डस रही है। इसने नागिन से होड़ लगा रखी है। उससे प्रचंडता में बढ़ जाना चाहती है, इसलिए इसने अपना विष

अधिक प्रभावकारी बना लिया है। नागिन का विष यदि शरीर में फैल जाए तो कड़वी वस्तु मीठी लगने लगती है, पर इसने उससे बढ़कर यह विषैला प्रभाव उत्पन्न कर रखा है कि रस (मीठा; आनंद) भी कड़वा (कटु; विषाद) हो जाता है। रात्रि में वियोग के समय कोई भी सुखद वस्तु सुखद नहीं प्रत्युत दुःखद ही प्रतीत होती है। वह तो केवल अपने मुख से डसती है पर रात अपने सभी अंगों से कष्ट देती है। प्राणों को तो भली भाँति पकड़ लेती है। नागिन का विष संजीवनी बूटी से उतर जाता है। पर आपका संजीवन (जिलाए रखनेवाला) ध्यान करने से तो विष उतरने के स्थान पर विष के दौरे करोड़ गुने होकर बढ़ने लगते हैं। वह चोट पहुँचने पर, दबने पर, काटती है। यह तो होड़ में ही मुझे डस रही है।

व्याख्या—करुवो० = कड़वी वस्तु का मीठी लगना तो गुण है। कड़वाहट हटा देना साधारण प्रयास नहीं। इसलिये उसका विष उतना भीषण नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह कि जब तक साँपिन काटे नहीं और काटने पर उसका विष अंग में प्रविष्ट न हो तब तक उसका कोई असर नहीं होता इसीसे विष का प्रभाव न फैलने देने के लिये जहाँ सर्प काटता है उसके पास से लेकर जितने संधिस्थान होते हैं उन्हें कसकर तुरंत बाँध देते हैं जिससे विष का असर रक्त के प्रवाह के साथ सारे अंग में न होने पाए। केवल नागिन के देख लेने से उसे छू लेने से विष नहीं चढ़ता। पर रात्रि को केवल देख लेने से मीठे में कड़वाहट हो जाती है। इसका प्रवाह उससे अधिक हुआ। काटने पर न जाने कितनी अधिक प्रखरता होगी। बिहारी ने सोने की मादकता का कथन इसी प्रकार किया है—'कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय। वा खाए बौरात है या पाएँ बौराय ॥' यहाँ तो पाने का भी प्रश्न नहीं, देखने से ही भयंकर विष व्याप्त हो जाता है। फिर वहाँ कटु का मधुर कुछ समय तक के लिए होता है। वह कड़वी वस्तु की प्रकृति नहीं बदल सकतो। पर यहाँ तो कटुता बस जाती है, मीठापन फिर से लौटने की संभावना ही नहीं रह जाती। 'रसहू' में यह व्यंजना है कि कड़वी वस्तु तो महा कड़वी हो जाती है। रस में भी कड़वापन जब आ गया तो कटु का क्या कहना। वाको० = सर्प काटता है और उलट जाता है। उसके दाँतों में विष की थैलियाँ इस प्रकार हैं कि केवल

दाँत लगाने से ही वैसा प्रभाव नहीं पड़ता जब तक कि विष की थैलियों का विष भी वहाँ तक न पहुँचे। मुख से ही विष का संबंध है। मुसहर तो सर्पों का सिर काटकर फेंक देते हैं और शेष अंश अन्य मांस की भाँति भूनकर खा जाते हैं। सर्प के सारे अंग में विष नहीं होता। हाँ उनमें नागपाश की विधि होती है। कसकर बाँध लेते हैं तो छुड़ाए नहीं छूटते। कोई कोई सर्प पूँछ से मारते भी हैं। किसी की पूँछ में ऐसा विष होता है कि उसके मारने से घाव हो जाता है और घाव सड़ने लगता है। किसी के मुख की साँस से फफोले पड़कर सड़ते हैं आदि। सर्पों में अनेक जातियाँ हैं उनमें कहीं थोड़ा-बहुत विष अन्य अंग में भी होता है। पर सामान्यतया सर्प के मुख में ही विष होता है और वह मुख से ही डसकर विष प्रविष्ट करता है। यह सर्वांग से पकड़ती है, काटती है। नागिन सर्वांग से नहीं काटती है और एक साथ सर्वांग को नहीं पकड़ती। पर यह सर्वांग को ग्रस लेती है। इसका विकार पहले तन में बढ़ता है फिर प्राणों पर प्रभाव डालता है। किसी-किसी का प्रभाव प्राणों तक नहीं पहुँच पाता। पर यह तो सीधे प्राणों को ही पकड़ लेती है। प्रायः नागिन आकर नहीं काटती, जो उसके निकट जाता है उसे ही और आहत, कुपित आदि होने पर काटती है। यह तो बिना आहत किए अपने-आप आकर काटती है। सर्प को 'पाणिघ्म' कहते हैं। हाथ से थपोड़ी बजाने पर वह भाग जाता है। इसी से गाँवों में शौचादि के समय थपोड़ी पीटते हैं। उसकी ध्वनि से सर्प भाग जाए। कभी-कभी कुपित हो जाने पर अवश्य जिसे भी पाते हैं दौड़कर काटते हैं। एक व्यक्ति उन्हें क्रुद्ध कर दे तो वे उस मार्ग से जानेवाले प्रत्येक पर आक्रमण करते हैं। पर सब नहीं। सुंदर० = कोई 'सुजान' गुणी गारुड़ी, सर्पविष उतारने वाला यदि अपनी संजीवनी बूटी खिलाता है तो सर्प का विष चाहे एक-दम हट न जाए उससे कुछ कम होता ही है। पर यहाँ उससे तो और भी करोड़ गुना विष का दौरा बढ़ जाता है। यहाँ अच्छा गुनी, कोई बूटी काम नहीं करती। पापिनि० = बिना किसी अपराध के ही कष्ट देनेवाली है। डरावनी भी है। सब नागिनें डरावनी नहीं होतीं, देखने में अच्छी भी लगती हैं। भारी भी है, आकार इतना बड़ा है कि किसी नागिन का इतना बड़ा हो नहीं सकता। बिसारी० = विषैली भी यह उससे बहुत अधिक है। यह ऐसी बैरिन है कि दूसरी देखी नहीं। दूसरे से होड़ बदकर कोई वैर नहीं करता। निष्प्रयोजन किसी से वैर कोई नहीं ठानता।

पाठांतर—तासों-बातें।

कारो कूर कोकिला कहां को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै।
पैडें परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्यौं ही,
चातक घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लै।
आनंद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेलो सब घेरौ दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन बिनोद-बरसावन वे,
तो लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥८४॥

प्रकरण—वियोग में सभी सुखद वस्तुएँ दुःखद हो जाती हैं। सबसे अधिक कष्ट देनेवाली दो ऋतुएं कवि-परंपरा में मानी जाती हैं—वसंत और वर्षा। वर्षा में बादल गर्जन करते हैं। उनसे तो कष्ट होता ही है, कोयल मोर और चातक की बोली भी कष्ट देती है। इसमें प्रत्येक कष्टदायक को विरहिणी संबोधित करके खोझकर उनसे अपनी शक्ति भर अधिक से अधिक वेदना दे लेने को कहती है।

चूर्णिका—बैर काढ़ति = बदला निकालती है। किन० = कुरेदकर निकाल क्यों नहीं लेती। पैडें० = पीछे पड़े हैं। कलापी = (कलाप = मयूर की पूँछ, कलापिन्) मयूर। घेरौ = घेरनेवाला। दल = सेना। बिनोद० = विनोद अर्थात् आनंद की वृष्टि करनेवाले, सुखदायी। डरारे = डरावने, भयंकर। बजमारे = वज्र मारनेवाला; व्रज का मारा हुआ, जो वज्र के मारने पर भी न मरे (स्त्रियों की गाली), परम दुष्ट। घोरि = गर्जन कर ले।

तिलक—आनंद के घन और प्राणों के जीवन (जल और जिलानेवाला) प्रिय सुजान के वियोग में ऐ काली-कलूटी क्रूर कोकिला तू मुझसे कब का बदला चुका रही है। यदि कूक ही रही है तो इतना अधिक कूक कि उससे मेरा कलेजा निकल जाए। अपनी कूक से खुरचकर मेरे कलेजे को शरीर से बाहर कर ले, मुझे मार डाल। कोयल वैर निकल रही है तो मोर मेरे पीछे पड़ गए हैं। रात-दिन ये पापी बोलकर सताते रहते हैं। जैसे ये सता रहे हैं वैसे ही चातक तू भी मेरे लिए घातक हो रहा है। तू भी इतना अधिक बोल ले कि मेरे कानों

की फोड़ डाल। न कान बचेंगे न तेरी ध्वनि सुनाई पड़ेगी। ऐ बजमारे डरावने बादल, मुझे अकेली जानकर अपनी सारी घिराववाली सेना इकट्ठी कर ले और जब तक आनंद की वृष्टि करनेवाले वे (प्रिय) नहीं आ जाते हैं तब तक तू भी मन भर गर्जन कर ले, विषाद की वृष्टि करके मुझे मनमाना कष्ट पहुँचा ले।

व्याख्या—कारी० = काली विशेषण देकर उसके कुकृत्य का प्रत्यक्षीकरण किया है। 'कूर' कहकर क्रूरता का संकेत करते हुए उसके परभृत होने की याद दिला रहे हैं। जो अपने पालनेवाले की न हुई वह दूसरे की क्या होगी। तुझसे कभी वैर था इसका पता नहीं है। संयोग के समय तेरी वाणी की प्रशंसा ही की गई। तुझसे कोई झगड़ा-बखेड़ा नहीं किया गया। 'वैर काढ़ने' में वैर का बदला चुकाने में प्रचंडता का संकेत है। कोयल की कूक का प्रभाव सीधे कलेजे पर पड़ता है। इसकी वाणी कानों को फोड़ती नहीं, वहाँ से सीधे कलेजे पर पहुँचती है। कलेजा निकल तो रहा है पर पूरा नहीं निकल पाता है। कदाचित् निरंतर कूकती रहे तो निकल पड़े। जो वस्तु अधिक चिपकी रहती है उसे कोरकर निकालते हैं। पँडें० = पीछे पड़े हैं, जहाँ जाती हूँ वहीं ये भी पहुँच जाते हैं। 'पापी' का तात्पर्य बिना अपराध के किसी को कष्ट देना है। चातक की वाणी कानों के परदे पर विशेष प्रभाव डाल रही है। कोकिल का स्वर पंचम होता है वह कलेजे से निकलता है, उसका प्रभाव इसी से कलेजे पर सीधे पड़ता है। मयूर की केका सतत होती रहती है, इससे उससे बचाव नहीं। चातक की वाणी 'पी कहाँ' कहती है। इसे सुनने में प्रिय की स्मृति और बढ़ती है, अतः कान फोड़ डालने की कहती है। आनँद० = प्रिय ही केवल आनंद के मेघ हैं। प्राणों के जिलानेवाले जल हैं। सुजान से रहित होने पर इन सबका ज्ञान बढ़ गया। इन्होंने अच्छी जानकारी कर ली कि मैं अकेली हूँ। सामने से कोयल घेर रही है, पीछे से मोर, पार्श्व से चातक और ऊपर से बादल। जौ० = उनके आने में मुझे देर नहीं जान पड़ती, वे आते ही हैं। वे आए, तुम सबके उपद्रव नष्ट हुए। वे विनोद की वृष्टि करते हैं—वे विनोद के वर सावन (श्रेष्ठ श्रावण) हैं। बहुत अधिक वृष्टि करनेवाले हैं। ऐ मेघ, जो वज्र का मारा नहीं मरा वह बात का मारा क्या मरेगा।

विशेष—कोयल यद्यपि वर्षा में बोलती है, पर उतना नहीं जितना वसंत

में। इसी से शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार कोयल का कंठ वसंत में ही खोलना चाहिए। पर भक्त कवियों ने और स्वच्छंद कवियों ने शास्त्रीय व्यवस्था की चिंता उतनी नहीं की। उन्होंने अपने कान खुले रखे और अनुभव पर विश्वास किया। इसी से वर्षा में कोयल की वाणी तुलसीदास के काव्य में सुनाई पड़ती है तथा घनआनंद की कविता में भी।

(सवैया)

बैरी बियोग की हूकनि जारत कूकि उठै अचकाँ अधरातक।
बेधत प्रान बिना ही कमान सु बान से बोल सों कान ह्वै घातक।
सोचनि ही पचियै बचियै कित डोलत मो तन लाएँ महा तक।
वे घनआनँद जाय छए उत पैंडें पर्‌यौ इत पातकी चातक॥८५॥

प्रकरण—प्रिय के वियोग में चातक की वाणी विशेष कष्टकारक होती है। विशेष रूप से जब वह अचानक आधी रात के समय बोल उठता है। इसी पर विरहिणी कहती है। संबोध्य सखी को समझ लिया जा सकता है।

चूर्णिका—बैरी = यह वैरी चातक। कूकि० = 'पी कहाँ' की ध्वनि करने लगता है। हूकनि = पीड़ा से। अचकाँ = अचानक। अधरातक = आधी रात के समय। कमान = धनुष। सु = सो। से = समान। कान ह्वै = कानों की ओर से (कानों को अपनी कूक सुनाकर)। पचियै = परेशान होती हूँ। बचियै = बचूँ तो कैसे बचूँ। मो तन = मेरी ओर। तक = टक, टकटकी। लाएँ० = एकदम टकटकी लगाए हुए। पैंडें = पीछे पड़ गया है।

तिलक—वह वैरी चातक जिस समय अचानक आधी रात को 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की ध्वनि करता कूक उठता है उस समय वियोग की वेदनाओं से जलाने लगता है। उसके बोल बाण से हैं पर चलते हैं बिना किसी धनुष के ही। वे घातक बनकर कानों से होकर प्राणों को बेध देते हैं। सबसे बड़ा सोच तो यह है कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह मेरी ही ओर भरपूर टककी लगाए मुझे ही पूर्ण लक्ष्य किए, चल-फिर रहा है, इससे बचा भी जाए तो कैसे। इसी परेशानी में निरंतर पड़ी हूँ। वे आनंद के घन प्रिय तो जाकर वहाँ (परदेश में) छाए हुए हैं और उनका यह लाड़ला चातक पापी मेरे पीछे पड़ा है।

व्याख्या—बैरी० = यदि शत्रुता का व्यवहार न होता तो आधी रात में यह न बोलता, अचानक न बोलता, वियोग की वेदनाओं से भरी वाणी न बोलता। 'हूक' वह वेदना होती है जो शरीर में ऐसी समाई रहती है कि साँस तक लेने में कष्ट होता है और अचानक जिसकी चिलक होती है। रात में सहज ही इसकी तीव्रता हो जाती है। रात में विरहियों की व्यथा स्वतः ही बढ़ी रहती है। अचानक कोई कड़ा शब्द सुनाई पड़ता है तो जो व्यथित नहीं भी हैं वे भी चौंक जाते हैं। कूकने में केवल पुकारने का भाव नहीं है, अत्यंत वेदना-पूर्वक और तीव्र स्वर में बोलने का भी भाव है। 'हूकनि' में 'ऊकनि' का भी संकेत है। ग्रीष्म की लू जो शरीर जला देती है। जेठ में रात में भी लू चलती है, अचानक चलने लगती है। **बेधत०** = बिना किसी अवरोध के भली भाँति बेधता है। विलक्षणता यही है कि बिना धनुष के बाण भी लक्ष्यवेध ठीक-ठीक और भरपूर करते हैं। कानों से बाहरी प्रभाव अधिक पड़ता है। उसके पास 'कमान' नहीं है, पर 'कान' का माध्यम तो है ही। नावक के तीर की सी स्थिति हो जाती है, कान की नली से वे प्राणों पर सीधे पहुँच जाते हैं। ये बाण बिना धनुष के चलने पर भी पूरे घातक हैं। **सोचनि०** = सोच कई हैं। चातक को कैसे मना किया जाए। वह मानेगा भी नहीं, एक मान जाए तो अनेक चातक हैं, किसे किसे मना किया जाए। फिर इन्हें मना कौन करे, पकड़ कर पिंजड़े में रखने से भी लाभ नहीं। यहाँ से उड़ाकर अन्यत्र जंगल आदि में कहीं कैसे इन्हें भेजा जाय। केवल परेशानी उठानी है। बचने के लिए यदि यहाँ से अन्यत्र जाएँ तो वहाँ भी चातक मिल सकता है। फिर यह तो मुझे लक्ष्य किए हुए है। कहीं मुझे छोड़ेगा नहीं। जहाँ जहाँ जाती हूँ वहाँ वहाँ जाता है। यदि मेरा ही पूरा लक्ष्य न होता तो मेरे पीछे-पीछे क्यों घूमता-फिरता। **वे०** = ऐसा जान पड़ता है कि उन आनंद के घन का ही यह साथी है। इससे वे तो अन्यत्र चले गए, पर यह मुझे यहीं रहकर कष्ट दे रहा है। जहाँ वे गए हैं वहीं यह क्यों नहीं चला जाता है। वे भी तो वहीं छा गए। इधर आने का नाम नहीं। इधर आने पर कदाचित् इसके बोल मंद और कम पड़ जाते। शत्रु अपने सब प्रकार के आचरण से कष्ट ही देता है। पर यह तो पातकी भी है। जिस 'घन' के पास इसे जाना चाहिए उसके पास नहीं जाता, उलटे यहाँ रहकर

घन के प्रेमी को जला रहा है। 'समानशीलव्यसन' से सख्य होना चाहिए था, पर यह पापी है, वैर ठाने हुए है।

पाठांतर—हूकनि–ऊकनि ह्वै–है।

(कबित्त)

अतर मैं बासी पै प्रबासी को सो अंतर है,
मेरी न सुनत दैया आपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे ह्वै सुझावौ सब सूझौ नाहिं,
बूझी न परति ऐसें सोचनि कहा दहौ।
हो तो जानराय जाने जाहु न अजान यातें,
आनँद के घन छाय छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा सूरति दिखैये नेकु,
हमैं खोय या बिधि हो कौन धौं लहा लहौ ॥८६॥

प्रकरण—विरही अपने विरह की दशा का वर्णन कर रहा है। वह प्रिय को उलाहना दे रहा कि हृदय में होते भी आप दूर हैं। न मेरी सुनते हैं न अपनी कहते हैं। नेत्रों से सर्वत्र खोजा कहीं न मिले। सुजान हैं आपको जान लेना कठिन है, इसलिए आप मेरे लिए अजान (अज्ञात) हैं। आप छाए भी हैं और उद्घाटित भी हैं। हृदय में बसे भी हैं और पृथक् भी हैं। मुझे आप दर्शन दें। मुझे खोने में क्या लाभ है।

चूर्णिका—अंतर = अंतःकरण, मन। प्रबासी = परदेशी, परदेश में जा बसनेवाला। अंतर=दूरी, पार्थक्य। आपनीयौ=अपनी भी। लोचननि०=नेत्रों की पुतलियों द्वारा सब कुछ दिखाया, पर आप नहीं दिखाई पड़े। बूझी० = समझ में नहीं आता। ऐसें० = इस ढंग से चिन्ताओं द्वारा क्या जलाते हो। जानराय = सुजान; ज्ञात। अजान=ज्ञानहीन; अज्ञात। छाय० = छाया करके, कृपा करके; संसार का मायाजाल फैलाकर। उघरे० = खुले रहते हो, पृथक् रहते हो। मया० = प्रेम। हमैं० = हमें खोकर, हमारा जीवन नष्ट करके; अपनी खोज में भटकाकर। लहा = लाभ, प्राप्ति।

तिलक—प्रिय और प्रेमी के अतिरिक्त यह ब्रह्म और जीव के पक्ष में भी लगता है। प्रिय-पक्ष = हे प्रिय, आप बसे तो हैं हृदय के भीतर ही, पर

आपमें और मुझमें प्रवासी का-सा ही पार्थक्य है। भेंट किसी प्रकार नहीं हो पाती। न तो आप मेरी सुनते ही हैं और हाय दैव, न सुनें पर अपनी भी तो नहीं कहते। नेत्रों की पुतलियों द्वारा बहुत ध्यानपूर्वक आपको दिखाने का प्रयास किया, पर फिर भी आप दिखाई नहीं पड़े। मेरी समझ में यह नहीं आता कि इस प्रकार आप मुझे चिंताओं से जला क्यों रहे हैं। आप हैं तो सुजान, पर आपके आचरण जाने नहीं जाते, इसलिए मेरी दृष्टि में तो आप अजान हैं। आप आनंद के घन हैं, मुझ पर छाए भी रहते हैं, मुझ पर कृपा भी की है और मुझसे पृथक् भी हो गए हैं। अपनी वह प्रेममयी मूर्ति, अपनी वह आकृति ही थोड़े ही समय के लिए दिखा देते, उसकी झलक भर दे देते। इस प्रकार मुझे विस्मृत कर और मेरे जीवन को नष्ट कर देने में आपको न जाने क्या लाभ मिलता है। ब्रह्म-पक्ष = हे परमात्मा, यद्यपि आप मेरे शरीर के भीतर विराजमान हैं, पर आपसे और मुझसे प्रवासी का-सा अंतर है। अंतर्वासी होकर भी आप न तो मेरी सुनते हैं (मेरी पुकार ग्रहण करते हैं) और न अपनी कहते हैं (अपनी अभिव्यक्ति करते हैं)। ज्ञान के नेत्रों से मैंने देखने का प्रयास किया, सर्वत्र खोजा पर आप दिखाई नहीं पड़े। मुझे इस प्रकार शुद्ध केवल चिंतन में ही क्यों डाले हुए हैं, समझ में नहीं आता। यद्यपि आप ज्ञान-शिरोमणि हैं, स्वयम् ज्ञानस्वरूप हैं, फिर भी आप जाने नहीं जाते। आपका जानना कठिन है, अतः आप अज्ञात हैं। आप सच्चिदानंदघन हैं। सर्वत्र व्याप्त भी हैं और सबसे पृथक् भी हैं। अपनी उस लुभावनी मूर्ति की एक बार झलक भर दें। इस प्रकार मुझ जैसे आराधक से इस प्रकार आनाकानी करने से आप बच नहीं सकते। आपकी खोज में मैंने अपना सर्वस्व समाप्त कर दिया, पर आप फिर भी प्रत्यक्ष नहीं हुए।

व्याख्या—अंतर में = अंतःकरण में बसते हैं, निवास करते हैं, वहाँ से अन्यत्र जाने का प्रश्न ही नहीं। अंतर्यामी और बहिर्यामी दो रूप होते हैं ब्रह्म के। यहाँ उसके अंतर्यामी रूप का विचार है। ब्रह्म अत्यंत सूक्ष्म है, इसी से वह प्रत्यक्ष नहीं होता और दूर जान पड़ता है। प्रिय ध्यान आदि के कारण भीतर है, पर वह तो उसकी स्मृति भर है, कल्पना मात्र है। वह कहीं दूर ही है। वस्तुतः अंतर (पार्थक्य) की प्रतीति भर होती है, इसी से 'को सो'

कहा है। मेरी स्थूल पुकार की पहुँच वहाँ तक नहीं है। उसके सूक्ष्म संकेत मुझ तक नहीं पहुँचते। प्रिय न तो मेरी सुनता है न अपनी कहता है—बहरे-गूँगे की-सी स्थिति है। बहरे दूसरे की चाहे न सुनें पर अपनी जोर से कहते हैं, जिससे दूसरा सुन ले। मेरी पुकार, हो सकता है, अत्यंत वेदना वाली होने से आप सुनने से हिचकते हों। पर अपनी कहने में क्या बाधा है। आप चाहे जो कहें मुझे सब सुनना है। अपनी पुकार नहीं सुनी जाती तो उसकी उतनी चिंता नहीं। पर प्रिय कुछ नहीं कहता इसकी चिंता विशेष है। जिसे अपने मन में इतना बसाया कि क्षण भर के लिए भी पृथक् नहीं किया वह पृथक् ही नहीं है, कुछ कहता भी नहीं। 'दैया' में विवशता, दैन्य, पश्चात्ताप, अत्यंत वेदना आदि अनेक वृत्तियों की व्यंजना है। लोचननि० = ध्यान से देखना ही जिन नेत्रों का कार्य है उन्हें। केवल 'लोचन' से ही सुझाने का काम हो जाता, फिर 'तारे' का प्रयोग क्यों किया गया। अत्यंत केंद्रित होकर बहुत सावधानी से। किसी के नेत्र कहीं संमुख होने पर भी जब तक पुतलियाँ देखने में प्रवृत्त न की जाएँ तब तक कुछ देखा नहीं जा सकता। नेत्रों का आकार होने पर भी पुतलियाँ देखनेवाली न हों तो कुछ भी नहीं देखा जा सकता। 'सुझावी' से देखने-दिखाने की प्रवृत्ति का भी संकेत है। दिखाया भी सबको, कुछ भी छोड़ा नहीं। सारे जगत् को देख डाला पर तू नहीं मिला। भौतिक तत्त्व से परे होने के कारण तेरा पता न चला। देखनेवाले नेत्रों में कोई त्रुटि नहीं है, देखा जानेवाला ही दृश्य नहीं है। सारे दृश्यप्रसार में वह अदृश्य है। भौतिक नेत्रों से उसे देख सकना संभव नहीं। प्रिय के पक्ष में जगत् के सभी पदार्थ देखे, पर वे पदार्थ ही उन नेत्रों को नहीं दिखाई पड़े। 'चिंता' को ज्वाला कहते हैं इसलिए उसके द्वारा जलना ठीक ही है। जब नेत्रों से नहीं दिखे तब बुद्धि से समझा-बूझा। पर उसने भी कुछ पता न पाया। केवल चिंतन करना हाथ रहा। हौ तौ० = आप ज्ञान-स्वरूप होकर भी अज्ञेय हैं। साधक और साध्य दोनो का अद्वैत होने के कारण ब्रह्म अज्ञेय है। 'अहम्' ही 'ब्रह्म' है इसी से 'अज्ञेय' है। ज्ञान का विषय ज्ञेय ज्ञानी से भिन्न होता है। यदि ज्ञानी ही ज्ञान का विषय होगा तो वह ज्ञेय नहीं होगा, उसे जानना ही क्या है। वह जाना हुआ है—अतः अज्ञेय है। ब्रह्म सूक्ष्म रूप में सर्वत्र व्याप्त है, पर जगत् स्थूल रूप से भिन्न है। प्रिय अपनी

आनंदात्मक सत्ता लिए-दिए प्रेमी पर छाया रहता है, उसकी वेदना को सँभाले रहता है, उसे आशा-विश्वास आदि से जिलाए रहता है, पर वह तत्त्वतः विरह में उसके निकट होता नहीं। मूरति० = भगवान् प्रेममूर्ति हैं, प्रिय प्रेममूर्ति है, पर प्रवासी प्रिय नहीं दिखता। निर्गुण ब्रह्म सगुण न हो तो प्रत्यक्ष नहीं होता। वह प्रेम के माध्यम से व्यक्त होता है। उसकी झलक भर मिलती है। प्रवासी प्रिय भी ध्यान में या स्वप्न में झलक भर दिखाता है। 'हा हा'—दैन्य, खेद को व्यंजना है। भगवान् के शोध में भक्त खोया रहता है, प्रिय के प्रेम में प्रेमी सर्वस्व खो बैठता है स्वयम् बेहोशी में रहता है। परमात्मा ने जीव को अपने से पृथक् करके क्या पाया, किस प्रयोजन से उसने यह पार्थक्य कर डाला। प्रिय को इस प्रकार प्रेमी के सर्वस्व-नाश से क्या मिला। उसकी जो वस्तुएँ चली गईं वे प्रिय को तो मिली नहीं। उनके किस स्वार्थ की सिद्धि हुई।

पाठांतर—ब्रासी—बास। प्रबासो-प्रवास। सूझो-सूझैं।

(सवैया)

कित को ढरि गौ वह ढार अहो जिहि मो तन आँखिन ढोरत हे।
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सों आनि निहोरत हे।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनो तब यौं सब भाँतिन भोरत हे।
मन माँहि जो तोरन हो तो कहो बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे ॥८७॥

प्रकरण—वियोगी विरह के समय प्रिय के इस प्रकार प्रेम सम्बन्ध तोड़ लेने पर उलाहना दे रहा है। उसका कहना है कि आरम्भ में प्रिय ने अपनी आँखों को मेरी ओर प्रवृत्त किया, पर आज उसमें वह वृत्ति नहीं रही। प्रिय पहले अत्यंत रसमय वचनों और मुद्राओं से अपनी लालसा निवेदित करता था, पर अब उसमें वह टेव नहीं रही। पहले सब प्रकार से वह भुलावा देता था। यदि इसी प्रकार प्रेमसूत्र तोड़ देना था तो फिर उस प्रकार समय और ध्यान देकर जोड़ा ही क्यों।

चूर्णिका—ढ र = ढलना, ढलाव, द्रुति, द्रवीभूत होने की वृत्ति, द्रवणशीलता। कित० = आपका यह ढलना (झुकाव) कहाँ जा ढला, मेरी ओर तो नहीं आया। जिहि० = जिससे प्रेरित होकर मेरी ओर अपनी

आँखें ढुलकाते थे, मुझपर प्रेमदृष्टि डालते थे। हे = थे। अरसानि = आलस्य। अरसानि० = आपकी उस वृत्ति ने आलस्य क्यों ग्रहण कर लिया। आप उस प्रकार मेरी ओर क्यों नहीं झुकते। सरसानि० = सरसतापूर्वक। आनि = आकर। निहोरत हे = अनुरोध करते थे, अनुनय-विनय आग्रह करते थे। सरसानि० = जिस वृत्ति के कारण सरसतापूर्वक आकर आप विनती करते थे। भोरत हे = भुलावा देते थे, ठगते थे। तोरन ही० = (प्रेमसूत्र) तोड़ने की ही इच्छा थी। बिसवासी = विश्वासघाती। सनेह० = तो तब प्रेम का संबंध क्यों जोड़ रहे थे।

तिलक—हे घने आनंद के दाता प्रिय सुजान, आपकी वह प्रवृत्ति कहाँ चली गई जिसके कारण आप मेरी ओर प्रेमदृष्टि से देखा करते थे। जिस वृत्ति के कारण आप सरसतापूर्वक स्वयम् मेरे निकट आकर अनुनय-विनय करते थे उसने कुछ आलस्य सा क्यों ग्रहण कर लिया है, उस वृत्ति से अब आप मेरी ओर क्यों नहीं आते। आप सुजान होकर मुझे तब सब प्रकार से (अजान समझकर) भुलावा दिया करते थे। सुनिए आप से कहना यह है कि यदि इसी प्रकार प्रेमसूत्र को तोड़ देने का विचार था तो विश्वासघाती, इस प्रकार प्रेम जोड़ ही क्यों रहे थे।

व्याख्या—कित० = वह प्रवृत्ति जब थी तो कहीं न कहीं उसे प्रवृत्त होना ही चाहिए। क्या अन्य किसी की ओर तो आपकी रुझान नहीं हो गई है। ढलनेवाली वस्तु ढलती ही है, इधर न ढली उधर ढली। 'अहो' उपालंभ, विमुखता की अधिकता आदि का व्यंजक अव्यय है। मैंने अपनी ओर आपको आकृष्ट नहीं किया, आप अपनी ओर से ही सुमुख हुए थे। आपके अंतःकरण की द्रुति का प्रभाव आपके नेत्रों पर पड़ा था, जिसके कारण वे ढुलकते दिखाई देते थे। अंतःकरण के रूप की सबसे अधिक झलक चेहरे पर पड़ती है। चेहरे में भी सबसे अधिक नेत्रों पर पड़ती है। नेत्रों में भी उसकी गति पर पड़ती है। अरसानि० = केवल नेत्रों में ही आपकी सुमुखता की अभिव्यक्ति होकर नहीं रह गई। आप मेरे निकट आए, विनती तक की और उसमें सरसता भी प्रकट होती थी। उसमें आपके हृदय का रूप दिखाई पड़ता था, ऊपरी दिखावा नहीं था, भीतरी प्रेरणा थी। यह प्रेरणा आकस्मिक भी नहीं थी, उसने 'बान'

'आदत' 'प्रकृति' का रूप ले लिया था। यह वृत्ति प्रकृतिस्थ थी, आरोपित नहीं जान पड़ती थी। उस समय तो आप में बड़ी स्फूर्ति, बड़ी तेजी थी। पर अब न जाने क्यों थोड़ा आलस्य आ गया है। अभी यह रूप कुछ ही विकृत हुआ है, उसके सँभल जाने की संभावना है। घन० = आप 'घनआनंद' और मैं निरानंद, आप प्रिय और मैं अप्रिय, आप सुजान और मैं अजान। सुनाना आपको यह है कि उस समय अनुनय विनय तक ही सारी बातें समाप्त नहीं हो जाती थीं। आपके प्रति मैंने अनेक प्रकार की आशंकाएँ कीं, पर आपने भुलावे में डाला। यही विश्वास दिलाया कि यह सुमुखता विमुखता में कभी परिणत न होगी, हम दोनो में कोई पार्थक्य करने में समर्थ न हो सकेगा। तेरे लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है। 'सब भाँतिन' मन-वचन-कर्म, सबसे आपने एक ही रूप प्रकट होने दिया। इसमें से 'वचन' और 'कर्म' तो प्रत्यक्ष थे उनके संबंध में कोई प्रतिकूल संभावना नहीं जान पड़ती थी। केवल मन ही परोक्ष था। उस मन में ही जान पड़ता है कि आपने पहले से ही निश्चय कर लिया था कि इस प्रेमसंबंध को तोड़ना है। मन० = मन में यदि भीतर ही भीतर यह कपट था तो ऊपर वचन और कर्म में उतना निष्कपट रूप क्यों दिखाया। इसलिए भी जिज्ञासा होती है कि किसी वस्तु के निर्माण में अधिक समय, अधिक श्रम करना पड़ता है। वह अधिक श्रम और समय आपने किस लिए लगाया। मुझमें भी उसी के कारण विश्वास, परम विश्वास हो गया। तुलसीदास ने भी कहा है—बैठिकै जोरत तोरत ठाढ़े। स्नेह से जुड़ी वस्तु अधिक दिनों तक टिकाव के लिए होती है। 'सुनौ' और 'कहौ' दोनो का प्रयोग है। आप अपनी विनती न जाने कितनी कहते और सुनाते थे, अब आनाकानी कर रहे हैं। अब पराङ्मुख हो गए हैं, इधर मुँह ही नहीं करते।

घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ जिहि भाँतिन हौं दुख-सूल सहौं।
नहिं आवनि औधि न रावरी आस इते पर एक सी बाट चहौं।
यह देखि अकारन मेरी दसा कोऊ बूझै तौ ऊतर कौन कहौं।
जिय नेकु बिचारि कै देहु बताय हहा पिय दूरि तें पाय गहौं ॥८८॥

प्रकरण—प्रिय के प्रति विरही प्रेमी की जिज्ञासा है। प्रिय ने न तो आने की कोई अवधि निश्चित की और न उस निष्करुण के आने की संभावना हो

है। फिर भी यदि प्रेमी उसी का और बिना किसी प्रकार के अंतर के मार्ग देखता रहे तो सामान्य जन उससे यह पूछा कर सकता है कि अकारण इस प्रकार उसी से प्रेम करना तो समझ में नहीं आता। ऐसी स्थिति में उसको क्या उत्तर दिया जाए, आप इतना ही बता दें। यहाँ आने की आवश्यकता नहीं।

चूर्णिका—नहिं० = न तो आने की अवधि ही निश्चित है और न आपसे यह आशा ही की जा सकती है कि आप आ ही जाएँगे। इते० = इतने पर भी आपके आने का मार्ग एकरस देखती रहती हूँ। अकारन० = आपके मार्ग देखने के दो ही कारण थे, समय की सीमा और आपके आने की संभावना। वह भी यदि नहीं है तो फिर आपका मार्ग देखने का और उसमें परेशान होने का कोई हेतु नहीं है। इस अकारण दुर्गति को देखकर यदि कोई प्रश्न करे कि ऐसा क्यों किया जा रहा है, तू क्यों उसकी प्रतीक्षा कर रही है तो मैं क्या उत्तर दूँ। मुझे तो कोई उत्तर समझ में नहीं आता आप ही बता दें)। दूरि तें० = उतनी दूर से ही। आप निकट नहीं आते तो मत आएँ, केवल मुझे निरुत्तर न होने दें। उनके लिए जो उचित उत्तर हो, बता दें।

तिलक—हे घन आनंदायक प्रिय सुजान, ध्यान देने योग्य मेरी स्थिति हो गई है, इसलिए मेरी जिज्ञासा सुन लें। मैं जिस प्रकार से कष्ट और पीड़ा सह रही हूँ उसका आपको इसी से कुछ पता चल जाएगा। आपने जाते समय आने की कोई अवधि नहीं ठहराई और आपसे आने की आशा तो किसी प्रकार की ही नहीं जा सकती। इतने पर भी मैं आप ही का और बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के मार्ग देखती हूँ। किसी के मार्ग के देखने के केवल दो कारण हो सकते हैं पर वे भी जब नहीं हैं, तो फिर मेरा मार्ग देखना निष्कारण है। बिना किसी कारण के कोई कार्य होता नहीं। अतः कोई साधारण व्यक्ति भी मेरे इस आचरण पर चकित होकर मुझसे पूछ बैठता है कि तू ऐसी स्थिति में उनका मार्ग क्यों देख रही है। मैं स्वयम् नहीं समझती कि मैं मार्ग क्यों देख रही हूँ। कदाचित् आप बता सकें कि इसमें हेतु क्या हो सकता है। इसलिए प्रार्थना है कि ऐसों का क्या उत्तर दिया जाय, आप बता दें। कुछ विचारपूर्वक उत्तर बताइएगा, तर्कपूर्ण उत्तर होना चाहिए, जिससे किसी को समझाया जा सके। यदि आप यह समझते हैं कि आपको बुलाने का यह बहाना है तो इससे

निश्चित रहें। आपके यहाँ आने की आवश्यकता नहीं आप वहीं से खड़े-खड़े, बैठे-बैठे, लेटे-लेटे जैसे आपको किसी प्रकार का कष्ट न हो उत्तर बता दें, किसी संदेश-वाहक के माध्यम से कहला दें। मैं यहीं से आपके चरणों में प्रणाम किए लेती हूँ।

व्याख्या—घन० = आप तो आनंद में, परम आनंद में पड़े हैं, आपको रूपहानि भी कोई नहीं हुई है और आपकी चेतना भी बनी है। मेरी स्थिति इन सबके विपरीत है। ध्यान देकर सुनिए, सुनने योग्य वार्ता है, आप ही के सुनने योग्य है, आपसे ही इसका लगाव है। आप ही अपनी सज्ञानता से इस गुत्थी को सुलझा सकते हैं। दुःख और पीड़ा सहने के अनेक प्रकार हैं। अवधि नहीं, आपकी आशा नहीं, मार्ग देखना ज्यों का त्यों, फिर भी लोगों का प्रश्न और मेरे पास उत्तर की बुद्धि नहीं, सभी स्थितियाँ कष्टद हैं। दुःख तो आपसे वियोग का और पीड़ाएँ इन स्थितियों के कारण। नहिं० = आने की सीमा आपने कभी रखी ही नहीं, मेरे पूछने पर भी नहीं बताई। कोई ऐसा हो सकता है कि अवधि न निर्धारित करे पर उसके आने की कल्पना की जा सकती है। पर आपके सम्बन्ध में वह भी सम्भव नहीं। आपसे कभी ऐसी आशा नहीं की जा सकती। आशा भरोसा होता तो यह झंखना ही किस बात का होता। निरवधि को अवधि और अनाशा में आशा मानकर आचरण कर रही हूँ। मार्ग इसी से उसी प्रकार देख रही हूँ जैसे सावधि और आशासंयुक्त का देखा जाता है। मुझे दो ने—अवधि और आशा ने—छोड़ दिया पर मैंने एक को भी नहीं छोड़ा। न मार्ग को छोड़ा न आपको छोड़ा। यहु० = 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' के अनुसार कोई कारण तो होना ही चाहिए। पर उस कारण को न कोई और सोच पाता है और न मैं स्वयम् ही समझ पाती हूँ। अब केवल आप ही एक ऐसे बच जाते हैं जो इसका कारण बता सकें। 'दशा' का अर्थ दुर्दशा, विरह-दशा, कष्टदायिनी दशा है। तत्त्वतः मेरा प्रेम निर्हेतुक है। भक्ति के क्षेत्र में निर्हेतुक प्रेम का बहुत अधिक माहात्म्य माना जाता है। विरहिणी की दशा ऐसी है जो आकृष्ट करती है। कोई जब आकृष्ट होने पर पता चलाता है तो उसे उसके कारण का पता नहीं चलता। कहना इतना ही है कि न मेरे कार्य में किसी को औचित्य दिखाई देता है और न आपके कार्य में मुझे। उत्तर न

बताने पर लोग मुझे ही दोष देते रहेंगे। उस दोष-परिहार के लिए आपसे निवेदन है। इसमें दोनो की ओर से, सफाई दे दी जाएगी। जिय० = उत्तर को मन में कुछ सोच-समझ लीजिएगा। अविचारित रमणीय उत्तर आपका न हो। पैर पकड़ने और 'हहा पिय' कहने में विवशता, दैन्य, अत्यंत विनय की व्यंजना हैं। प्रिय सचमुच दूर से ही प्रणाम करने योग्य है !

बिरहा-रबि सौं घट-ब्योम तच्यौ बिजुरी सी खिवैं इकली छतियाँ।
हिय-सागर तें दृग-मेघ भरे उघरे बरसैं दिन औ रतियाँ।
घनआनंद जान अनोखी दसा, न लखौं दई कैसे लिखौं पतियाँ।
नित सावन दीठि सु बैठक में टपकैं बरुनी तिहि ओलतियाँ ॥८९॥

प्रकरण—विरह में विरही को जो कष्ट होता है उसको ग्रीष्म के अनंतर आनेवाले पावस से मिलाकर यह स्थापना की जा रही है कि यहाँ नित्य सावन रहता है। विरह सूर्य, शरीर आकाश, छाती बिजली, हृदय सागर, नेत्र मेघ, आँसू का टपकना सावन की झड़ी, दृष्टि बैठक और बरौनी ओलती। इस नित्य सावन के कारण नेत्रों को फुरसत ही नहीं है, उन्हें कुछ दिखाई नहीं देता। फिर पत्र लिखें भी तो कैसे। स्वछंद कवियों की रचना में पत्र और संदेश नाम मात्र को होते हैं।

चूर्णिका—बिरहा० = विरहरूपी सूर्य से शरीररूपी आकाश तप गया है। खिवैं = चमकती हैं। इकली = अकेली [अथवा इकलौ = एक ही ढंग से लगातार, निरंतर]। हिय = हृदयरूपी समुद्र से नेत्र रूपी मेघ (पानी रूपी आँसू) भरे हुए। उघरे = खुले हुए; हटे हुए। न लखौं = कुछ सूझता ही नहीं। नित० = मेरे नेत्रों में नित्य श्रावण है। दीठि० = दृष्टिरूपी बैठक में। टपकैं = बरौनियाँ ओलती की भाँति टपकती हैं।

तिलक—हे घने आनंद के दाता सुजान प्रिय, मेरे विरह की अनोखी स्थिति है। मुझे तो इसके कारण कुछ दिखता ही नहीं, फिर मैं पत्र लिखकर अपनी व्यथा प्रकट भी करना चाहूँ तो कैसे करूँ। विरह सूर्य होकर तप रहा है जिससे मेरा शरीररूपी आकाश उत्तप्त हो गया है। छाती इस प्रकार चमकती (पीड़ा करती) है जैसे बिजलियाँ लगातार चमकती हों। हृदयरूपी समुद्र से नेत्ररूपी मेघों ने भली भाँति पानी ले लिया है वे उद्घाटित होकर (खुले रह-

कर; हटकर) रात और दिन निरंतर वृष्टि कर रहे हैं। यहाँ तो नित्य सावन की घनघोर वर्षा हो रही है, दृष्टिरूपी बैठक में बरौनियाँ ओलती की भाँति टपक रही हैं।

व्याख्या—बिरहा० = निदाघ में जब तक सूर्य भली भाँती तपता नहीं तब तक वृष्टि भी अच्छी नहीं होती। बिरह ने तपने-तपाने में किसी प्रकार की कमी नहीं की। 'घट' भी सूना (शून्य) है। आकाश से पूरा मिलता है। आकाश इतना तप गया है कि अब वृष्टि ही अपेक्षित जान पड़ती है। बिजली अनेक बार चमकती है इसी से उसका बहुवचन प्रयुक्त है जो क्रिया 'खिवें' से सूचित है। पर 'छतियाँ' में बहुवचन बिचारणीय है। यहाँ या तो यह माना जाय कि केवल तुकांत के लिए चंद्रबिन्दु का प्रयोग है। सभी तुकांत बिना चंद्रबिन्दु के भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'खिवैं' के बदले खिवै और 'टपकें' के बदले 'टपकै' ठीक होगा। 'छतियाँ' के बहुवचन का समर्थन एक ही प्रकार से हो सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की चमक के साथ 'छाती' भिन्न-भिन्न प्रकार की मान ली गई है। विद्युत् प्रत्येक बार चमकने में नूतन भंगिमा दिखाती है, छाती में पीड़ा के कारण प्रत्येक बार अनोखापन अवश्य रहता है। हिय० = हृदय में, 'मानस' की ओर संकेत है। बड़े सरोवर भी 'सागर' कहे जाते है। मेघ खारे पानी को मीठा करता है पर नेत्र-मेघ मीठे पानी को खारा करके बरसते हैं। 'उघरे' और 'बरसैं' में विरोधाभास है। सावन में कभी-कभी रात-दिन लगातार वृष्टि होती रहती है। घन० = आप स्वयम् समझें। बड़ी विलक्षण दशा है। जब बिजली चमकती हो, पानी बरसता हो, तब भी उन दिनों पत्र लिखकर भेजने में कठिनाई थी, मार्ग अवरुद्ध रहते थे। जानेवाले के बीमार पड़ जाने की सम्भावना और पत्र के भींग जाने की आशंका रहती थी। पर पहले पत्र प्रस्तुत हो जाए तब तो इस प्रकार का विचार हो। 'लखना' हो तब तो 'लिखना' हो। इच्छा एक नहीं अनेक पत्र लिखने की है। नित० = नित्य सावन की झड़ी होने से नेत्रों में अंतराल ही नहीं बचा है कि वे देख सकें। ऊपर से ओलती भी टपक रही है। उसके टपकने से भी आच्छादन है। सर्वोपरि 'दृष्टि' की बैठक के सामने ही ओलती टपक रही है। इस ओलती के कारण दृष्टि का बैठक से बाहर जाना कठिन है। यहाँ 'दृष्टि' को बैठक बनाकर वास्तविक स्थिति को मूर्तिमान् कर दिया गया है।

पाठांतर—इकली–इक लौ।

इत भायनि भाँवरे भौंर भरैं उत चायनि चाहि चकोर चकैं।
निसि बासर फूलनि भूलनि मैं अति रूप की बात न ब्यौरि सकैं।
घनआनंद घूँघट-ओट भए तब बावरे लौं चहुँ ओर तकैं।
पिय के मुख कौतुक देखि सखी, निज नैन बिसेष सुजान छकैं ॥९०॥

प्रकरण—यहाँ प्रिय के मुख-कमल और मुखचंद को देखकर नेत्रों की क्या स्थिति होती है इसी का उल्लेख है। प्रिय का मुख कमल सा विकसित रहता है। मेरे नेत्र भौंरे हो जाते हैं। प्रिय का मुख फिर चंद्र हो जाता है, तब चकोर बनकर नेत्र देखते हैं। भौंरे बनकर प्रसन्नता की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं और चकोर बनकर उसी में अपने को विस्मृत कर देते हैं। अतः प्रिय के रूप का विवेचन कर ही नहीं पाते। जब प्रिय या प्रेयसी का मुख घूँघट में छिप जाता है तो वे पगले हो जाते हैं। अतः मुख दृश्य रहता है तब भी और परोक्ष रहता है तब भी नेत्रों को चैन नहीं, तृप्ति नहीं।

चूर्णिका—इत० = एक ओर मुख को कमल मानकर। भायनि० = भावों से प्रेरित होकर। भाँवरे० = भौंर बनकर आसपास चक्कर काटते हैं। उत० = दूसरी ओर (रात में) मुख को चंद्र जानकर। चायनि = चावों के साथ, उमंगों के सहित। चाहि = देखकर। चकोर० = चकोर होकर चकित हो जाते हैं (निष्कलंक चंद्र देखकर)। निसि० = रात में फूलना और दिन में तेजोमय रहना। कमल तो दिन में ही फूलता है और मुख-कमल दिन और रात फूला रहता है। चंद्रमा रात में ही दीप्तिमान् दिखाई देता है, दिन में क्षीणप्रभ हो जाता है। प्रिय का मुखचंद्र दिन में भी तेजोमय रहता है। फूलनि = अत्यंत प्रसन्नता। भूलनि = छटा पर मुग्ध होना। रूप = सौंदर्य। न ब्यौरि सकैं = निर्णय नहीं कर पाते कि उसे कमल मानें या चन्द्र। घूँघट = (जब तक मुँह घूँघट से आच्छादित नहीं रहता तब तक तो इस संशय में रहते हैं) पर जब मुख घूँघट में छिप जाता है तो पागलों की भाँति ये नेत्र छटपटाते हैं। [अथवा—प्रेमी या प्रेमिका के नेत्र ही घूँघट की ओट हो जाते हैं तो प्रिय का सौंदर्य देखने को नहीं मिलता]। कौतुक = खेल। सुजान = सावधान। प्रिय० = प्रिय के मुख में यह खेल देखकर मेरे परम सावधान नेत्र भी चक्कर में पड़ जाते हैं।

तिलक—हे सखी, कभी तो प्रिय के मुख की छटा पूर्ण विकसित कमल की छटा लेकर सामने आती है। तब मेरे नेत्र भौंरे बनकर उनके आसपास चक्कर काटने लगते हैं और कभी वह मुख चन्द्रमा की भाँति दिखाई देता है तब चकोर बनकर उनकी ओर प्रवृत्त होते हैं और उन्हें निष्कलंक देख चकित हो जाते हैं। जब मुख को कमल के रूप में पाते हैं तब नेत्र भौंरे उसे रात में भी खिला देखकर परम प्रसन्न हो जाते हैं। जब चन्द्रमा के रूप में उसे देखते हैं तब नेत्र-चकोर उन्हें दिन में भी परम प्रभावपूर्ण पाकर अत्यंत मुग्ध बने रह जाते हैं। इसलिए ये नेत्र केवल उनकी छटा देखने में ही मस्त रहते हैं। उस सौंदर्य की विशेषता का विवेचन करने का अवसर ही नहीं मिलता। नेत्रों की केवल मुग्ध वृत्ति है। वह घन आनंददायक मुख जब घूँघट में छिप जाता है तब ये पागलों की भाँति चारो ओर उन्हें देखते और खोजते फिरते हैं। प्रिय के मुख का उक्त खेल देखकर जो अपने नेत्र विशेष सावधान समझे जाते हैं वे भी छक जाते हैं, फिर जिनके नेत्र सावधान नहीं उनका क्या कहना।

व्याख्या—इत० = भौंरे प्रातः कमल को खिलता देखकर चक्कर लगाते हैं। इसलिए नेत्रों को भ्रमर बनाने के लिए दिन का दृश्य प्रथम रखा गया। चंद्रमा रात में उगता है इसलिए नेत्र को चकोर बनाने के लिए रात की स्थिति कल्पित की गई। ठीक इसके विपरीत अगली पंक्ति में 'निसि बासर' शब्द है इसलिए 'भ्रमर' के क्रम पर 'निसि' और 'चकोर' के क्रम पर 'बासर' है। इसलिए कमल और मुख-कमल में अंतर की ओर दृष्टि जाती है। 'निसि फूलनि' रात में 'कमल का फूलना' और भौंरे का उस पर प्रसन्न होना। 'बासर भूलनि' से 'चंद्रमा पर चकोर के मुग्ध होने' का संकेत। निसि० = रात-दिन दोनो भौंरे और चकोर प्रसन्न भी होते हैं और मुग्ध भी रहते हैं। अथवा यह कमल रातदिन फूलता और प्रेमी भ्रमर को भूला रहता है। ऐसे ही चंद्रमा भी फूला और भूला रहता। जैसे संध्या का फूलना, वैसे रात का फूलना। सायंकालीन प्रकाश की तीव्रता को साँझ का फूलना कहते हैं। चंद्र के अत्यधिक प्रकाश से रात का फूलना कहेंगे। भ्रमर और चकोर केवल सौंदर्य देखते ही मुग्ध हो जाते हैं। उनमें अंतर्वृत्ति की प्रमुखता है। इसलिए प्रिय की छटा पर ही मुग्ध रह जाते हैं। सौंदर्य को सूक्ष्मता से देखने में प्रवृत्त नहीं

होते। इसलिए उनमें लालसा बनी ही रहती है, परितृप्ति नहीं हो पाती। प्रसन्नता और मुग्धता से छुट्टी मिले तब तो। अर्थात् उनकी बुद्धि दब जाती है। मनोवृत्ति उभर आती है। घन = घने आनन्ददाता प्रिय या उनका मुख तथा कवि की छाप तथा आनन्द के बादल। जब नेत्रों को घुंघट की ओर माना जाएगा तब केवल कवि की छाप। घना आनन्द घुंघट की ओट हो जाए, आनन्द आच्छादित हो जाए तो पागल बनने की स्थिति हो ही जाती है। चारो ओर ताकने का तात्पर्य यह है कि पागल होने के कारण वे यह नहीं समझते कि अवगुंठन के कारण ऐसा है। प्रिय के प्रत्यक्ष दर्शन से भी मुग्धता (मूर्खता, जड़ता, अजानपन) आती है और प्रिय के ओझल होने पर तो घोर मूढ़ता, पागलपन ही आ जाता है। प्रिय० = प्रिय के मुख के अजब खेल हैं—कभी कमल, रात में भी खिला, कभी चन्द्र निष्कलंक और दिन में भी अमन्द। कभी ऐसा आच्छादित कि कुछ पता ही नहीं। आनन्द के बादलों से आच्छादित। अपने नेत्र सुजान कहे जाते हैं। बड़े चतुर बनते थे पर अब भली भाँति छके हैं। सखी से कहने का कारण यही है कि प्रिय के दर्शन की लालसा, उनके सौंदर्य की विशेषताओं को जानने की उत्सुकता, बनी ही रह जाती है।

पाठांतर—पिय के–प्रिय तो। कौतुक–कौतिक।

(कबित्त)

मोहन अनूप रूप सुन्दर सुजान जू को
　　ताहि चाहि मन मोहि दसा महा मोह की।
अनोखी हिलग देया बिछुरे तौ मिल्यौ चाहै
　　मिलेहू मैं मारै जारै खरक बिछोह की।
कैसे धरौं धीर बीर अति ही असाधि पीर
　　जतन ही रोग याहि नीके करि टोह की।
देखें अनदेखें तहाँ अटक्यौ अनंदघन
　　ऐसी गति कही कहा चुंबक औ लोह की ॥९१॥

प्रकरण—सखी से विरहिणी अथवा अनुरागिणी प्रिय के रूप के आकर्षण की चर्चा कर रही है। प्रिय के देखने और न देखने पर समान स्थिति बनी रहती है। इसका कारण यह है कि प्रिय के रूप-दर्शन पर उसे महामोह उत्पन्न

हो जाता है। लगन ऐसी है कि वियोग में संयोग की इच्छा होती है और संयोग में वियोग का खटका। इससे प्रिय के देखने और न देखने दोनो में वियोग बना रहता है। पीड़ा असाध्य है। यत्न रोग न हटाकर स्वयम् रोग बन जाते हैं। ऐसी स्थिति चुंबक और लोहे में नहीं होती।

चूर्णिका—मोहन = मोह लेनेवाला। अनूप = अनुपम, अद्वितीय। ताहि = उस सौंदर्य को। चाहि = देखकर। मन० = मन मोहित होकर महामोह की दशा को प्राप्त हो जाता है। हिलग = चाह, लगन। बिछुरे० = वियोग में मिलने की उत्कंठा रहती है। मिलेहू = संयोग होने पर भी। खरक = खटका, आशंका। खरक० = संयोग होने में यह आशंका बनी रहती है कि कहीं वियोग न हो जाए। बीर = हे सखी। असाधि = असाध्य। जतन० = इसके लिए यत्न ही रोग हो रहे हैं। यत्नों द्वारा रोग की वृद्धि होती है, उसका विनाश नहीं। टोह = खोज, विचार। याहि० = इसका विचार अच्छी तरह कर लिया है। देखें = देखने पर। कहा = क्या दिखती है।

तिलक—हे सखी, सौंदर्यशाली प्रिय सुजान का सौंदर्य अद्वितीय मोहित करनेवाला है। उसे देखने पर मोहित होकर मन परम मोह दशा को प्राप्त हो जाता है। महामोह के ही कारण उसमें विलक्षण लगन हो जाती है। हा दैव, यह लगन ऐसी है कि वियुक्त होने पर तो मन उनसे मिलने को उत्कंठित होता ही है पर जब वे मिल जाते हैं, संयोग हो जाता है, तो वियोग का खटका मारता और जलाता रहता है। वियोग में तो मरते-जलते रहते ही हैं; संयोग में भी मरने-जलने से पीछा नहीं छूटता। अब धैर्य कैसे धारण किया जाए। संयोग में भी जब वेदना बनी रहती है तब तो यही समझ में आता है कि पीड़ा असाध्य हो गई। इसी से इसे दूर करने के जितने यत्न किये जाते हैं वे यत्न स्वयम् रोग बन जाते हैं। रोग बढ़ने के सिवा घटता नहीं। ऐसा यों ही नहीं कह रही हूँ। मैंने भली भाँति बिचार लिया है। यह मन देखते समय और न देखते हुए दोनो स्थितियों में प्रिय के यहाँ ही अटका रहता। यदि कोई कहे कि चुंबक और लोह में ऐसी लगन होती है तो भी नहीं कह सकते क्योंकि चुंबक का सांनिध्य होने पर ही लोह में ललक होती है। उससे दूर रहने पर ऐसा नहीं होता।

व्याख्या—मोहन० = उनका रूप मोहित करनेवाला है और अद्वितीय मोहन-शक्ति उसमें है। मन में महामोह अर्थात् भारी भ्रम हो जाता है, वह भ्रमित रहता है। भ्रम की यह स्थिति उसमें बराबर बनी रहती है। अब इसके दूर होने की संभावना नहीं। मोह तो छूट भी सकता है, महामोह नहीं छूटता। प्रेम को मोह इसी से कहते हैं कि वह प्रेमी को अज्ञान बना देता है, उसकी बुद्धि मारी जाती है। जिस प्रेम के कारण बुद्धि बेकार हो जाए उसे ही मोह कहते हैं। प्रिय के सांनिध्य की व्याकुलता मोह में होगी। पर उस सांनिध्य के रहते उसके भावी बिछोह की खटक महामोह में। इसी से मन को महामोह की स्थिति में बताया गया। अनोखी० = ऐसी लगन भी अद्वितीय है। सौंदर्य अनुपम है और लगन अनोखी है। इस 'लगन' के अनोखेपन का विस्तार संयोग में दिखाई देता है। जब वियोग की आशंका से छटपटाते हैं। वियोग होते ही मिलने की तुरंत उत्कंठा हो जाती है। 'मारै' और 'जारै' सुखों से रहित करके मारती है, वेदना से सहित करके जलाती है। कैसें = धैर्य रखने का स्थान नहीं है। महामोह, हिगल और खरक ने सारा स्थान छेंक लिया है। अत्यंत असाध्य पीड़ा होने से धैर्य भी पीड़ा में ही परिणत हो जाता है। रोग साध्य होता है जब यत्न करते ही उसमें कमी होने लगे। रोग दुःसाध्य होता है जब यत्न करने से न कमी हो और न वृद्धि, वह ज्यों का त्यों बना रहे। वह असाध्य हो जाता है जब यत्न करने पर भी उसकी वृद्धि न रुके, प्रत्युत और बढ़ने लगे। असाध्य में अति विशेषण का लक्ष्य यह है कि यत्न स्वयम् कोई रोग बन जाता है। एक रोग तो रहता ही है, यत्न करने से रोग तो घटा नहीं दूसरा नया खड़ा हो गया। 'जतन ही' का तात्पर्य यह कि यत्नों से वृद्धि ही होती है, यदि यत्न न किया जाय तो कदाचित् उतनी वृद्धि न हो। आग पानी से बुझती है, पर प्रचंड आग पानी से बढ़ती है। यही स्थिति यत्न की है। भली भाँति विचार करने का तात्पर्य यह है कि समय लगाकर परिणाम देखकर निर्णय किया है, यों ही अनुमान से नहीं किया है। देखें = लोह चुंबक को देखकर वहाँ जा अटकता है बिना देखे नहीं। यहाँ दोनो स्थितियाँ एक सी हैं। लोहे में इतनी गति नहीं, इतनी उतावली नहीं, इतनी लालसा नहीं, इतनी प्रत्याशा नहीं। चुंबक भी जड़ और लोहा भी जड़। यहाँ उभय पक्ष में चेतन सत्ताएँ हैं। दोनो पक्ष की चेतनता के कारण आशा, प्रत्याशा की स्थिति प्रिय के विमुख होने पर भी बनी रहती है। प्रिय के मिलने पर भी उसके वियोग की चिंता उत्पन्न हो जाती है।

पाठांतर—खरक–बरक। 'बरक' उत्ताप के लिये है। अनदेखें–मन देखें।

(सवैया)

क्यौंहूँ न चैन परै दिनरैन सु पैंडे पर्यौ बिरहा बजमारो।
ज्यौ बहरै न कहूँ छन एक हू चाहै सुजान सजीवन प्यारो।
ऐसी बढ़ी घनआनँद बेदनि देया उपाय तें आवै तँवारो।
हौं हो मरौं अकेली कहौं कौन सों जा बिधि होत है साँझ सबारो॥९२॥

प्रकरण—विरहिणी विरह में किस प्रकार से व्यथित है उसी का विवरण एकांत भाषण के रूप में है। चैन नहीं है, विरह-व्याकुलता अधिक है, जी क्षण भर भी नहीं बहलता, संजीवन सुजान प्रिय को चाहता है। वेदना ऐसी हो गयी है कि उसे दूर करने के उपाय से मूर्छा ही आती है। अकेले विरहिणी हो सह रही है, बेचारी किससे कहे।

चूर्णिका—क्यौंहूँ = किसी प्रकार भी। पैंडे पर्यौ = पीछे पड़ गया है। ज्यौ = जी। बहरै न = बहलता नहीं। बेदनि = वेदना, पीड़ा। उपाय तें = पीड़ा हटाने का उपाय करने से। तँवारो = मूर्छा। हौं हो० = मैं हो अकेली अपना कुसमय काट रही हूँ। सबारो = सबेरा। साँझ सबारो = संध्या और सबेरा, रात और दिन।

तिलक—यह वज्र का मारा विरह इतना अधिक और रात दिन पीछे पड़ा रहता है कि किसी प्रकार चैन का कुछ भी नाम नहीं। मेरा मन एक क्षण के लिये भी बहलता नहीं, उसी विरह में छटपटाता रहता है। जो बेचैनी है उसे दूर करने के लिए वह प्रत्येक क्षण जलानेवाले प्रिय सुजान को अपने निकट चाहता है। प्रिय के दर्शन की संजीवनी ही उस बेचैनी को दूर कर सकती है। अन्यथा वह वेदना तो इस सीमा तक बढ़ गई है कि उसे दूर करने का जो भी उपाय किया जाता है उससे व्यथा की बेहोशी दूर करने के बदले और बेहोशी हो जाती है। हे दैव, यह कैसी बुरी गत हो रही है। कोई भी मेरी पीड़ा बँटाने वाला नहीं है। मैं अकेली ही व्यथा के ये दिन काट रही हूँ, मेरी साँझ और मेरा सवेरा किस कठिनाई के साथ होता है, किसी से कहना भी चाहूँ तो कोई सुनने-वाला तक नहीं है। प्रिय के अतिरिक्त और कोई सुननेवाला नहीं है और कहना भी बेकार है। वह व्यथा दूर क्या करेगा, केवल उपचार करेगा और उपचार केवल । बढ़ानेवाले सिद्ध हो चुके हैं।

व्याख्या—क्यौंहूँ० = सोते बैठते खड़े रहते, चलते फिरते किसी प्रकार चैन नहीं, कहीं चैन नहीं, किसी समय चैन नहीं। विरह सब समय पीछे पड़ा हुआ है। हटाने का भी मार्ग नहीं है जो वज्र का मारा नहीं मरा वह भला बात का मारा क्या मरेगा, अन्य उपाय वज्र से कठोर कभी नहीं हो सकते। ज्यौं० = पहली पंक्ति में चैन मिलने की बात है, दूसरे चरण में बेचैनी की स्थिति है। चैन आता नहीं, बेचैनी हटती नहीं। अन्य जितने भी मन बहलाने वाले पदार्थ हैं उनसे कहीं और एक क्षण के लिए भी नहीं। दूसरे को देखता नहीं, पर देखना चाहता है प्रत्येक क्षण प्रिय को ही। प्रिय रुचते तो हैं ही, सुजान भी हैं, वेदना हटाना जानते हैं। उनके पास संजीवनी बूटी भी है वही एकमात्र रोग को दूर करनेवाली औषध है। ऐपो = हे घने आनंददाता प्रिय, जितना ही आपके पास घना आनंद है उतनी ही यहाँ घनी वेदना है। उपाय अपाय हो गए हैं। वेदना में कुछ चेतना बनी है, तभी तो उसका अनुभव होता है, उपाय तो उस चेतना को भी दूर कर देते हैं। आने की आवश्यकता है प्रिय के, आ जाती है मूर्छा। चेतना रहने से तो प्रिय का ध्यान होता रहता है, इस वेदना में भी उस ध्यान से मन सँभला रहता है, पर बेहोशी के वे क्षण व्यर्थ चले जाते हैं। जितने क्षण बीतें वे प्रिय की स्मृति में बीतें यही इच्छा है। उपाय में मूर्छा आकर उस इच्छा में बाधक भी हो जाती है। कष्ट जो बढ़ता है वह पृथक्। हौं ही० = इतना अधिक वेदना से दिन बितानेवाली और कोई हो, मेरे ध्यान में तो नहीं है। अकेली दिन बिताती हूँ, कोई भी इसे बँटाता नहीं। प्रत्युत जो आता है वह अनेक प्रकार से सांत्वना देने का प्रयत्न करता है, उससे यह बढ़ती ही है। जब इस वेदना का अनुभव करनेवाला कोई है ही नहीं तो कहा भी किससे जाए। फिर कह भी कैसे सकती हूँ। मैं स्वयम् व्यक्त नहीं कर पाऊँगी। किसी प्रकार साँझ हो जाती है तो सबेरा होने में और भी परेशानी जान पड़ती है।

पाठांतर—अकली०—इकली, अकिली।

(कबित्त)

जोई रात प्यारे-संग बातन न जात जानी

सोई अब कहाँ तें बदनि लियें आई है।

जोई दिन कंत साथ जीवन को फल लाग्यो
सोई बिन अंत देत अंतक दुहाई है।
इनको तो रहो मेरे अंग अंग और भए
सूखो सुखलता झालरति मुरझाई है।
आली घनआनंद सुजान सौं बिछुरि परें
आपो न मिलत महा बिपरीति छाई है ॥९३॥

प्रकरण—प्रिय के वियोग के अनंतर रात और दिन तो परिवर्तित ही हो गए हैं, विरहिणी के अंग भी उसके विरुद्ध हो गए हैं। इसी पर पश्चात्ताप करती वह कह रही है। प्रिय के संयोग में रात बात की बात में समाप्त हो जाती थी और अब समाप्त होती ही नहीं। दिन प्रिय के साथ शीघ्र बीतता था, सफलता का संकेत देता था। अब बीतता नहीं, यमराज का साथी जान पड़ता है। मेरे अंग बदल गए, उनके अंगों के सहारे बढ़ती सुख की लता सूख चली। प्रिय से वियुक्त होकर अपनापन ही नहीं मिलता तो और क्या मिलेगा, यही झंखना है।

चूर्णिका—न जात = जिसके जाने या समाप्त होने का अनुभव नहीं होता था, बात की बात में जो बीत जाती थी। बढ़नि = बाढ़, वृद्धि। जीवन०= जीवन के फल सा प्रतीत होता था। बिन० = समाप्त न होकर। अंतक = यम। देत० = यमराज की दुहाई दे रहा है, मारे डाल रहा है। इनको = रात और दिन की बात तो एक ओर रहे। झालरति = झलराते हुए, लहराते हुए। आपो = अपनापन; आप् (जल)।

तिलक—जो रात संयोग में प्रिय के साथ बात करते हुए ऐसी बीत जाती थी कि कब आई और चली गई इसका अनुभव तक नहीं होता था वही न जाने कहाँ से बाढ़ लेकर आ गई है कि बीतने का नाम नहीं लेती। जो दिन प्रिय के साथ जीवन का फल सा लगता था, ऐसा जान पड़ता कि जीवन दूना हो गया, जीवन सफल हो गया अर्थात् जिसके लिए भूमंडल में जन्म लिया वह यही अवसर है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए, इस प्रकार की मनःकामना की पूर्ति से जो शीघ्र समाप्त हो जाता था वह अब बीतता नहीं, प्रत्युत यमराज के दूत की भाँति उसकी दुहाई फेरता जान पड़ता है, मारे डाल रहा है;

रात और दिन तो सबके हैं अपने नहीं हैं, वे यदि किसी प्रकार का विपरीत आचरण करते हैं तो उनपर अपना क्या वश है, पर जो अपने अंग हैं, जिन पर अपना वश चलता रहा है वे भी और के और हो गए हैं। वे अंग कहे में नहीं हैं, इसी से सुख की लता को सींचना, उसे सँभालना भी उन्होंने छोड़ दिया है, जिससे जो लता हरी-भरी हो गई थी वही मुरझा रही है। हे सखी, आनंद के घन प्रिय सुजान से वियुक्त हो जाने से आप (अपनापन; जल) ही नहीं मिलता। भला ऐसी अत्यंत विपरीत स्थिति में कैसे समय काटूँ।

व्याख्या—जोई० = रात में अंतर नहीं है उसके घटने-बढ़ने में अंतर है। प्रिय के साहचर्य का मुझपर ही नहीं रात पर भी प्रभाव पड़ता था। रात भी साथ देती थी, वह इतनी शीघ्रता से समाप्त होती थी कि उसके न आने का अनुभव होता था न जाने का। वह समाप्त हो जाती थी, बातें नहीं चुकती थीं। प्रिय में तन्मय रहने का परिणाम था कि रात का पता नहीं चलता था। वही रात अब वियोग में बढ़ क्या इसलिए गई है कि संयोग में जितना घटी थी उतनी ही बची हुई आकर बढ़ रहा है। जाई दिन० = पहले चरण में 'प्यार' विशेषण है यहाँ 'कंत' पहले 'संग', शब्द है यहाँ 'साथ' पुनरुक्ति शब्द तर से बचाई गई है। 'प्रिय' की प्रियता-रोचकता रात में भी व्याप्त थी। कांत की कांति दिन में भी थी। 'अंत' नहीं हो रहा है, पर दुहाई 'अंतक' (अंत करनेवाले) की ही दे रहा है। कदाचित् 'अंतक' से अपनी गुहार उसने की तो उसके बदले वह उसका अंत न करके मेरा ही करने लगा। 'जीने का फल' मिलने और 'मृत्यु की दुहाई' में परम विरोध की स्थिति। इनको० = ये दोनो भी प्रिय के ही साथ हैं, जैसे वे मुझसे विमुख वैसे ये भी विरुद्ध। ये मेरे अंग कभी नहीं हुए। जब अंग हुए भी तो प्रिय के ही। अथवा इन्होंने 'अनंग' का ही साथ दिया। संयोग में ही अनुकूल रहे। फिर इनकी क्या चर्चा, मेरे अंग ये जो सेख दुःख में साथ देनेवाले हैं वे भी बदल गए। वे भी प्रिय की ओर हो गए। इसलिए सुख को सँभालना ही त्याग दिया। 'सुख' और 'सूख' में ही अंतर है। इतने ही थोड़े से परिवर्तन से 'सु' के 'सू' हो जाने से सारी परिस्थिति बदल गई। हरी या सरस से सूखी और फैलती से मुरझाई। वह रस जिससे लता सींची जाती थी चुक गया, वह आप (जल) मिलता ही

नहीं। आली० = आनंद के घन और सुजान से वियुक्त होने से आनंद का वियोग और ज्ञान का वियोग है। इसी से अपनी चेतना का पता नहीं लगता। निरानंद के कारण मोह और अज्ञान के कारण मोह, अचेतन स्थिति। 'महा-विपरीति' का अर्थ यह कि अपने अंग अपने न रहें तब तक तो विपरीत स्थिति, जिसे चाहते हैं वह अपने अनुकूल आचरण न करे तो विपरीत और जब अपना-पन भी अपना न रह जाय तो महा विपरीत स्थिति होगी।

जिन आँखिन रूप-चिन्हारि भई तिनको नित नींद ही जागनि है।
हित-पीर सों पूरित जो हियरा फिरि ताहि कहौ कहा लागनि है।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ जियराहि सदा दुख दागनि है।
सुखमै मुखचंद बिना निरखें नख तें सिख लौं बिष-पागनि है ॥९४॥

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के वियोग में किस प्रकार दुखी है उसी को वह प्रिय से कह रही है। प्रिय को कल्पना में लाकर एकांत भाषण कर रही है अथवा शास्त्रीय ढंग से सोचें तो प्रिय के निकट संदेश भेजा है। वह कहती है कि जिन आँखों ने प्रिय का सौंदर्य देखा उनमें निद्रा नहीं आती, केवल जागरण ही बना रहता है। हृदय में प्रेम की वेदना का परिणाम है कि वह अन्यत्र नहीं लगता। प्रिय के दर्शन से जो सुख मिला उसके न मिलने से वह सदा दुःख से जलता है। मुख-सुधाधर के बिना विष में पगना हो रहा है। प्रिय को सुनाकर उसे अनुकूल करने का प्रयास है।

चर्चिका—रूप = सौंदर्य। चिन्हारि = परिचय। नींद = नित्य जागते रहना ही उन नेत्रों की नींद है। सारी निद्रा जागरण में ही अंतर्भुक्त हो गई है। हित-पीर = प्रेम की पीड़ा, प्रेम की वेदना। लागनि = लगना, ठहरना। दागनि = जलना। सुखमै = सुखमय। बिष = विष में लिपट जाना।

तिलक—हे प्रिय, जिन आँखों को आपके सौंदर्य का परिचय प्राप्त हुआ उन आँखों में उस सौंदर्य के सिवा अब और कोई बस नहीं सकता, यहाँ तक कि निद्रा भी नहीं। इसलिए आपके वियोग में वे आँखें जगती ही रहती हैं, खुली ही रहती हैं। उनका इस प्रकार नित्य जागते रहना ही उनकी निद्रा है। वे अब निद्रा में सुख नहीं पा सकतीं। जो हृदय आपके प्रेम की पीड़ा से भर गया वह केवल आपसे ही लगन रख सकता है अन्यत्र उसमें लगने की वृत्ति ही समाप्त

हो गई है। हे आनंद के घन सुजान, आपके वियोग में जी को सदा दुःख और उसकी जलन ही मिलती है, आपके संयोग में आनंद और शीतलता जो मिल चुकी वह फिर मिलनेवाली नहीं। आपका सुखदाययी जो मुख सुधाघर है उसे बिना देखे आपादमस्तक विष में पगना ही रह गया। उससे अमृत की प्राप्ति होती थी, अब केवल बिष में डूबे हैं।

व्याख्या—जिन० = रूप प्रकाशमय है। नींद में प्रकाश प्रत्यक्ष नहीं रहता इसी से वे जगती रहती हैं। आपके सौंदर्य को देखने के अनंतर इन नेत्रों को बंद करने को इच्छा नहीं होती। देखते समय नेत्रों में जो यह इच्छा हुई कि पलक भी न पड़े और सौंदर्य-निर्निमेष दिखाई देता रहे वह वृत्ति इनमें स्थायी हो गई। वे आपके सौंदर्य-दर्शन से इतनी तृप्त हो चुकी हैं कि अब उन्हें निद्रा आदि द्वारा होनेवाले सुख की कोई चिंता नहीं है। भारतेंदु भी कह चुके हैं—आँखें ये खुली की खुली ही रहि जायँगी। हित० = प्रेम की पीड़ा जिस हृदय में हुई उनमें अब और स्थान ही नहीं है केवल प्रेम और प्रिय के लिए स्थान है। हृदय को पीड़ा ने ही इतना अपनी ओर प्रवृत्त कर रखा है कि अन्यत्र उसके प्रवृत्त होने की वृत्ति ही समाप्त हो गई है। पीड़ा लगी या वह पीड़ा से लगा और अब क्या लगेगा, किससे लगेगा। घन० = अब भी तो सुनिए। केवल आपका रूप नेत्रों में और आपका प्रेम हृदय में बसा है, अन्य किसी का लवलेश नहीं है। सुखमैं० = सुखमय अर्थात् सुधामय। नख से शिख कहने में यह व्यंजना है कि आपके मुखचंद्र की सुधा शिख से नख तक जाती थी पर विष नख से शिख को ओर आ रहा है। जिन नेत्रों ने आपका रूप देखा है वे शिख में हैं, उनमें विष का संचार सबसे अंत में होता है।

पाठांतर—कहाँ—कहूँ।

(कबित्त)

'घर बन बीथिन में जित-तित तुम्हैं देखौं,
इतेहू पै जान भई नई बिरहामई।
बिषम उदेग आगि लपटैं अंतर लागें,
कैसे कहौं जैसें कछू तचनि महा तई
फूटि फटि टूक-टूक ह्वै कै उड़ि जाय हियो,

बचिबो अचंभो मीचौ निदर करे गई।
आनंद के घन लखें अनलखें दुहूँ ओर,
दईमारी हारी हम आप ही निरदई ।।९५।।

प्रकरण—विरहिणी अपने विरह की प्रचंड वेदना का उल्लेख करती हुई प्रिय को निर्दय बतला रही है। वह कहती है कि सर्वत्र आप दिखाई भी देते हैं और आपका विरह भी बना हुआ है। विरह की अग्नि इतनी प्रचंड है कि बताई नहीं जा सकती। हृदय ऐसी वेदना में पड़ा है कि टुकड़े-टुकड़े होकर उड़ जाना चाहता है। यह वेदना ऐसी चरम सीमा पर है कि मृत्यु भी निरादर करके चली गई। मेरी स्थिति दोनो प्रकार से कष्टदायिनी है, देखती हूँ तो भी और नहीं देखती तो भी। आप इतने निर्दय हैं कि फिर भी ध्यान नहीं देते।

चूर्णिका—बीथी = गली, मार्ग। उदेग = (उद्वेग) व्याकुलता। अंतर = अंतःकरण, मन। तबनि = ताप। तई = तपी। फूटि फटि = फूटना जैसे घड़े आदि में छेद हो जाना, फटना जैसे घड़े का दरक जाना। टूक = टुकड़ा। मीचौ = मृत्यु भी। निदर० = निरादर करके चली गई, मृत्यु ने भी त्याग दिया (बच जाना आश्चर्य था, पर मृत्यु भी छोड़कर चली गई। मरने से भी बढ़कर कष्ट है)। दुहूँ० = दोनो प्रकार से। दईमारी = दैव की मारी, हतभाग्य। हारी = हैरान हूँ। निरदई = निर्दय, दयाहीन; निर + दई, दैव के शासन से परे।

तिलक—हे सुजान प्रिय, बड़ी विलक्षण स्थिति है। घर में, वन में और मार्ग में जहाँ-तहाँ जब देखती हूँ तो आप दिखाई पड़ते रहते हैं। इस प्रकार आपके गोचर रहने पर भी मैं नए प्रकार के विरह में पड़ी हुई हूँ। विरह उसी का होता है जो प्रत्यक्ष या गोचर नहीं रहता। आप गोचर भी हैं और अगोचर भी। इसी से मुझे यह विलक्षण विरह घेरे हुए हैं। उद्वेग की अग्नि भी विषम (अत्यंत भीषण) है। उसकी लपटें जब अंतःकरण में लगती हैं तब इतने अधिक ताप से मैं तप जाती हूँ जिसे वचनों द्वारा किसी प्रकार व्यक्त नहीं कर सकती। हृदय इस भीषण आग के कारण फूटकर फटकर टुकड़े-टुकड़े होकर उड़ जाना चाहता है, मेरा बचना अचरज की ही बात है, पर इस भीषण विरह की सीमा मृत्यु को भी पार कर चुकी है, इसकी वेदना मृत्यु की वेदना से भी बढ़कर है तभी तो मृत्यु भी निरादर करके चली गई। हे आनंद के घन, मैं आपके देखने

न देखने पर दोनो स्थितियों में दैव की मारी हैरान ही होती रहती हूँ, किसी प्रकार चैन नहीं मिलता। फिर भी आप इतने निर्दय हैं कि मेरी ओर उन्मुख नहीं होते। मैं तो दैव के शासन में हूँ उसकी मार सह रही हूँ और आप दैव के शासन से परे हैं, निर्द्वंद्व हैं।

व्याख्या—घर० = घर और घर से बाहर अर्थात् वन दो ही स्थान जहाँ मेरा जाना आना है और जाने-आने के लिए मार्ग है। इसे मिलाकर तीन ही स्थितियाँ हैं। तीनो स्थलों पर केवल आप ही दिखते हैं। 'जित तित' = जहाँ देखती हूँ वहीं। इतने गोचर रहते पर भी मैं ऐसी पड़ी रहती हूँ जैसे अभी-अभी नया विरह हुआ, पहले-पहल ही वियोग हुआ है। यह विरह अनोखा है। आप गोचर भी हैं और आपसे विरह भी है। आप निकट भी हैं और दूर भी हैं। वास्तविकता यह है कि आपकी स्मृति इतनी प्रखर है कि ध्यान में आप ही चढ़े रहते हैं, पर वस्तुतः आप मुझसे बहुत दूर विराजमान हैं। बिषम० = जब आप दिखते हुए भी विरह का कष्ट दे रहे हैं तब व्याकुलता की आग विषम हो जाती है। जब प्रिय परोक्ष रहता है और उसके अभाव का कष्ट होता है तब तो उद्वेग 'सम' होता ही है, ऐसे ही उद्वेग का वर्णन शास्त्रीय कवि निरंतर करते रहते हैं। पर जब आप ध्यान द्वारा प्रत्यक्ष हैं फिर भी विरह है तब ऐसा उद्वेग विषम है। भीतरी आँच प्रचंड होती है। भीतर ही भीतर सुलगनेवाली आग में आँच अधिक होती है। वस्तुतः उसकी गरमी बाहर निकल नहीं पाती इसलिए वहीं राशीभूत होती रहती है। आँवाँ भीतरी आँच के कारण बहुत अधिक ताप संचित कर पाता है। यह ताप इतना अधिक है और इतना अधिक जला रहा है कि उसे न वचनों द्वारा कह सकते हैं और न उसका कोई दृष्टांत ही दे सकते हैं। किसी को ऐसा कभी कष्ट हुआ हो तभी तो उदाहरण मिले। फूटि० = फूटने और फटने तक तो उड़ने की संभावना नहीं रहती पर जब टुकड़े-टुकड़े हो जायगा तब उड़ने की संभावना हो जाती है। मेरी वेदना इतनी है कि मृत्यु छोड़कर चली गई। बिहारी भी विरह की आँच के कारण मृत्यु-सचान के झपटने में बाधा बताते हैं। बचने का ही अचंभा है—'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः'। मरना ही स्वाभाविक है, जीना ही विकार है। इसी जीने के विकार में पड़ी हूँ। आनँद० = 'लखें' अर्थात् 'घर बन

बीथिन में तुम्हें देखौं' और 'अनलखें'—'नई बिरहा भई'। आपके देखने से भी कोई लाभ नहीं, न देखबे पर तो कहना ही क्या है। देखने पर भी विरह, न देखने पर भी विरह, दोनो स्थितियाँ कष्टद—'उभयतः पाशा रज्जुः'।—दुहुँ दिसि दाह दहन जैसे दगेधइ व्याकुल कीट परान (—विद्यापति)।

पाठांतर—फूटि फटि—फूटि फूटि।

बिरच्यौ किहि दोष न जानि सकौं जु गयौ मन मो तजि रोषन तैं।
जिय ता बिन यौं अब चातुर क्यौं तब तौ तनकौ बिरमायौ न तैं।
घनआनँद जान असोही महा अपनाय इते पर त्यागि हतैं।
अधबीच परयौ दुखज्वाल जरै सठ को सुख कौं हठि द्वार दतैं ॥९६॥

प्रकरण—जी को चेतावनी दी जा रही है। विरह से मन तो प्रिय के पास चला गया। अब केवल शरीर रह गया। उस मन के बिना अब जी व्याकुल है। इस पर उसे चेतावनी दी जा रही है कि मन मुझसे उदास होकर क्यों चला गया, पता नहीं। पर जब वह गया तो हे जी, तुमने उसे रोका क्यों नहीं, अब उसके बिना क्यों व्याकुल हो रहे हो। तुमने तो मन को बेरोकटोक जाने दिया और इतने पर भी वे मुझे त्यागकर मारे डाल रहे हैं। इधर मन के बिना कष्ट, उधर प्रिय का परित्याग; फिर किस सुख के लिए उनके द्वार पर दते हुए हो कि मुझे वह मिलेगा ही।

चूर्णिका—बिरच्यौ = (मुझसे) विरक्त या उदास हो गया। किहि॰ = किस त्रुटि के कारण। गयौ॰ = मन मुझे त्यागकर मारे रोष के चला गया, कुपित होकर चला गया। ता बिन = उस मन के बिना। आतुर = उतावले। तनकौ = थोड़ा भी। बिरमायौ॰ = उसे रोका नहीं। त्यागि॰ = त्यागकर मारे डाल रहे हैं। सठ = ऐ दुष्ट मन। को॰ = किस सुख के लिए। हठि॰ = हठ करके उनके द्वार में (किस सुख के लिए) दते रहें (चिपके रहें, डटे रहें)।

तिलक—हे जी, अब मन के प्रिय के निकट चले जाने से उसके बिना इतने उतावले क्यों हो रहे हो, तब तो तुमने उसको जाते समय थोड़ी देर के लिए भी नहीं रोका, चुपचाप चले जाने दिया। मुझे तो यह पता नहीं कि मुझसे कौन सी त्रुटि हो गई जिसके कारण मेरा ही मन मुझसे विरक्त होकर और रोषपूर्वक मेरा परित्याग करके मुझे छोड़कर प्रिय के पास चला गया। यदि

मुझे कुछ भी पता होता तो भी मैं तुम्हारे कार्य का औचित्य समझ लेती। आनंद के धन प्रिय सुजान ऐसे अमोही हैं कि उन्होंने पहले तो अपनाया और फिर इतने अधिक कष्ट को देखते-समझते भी त्याग दिया और उस कष्ट में डालकर मारे भी डाल रहे हैं। इधर तेरा साथी मन चला गया इसकी वेदना, उधर उन्होंने इतने पर भी नहीं अपनाया, दोनो प्रकार के दुःखों की ज्वाला के बीच ऐ शठ जी, तुझे जलना ही जलना है। भला अब क्या सुख उनसे मिलनेवाला है जो हठपूर्वक उनके द्वार में दता रहा जाए।

व्याख्या—बिरच्यौ० = पहले तो बहुत ही रचा हुआ, अनुरक्त था। जानते बूझते मेरे द्वारा कोई दोष घटित नहीं हुआ है, अनजाने हुआ हो तो अभी तक उसका पता नहीं है। जानने का प्रयत्न न किया हो सो भी नहीं, उसे जानने का पूरा प्रयास किया है। केवल त्यागकर ही नहीं गया है रोष सहित गया है, प्रत्युत रोष भी अनेक किए हैं, अधिक रोष करके गया है। रोष बिना किसी अपराध के हो नहीं सकता। भला मैंने तो कोई अपराध किया नहीं, उसने ऐसा और इतना प्रचंड रोष कैसे किया। त्यागकर ऐसा गया कि लौटने का नाम नहीं। जिय० = उस मन के बिना इस समय जितनी उतावली दिखा रहे हो, वह बहुत अधिक है, उससे कहीं बहुत थोड़ी भी उस समय दिखाते जब मन रोष करके मुझसे उदास होकर जा रहा था तब इस संकट को न मुझे नौबत आती न तुम्हें ही। अब इस उतावली का फल भी कुछ न होगा। उस समय भले हो उसे चले जाने देते पर यदि केवल इतना ही जाते समय पूछ लेते कि किस अपराध के कारण इसे छोड़कर जा रहे हो तो भी मुझे संतोष हो जाता। अब तो तुम्हारे आचरण में कोई औचित्य नहीं दिखाई देता। प्रत्युत यही समझ में आता है कि जैसा तुमने किया वैसा भोगा। पहले तो कुछ भी ध्यान नहीं दिया और मुझे जिस संकट में पड़ना पड़ा उसकी भी चिंता नहीं की; अब छटपटाते हो। घन० = यह भी अच्छा हुआ कि उस प्रिय अमोही ने कोई मोह नहीं दिखाया। उन्होंने अपनाकर भी त्याग दिया और मारे डाल रहे हैं। यह सब तुम्हारे उस समय के अनुचित आचरण का फल है। प्रिय को क्या, वे स्वयम् आनंदघन हैं, उन्हें दूसरे के कष्ट से कोई प्रयोजन नहीं। फिर सुजान हैं, चतुर हैं। संसार कष्ट भोगे तो भोगे उनका तो स्वार्थ सधता ही है। 'महा अमोही' उसे कहते हैं जो पहले किसी को प्रेम करके अपनी ओर आकृष्ट करे फिर उसे बेकार करके छोड़

दे। गोद में निर्द्वंद्व होकर विश्वास-पूर्वक सोनेवाले की जो गर्दन सोते में उतार ले। आप उनके लिये जान दे रहे हैं वे इन्हें परित्यक्त ही नहीं करते मारे भी डालते हैं। ऐसा त्याग दिया है कि केवल उन्हीं को भजते रहने पर भी वे ध्यान नहीं देते। अथ० = जैसी शठता तुमने की उसी का यह फल मिला कि दोनों ओर आग लगी है और तुम उसमें जल रहे हो। तुम्हारी उतावली की वेदना, प्रिय द्वारा परित्याग और ज्वाला में इस प्रकार जलना सब तुम्हारे ही पापों का परिणाम है। अब उसी के द्वार में दते रहने से क्या सुख मिलेगा। अभी कुछ और दुःख भोगना शेष है। जिसके लिए उनके द्वार में दते रहने की वृत्ति का त्याग नहीं कर रहे हो।

विशेष—'सभा' से प्रकाशित संस्करण में 'छारद तें' रूप माना गया है। 'छारद' का अर्थ 'बौछार' किया गया है। यह पुरानी लिखावट को ठीक-ठाक न पढ़ सकने का फल है। 'द्व' को 'छ' पढ़ लेने से एक नया शब्द बना और नए कल्पित शब्द का कल्पित अर्थ भी निकाला गया।

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यौ।
ताही के चारु चरित्र बिचित्रनि यौं पचिकै रचि राखि बिसेख्यौ।
ऐसो हियो हितपत्र पवित्र जु आन-कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनँद जान अजान लौं टूट कियौ पर बाँचि न देख्यौ। ९७।

प्रकरण—प्रिय के निकट अपना हृदय उपस्थित किया प्रेमिका ने। वह हृदय क्या था मानो प्रेमपत्र ही था। पर उसने पत्र को पढ़ा तक नहीं। उसमें जो कुछ लिखा था उसपर विचार करना तो दूर रहा, प्रत्युत उसे फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। इस प्रेमपत्र का विवरण इसमें दिया गया है। इसमें प्रेम का मंत्र लिखा है, मंत्र में प्रिय के ही विचित्र चरित्र लिखे गये हैं। उसे बड़ी पवित्रता से प्रस्तुत गया किया है।

चूर्णिका—पन = प्रतिज्ञा, संकल्प। जा मधि = जिस हृदयरूपी पत्र में। सोधि = शुद्ध करके। सुधारि = अच्छी विधि से। है लेख्यौ = लिखा है। पचि कै = परेशान होकर, विशेष कष्ट सहकर। ताही० = उसी प्रिय के सुन्दर और विचित्र चरित्रों से ही बड़े परिश्रम से यह निर्मित किया गया है। हियो० =

हृदयरूपी प्रेमपत्र। आन = अन्य, और। न अवरेख्यौ = नहीं अंकित की। आन-कथा० = किसी दूसरे की बात इसमें कहीं भी अंकित नहीं है।

तिलक-(अपनी सखी से अथवा अपने एकांत भाषण में विरहिणी कह रही है) मैंने अपने प्रिय के निकट हृदयरूपी प्रेमपत्र पढ़ने और जैसा वे उचित समझें तदनुसार आचरण करने के लिए भेजा। उन्होंने उसे बाँचा तक नहीं, प्रत्युत बिना पढ़े ही सुजान होते हुए भी अजान की भाँति लेकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। यदि वे उसे बाँचते तो उन्हें पता चलता कि उस प्रेमपत्र में पूर्ण प्रेम का मंत्र लिखा था। मंत्र को लिखने का जैसा नियम है उस नियम से वह भली भाँति और शुद्ध रूप में लिखा गया था। मंत्र में कुछ और नहीं था, उन्हीं के मनोहर और अनुपम चरित्र उसमें लिखे थे जो बड़े परिश्रम से उसमें और विशेष सावधानी से रच-रचकर प्रस्तुत किए गए थे। उस प्रेम-पत्र की ऐसी पवित्रता थी कि उसमें किसी दूसरे की कथा कहीं भी किसी प्रकार अंकित नहीं हुई थी, केवल प्रिय की ही सर्वत्र प्रशस्ति थी। ऐसे पत्र को भी फाड़ देने से उन्होंने न्याय नहीं किया, अनुचित कार्य कर डाला। यह अनौचित्य उनके लिए और मेरे लिए, दोनो के लिए बुरा है।

व्याख्या—पूरन० = प्रेम पूरा और मंत्र अधूरा नहीं पूरा। उसके लिखने के नियम भी पूरे। पूर्णता में कोई कमी नहीं। शुद्धता भी पूरी और उसमें सुधार भी पूरा। किसी प्रकार की कमी नहीं। मंत्र पहले तो अधूरा हो तो भी बेकार हो जाता है, उसे जिस स्थान, जिस समय, जिस सामग्री और जिस विधि से लिखना चाहिए यदि उसमें कमी हो तो भी वह अपना प्रभाव नहीं रखता या जानकर उसे निरर्थक समझते हैं। लिखने में अशुद्धि हो जाय, उसमें जिस प्रकार के यंत्र बनते हैं उसमें त्रुटि हो जाए तो भी वह ठीक नहीं होता। इस प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त था यह मंत्र। ताहो० = यदि मंत्र ठीक भी लिखा होता, उसमें कोई त्रुटि न होती, पर वह किसी दूसरे देवता का होता तो भी कह सकते थे कि इस मंत्र से प्रिय से क्या प्रयोजन। पर उस मंत्र में चर्चा केवल उन्हीं की थी। चर्चा होने पर भी हो सकता है कि उसमें कुचर्चा रही हो, सो भी नहीं, उनके 'चारु चरित्र' ही उसमें थे। उनके उत्तमोत्तम चरित्र उसमें थे। बहुत अधिक श्रम किया गया था। किसी प्रकार

का आलस्य या प्रमाद उसके प्रस्तुत करने में नहीं हुआ। ऐसा बढ़िया 'चरित्र-मंत्र' कभी लिखा ही नहीं गया। ऐसो० = यदि किसी मंत्र में 'स्वर' का दोष हो जाए तो भी अर्थ का अनर्थ हो जाता है। 'इंद्रशत्रु' वृत्रासुर केवल 'स्वरतोऽपराधात्' मारा गया। 'इंद्रशत्रु' शब्द के दो प्रकार के उच्चारण थे जिससे एक उच्चारण से उसका अर्थ 'इंद्ररूपी शत्रु' था, दूसरे से 'इंद्र का शत्रु' था। केवल उदात्त, अनुदात्त के हेर-फेर से इतना बड़ा परिवर्तन एक शब्द का हो जाता है। इसी से मंत्र के उच्चारण, लेखन आदि की पवित्रता अत्यंत मान्य है। इसमें दूसरे की कथा होने से ही अपवित्रता की संभावना हो सकती थी, पर यहाँ दूसरे की कथा का नाम नहीं। अंकित करना तो दूर 'अवरेखा' भी नहीं, ध्यान में भी नहीं लाए। सर्वांगीण विशेषताओं और विधि-विधानों से उसकी पवित्रता की सुरक्षा करके भेजने पर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया। सो० = यदि कोई ऐसा हो जो उस मंत्र को पढ़ना न जानता हो, उसका अर्थ न लगा सकता हो तो कभी वे कह सकते हैं कि उसने अपने अज्ञान के कारण ही उसे नहीं पढ़ा। फिर भी 'अजान' भी हो तो भी वह दूसरे से सहायता ले सकता है। दूसरे के पढ़ने की प्रतीक्षा कर सकता है। जो सोने का बहाना करके जागता हो उसका क्या किया जाए। ये तो जानते भी अनजान हैं। मंत्र पढ़ने से प्रभावित हो जाने की आशंका रही होगी उसके स्पर्श से वृत्ति बदलने का खटका रहा होगा। इसी से फाड़कर फेंक दिया। कहना इतना ही है कि मैंने हृदय से भली भाँति प्रिय को चाहा किसी और को नहीं, पर उन्होंने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उसे पूरी वेदना सहने और उस वेदना में विचलित होने दिया।

जीव की बात जनाइयै क्यों करि जांन कहाय अजाननि आगौ।
तीरनि मारि कै पीर न पावत एक सो मानत रोयबो रागौ।
ऐसी बनी घनआनँद आनि जु आन न सूझत सो किन त्यागौ।
प्रान मरैंगे भरैंगे बिथा पै अमोही सौं काहू को मोह न लागौ।९८।

प्रकरण—विरही अपने विरह की कथा सखा के प्रति ही निवेदित कर रहा है अथवा एकांत-भाषण के रूप में। उसका निष्कर्ष है कि यदि किसी का प्रेम हो तो मोह करनेवाले से होना चाहिए। अमोही से प्रेम न हो, किसी का

न हो। प्रिय के अमोह के कुछ विवरण भी उसने दिए हैं। जो सुजान होकर अज्ञानियों का शिरोमणि हो, जो तीरों से मारने पर भी पीड़ा का अनुमान न कर पाता हो, जो रोने और गाने को एक समझता हो उससे बढ़कर अमोही कौन होगा।

चूर्णिका—जीव = जी। जान = सुजान, ज्ञानसंपन्न, परम ज्ञानी। आगौ= अग्रगण्य, शिरोमणि। जीव कौ० = जी की बात उससे कैसे कहूँ जो परम ज्ञानी होने पर भी अज्ञानियों का अगुआ दिखाई देता है। तीरनि = बाणों से। पीर० = पीड़ा का अनुमान नहीं करता; दया नहीं दिखाता। एक सो = समान। रागौं = गाना भी। ऐसो० = ऐसी दशा हो गई है। जु = जो, कि। आन० = दूसरा कुछ सूझता नहीं, किसी दूसरे की ओर झुकाव होता ही नहीं। सो० = वह चाहे छोड़ ही क्यों न दे। भरैंग० = व्यथा में दिन काटेंगे। न लागौं = न लगे, न हो।

तिलक—प्रिय तो आनंद में लीन हैं। पर मेरे ऊपर ऐसी आ बनी है कि कुछ और सूझ ही नहीं रहा है। यदि कोई यह कहे कि जिसके कारण ऐसा कष्ट भोगना पड़ रहा है उसे ही त्याग दो तो भी यही कहना है कि उसे त्यागकर जाएँ कहाँ। यदि उसके सामने अपनी व्यथा कहें तो भी नहीं कह पाते। अपने जी की बात उससे कहें भी तो कैसे कहें, वह तो सुजान होते हुए भी अनजानों का अगुआ है। उसी ने बाणों (नेत्रों) से मारकर घायल किया है, पर पीड़ा का अनुमान भी नहीं करता। यह नहीं समझता कि जिसके लिए एक ही बाण पर्याप्त है उसे अनेक बाण मारकर अधिक पीड़ा में क्यों डाला जाए। इतनी दया तो वह कर ही सकता था कि बाण अधिक न चलाता और अधिक बाण चलाने पर यही देखता कि जरा चलकर देखें कि वह कैसा छटपटा रहा है। वह तो रोने और साथ ही गाने को भी एक-सा ही समझता है। अब यही कह सकते हैं कि इस व्यथा के दिन काटने या सहने ही होंगे, प्राणों को मारना ही पड़ेगा। पर अपना अनुभव यही कहता है कि मेरा प्रेम अमोही से होने के कारण ही परेशानी मुझे उठानी पड़ी। वह यही कहती है कि कोई यदि प्रेम करे तो अमोही से कभी प्रेम न करे। मेरा उदाहरण औरों के लिए आदर्श

बन जाए। इसे देखकर और लोग कम से कम कष्ट से तो बचें, मैं तो कष्ट भोग ही रही हूँ।

व्याख्या—जीव० = जी की बात उससे कही जाती है जिसमें जी हो। एक तो उसकी प्रसिद्धि 'सहृदय' के रूप में नहीं है जिससे कहना है। न सही, पर वह जिस रूप में प्रसिद्ध है वही रूप उसका ठीक हो तो भी काम हो सकता है। पर वह तो 'सुजान' होकर भी कुछ और है। फिर जी की बात कुछ बतावे की होती नहीं, वह तो अनुभव करने की होती है। अनुभव करने की जिसमें वृत्ति हो न हो उसे क्या बताएँ और अनुभव को ठीक-ठीक शब्दों से कैसे रखें। वचन उसका बोझ सँभालने में असमर्थ हैं। तीरनि० = 'पीर पाइबो' का अर्थ होता है 'पीड़ा का अनुभव करना'—'बिन आपने पाँव बिवाई गएँ कोउ पीर पराई का पावत है'—(ठाकुर)। अपने तीर तो पा लेता है, पर पीड़ा नहीं पाता। जिन तीरों ने बिद्ध किया है वे तीर बिद्ध के शरीर से पीड़ा पहुँचाकर निकलते हैं। उस पीड़ा को उत्पन्न करनेवाले वे तीर ही हैं। उनके लौटने के साथ ही वह पीड़ा भी लिपटी लौट जाती है, पर अपने तीर तो वधिक समेटकर रख ले और मारे जानेवाले की पीड़ा को समझे भी न ऐसा नहीं होता। वह इतना अवश्य जानता है कि कौन तीर कितना घातक है। वह तो यह भी नहीं सोचता। यदि सोचता तो रोने को रोना तो समझता, गाना तो न समझता। मेरा रोदन, व्यथा के उद्‌गार उसे गाने का सुख दे रहे हैं। एक-सा मानने में गाने की ओर गौरव है। अर्थात् गान को रोदन समझने का प्रश्न नहीं है। रोदन को ही गान समझने की स्थिति यहाँ पर है। ऐसी० = जो विषम स्थिति है वह सहसा आ पड़ी है ऐसी स्थिति किसी की थी नहीं। अब आ बनी वेदना के अतिरिक्त और कोई स्थिति सूझती नहीं। एक तो सर्वत्र वे प्रिय ही दिखते हैं, दूसरे यह वेदना दिखती है अर्थात् इसका अनुभव होता है। वह प्रिय चाहे मुझे परित्यक्त ही किए हुए क्यों न हो, पर मैं उसका परित्याग नहीं कर सकती और उसके अतिरिक्त मेरी दृष्टि में दूसरा आ नहीं सकता। प्रान० = मुझमें साहस टूटा नहीं है। मेरे प्राण इस व्यथा को साहसपूर्वक सहेंगे और मुझे निश्चय है कि प्राणों को मरना भी पड़ेगा। अत्यधिक वेदना का अवश्यंभावी परिणाम भी निश्चित है, पर प्रिय का परित्याग फिर भी संभव नहीं। प्रेमी की नीति तो

मुझे भली भांति ज्ञात है, वे प्रिय के अतिरिक्त किसी और को चाहते नहीं। पर यदि उन्हें प्रिय अमोही मिल जाए तो बड़ी भारी कठिनाई हो सकती है और हो सकता है कि कोई उतना सहने में समर्थ न हो। अमोही का प्रेम किसी अमोही को कलंकित करे चाहे न करे, पर किसी बेचारे प्रेमी के उस व्यथा के न सह सकने के कारण प्रेमी कलंकित होने की स्थिति में आ जाए यह संभावना भी मुझे स्वीकार्य नहीं है।

पाठांतर—जनाइयै-जतावन।

तोहि तौ खेल पै मो हिय सेल सो ए रे अमोही बिछोह महादुख।
जाहि जु लागै सु ताहि सहैगो पै क्यौं न परचौ लहि तू तौ सदा सुख।
एक ही टेक न दूसरो जानति जीवन प्रान सुजान लियें रुख।
ऐसी सुहाय तौ मेरी कहा बस, देखिहौं पीठ दुरायहौ जौ मुख ॥९९॥

प्रकरण—प्रिय के विरह से विरहिणी व्याकुल होकर संकल्प करती है कि यदि प्रिय अपने दर्शनों से वंचित कर रहा है, अपना मुख छिपा रहा है, तो मैं उसकी पीठ ही देखती रहूँगी। पर मुझे यह अवश्य कहना है कि आप (प्रिय) जिसे खेल समझकर करते हैं वह मेरे लिए सेल की भांति है। बिछोह संसार में भारी दुःख है। अमोही होने से आपको पता नहीं। आपको तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं सहना है, आप सानंद पड़े-पड़े सुख भोगिए न। आपकी प्रवृत्ति के अनुकूल ही मुझे चलना है। आपको यदि विमुखता ही सूझती है तो वह भी मेरे लिए सिर-माथों पर है।

चूर्णिका—सेल = बरछा। तोहि० = तुझे तो केवल खेल समझ में आता है, पर मेरे लिए तो बरछे की भांति चुभाने और कष्ट देनेवाला है। जाहि० = जिस पर जो विपत्ति-आपत्ति आ पड़ेगी उसे वह सहेगा ही, पर तुझे तो उसमें पड़ना है नहीं। केवल अपने दर्शन देता रह और खड़े-खड़े भी नहीं पड़े-पड़े ही सही दर्शन दे। तू यों ही नित्य सुख पाए तो वह भी मुझे स्वीकार्य है। लियें० = प्रिय की प्रवृत्ति के अनुकूल ही आचरण करना है, उनके रुख को लेकर चलना है। दुरायहौ = यदि छिपा लोगे।

तिलक—हे प्रिय, आप तो खेल-खेल में मुझसे वियुक्त और साथ ही विमुख भी हो गए। आपका यह खेल मेरे लिए बरछे की भांति दुःखदायक

है। आप वियोग को खेल समझते हैं पर मेरी समझ में वह संसार में प्रेमी के लिए सबसे बड़ा दुःख है। यदि मुझे भाला लग रहा है तो उसे सहना ही है। कोई कितना ही कोमल क्यों न हो, जो आ पड़ती है उसे सहना ही पड़ता है। यदि आप खेल ही करना चाहते हैं तो प्रेमी की दृष्टि के संमुख रहते हुए आपको जो भी खेल रुचे करते रहिए, पड़े-पड़े ही सब कुछ करते रहिए, मजे में अपने सुख का भोग करते रहिए। आपके लिए किसी प्रकार की आँच नहीं। मेरी तो एक ही टेक है, यही निश्चय है, यही संकल्प है कि मेरे जीवन के प्राण सुजान जिस विधि से सुख पाएँ उसी के अनुकूल अपने को भी आचरण करना है। यदि आपको अपना मुख छिपाना सुहाता है तो आप मजे में छिपाइए। मुख छिपाने पर आपकी पीठ मेरी ओर रहेगी। आपकी पीठ को ही देखकर संतोष किया जा सकता है। आपकी सुमुखता नहीं मिलती तो मेरे लिए आपकी पराङ्मुखता का भी महत्त्व है। मुझे आपकी ओर ही देखना है, सुमुखता होगी तो विमुखता होगी तो।

व्याख्या—तोहि० = आपको खेल खेलना पसंद है, मुझे भी आपके खेल के खेल सहने हैं, पर समझने की बात इतनी ही है कि मैं तो आपके खेल को भी सह रही हूँ और आप मेरे खेल को कुछ समझते ही नहीं। आपने भले ही वस्तुगति से वियोग की स्थिति उत्पन्न की हो, पर मेरा निश्चय यही है कि आप केवल खेल ही कर रहे हैं। आपके विमुख होने का भी मुझे विश्वास नहीं है। 'ए रे अमोही' में वेदना की चरम व्यंजना है। 'ए रे' भावबोधक के प्रयोग से वह स्पष्ट है। 'बिछोह' में वियोग भी है और अछोह भी। आपने केवल वियोग की ही स्थिति नहीं रखी, 'अछोह' (अमोह) की भी वृत्ति दिखाई है। किसी का केवल वियोग हो तो फिर भी दुःख ही होता है, उस वियोग के साथ अछोह लग जाए तो वह महादुःख हो जाता है। जाहि० = वज्रपात भी हो तो जिसपर होगा वह उसे सहने का ही पहले प्रयास करेगा, न सहकर मर जाय, यह दूसरी बात है—'ओड़िअहि हाथ असनिहु के घाए!' (—तुलसी)। मुझे इस भाले आदि के लगने की भी चिंता नहीं, चिंता इस बात की है कि आपको जो सुख सदा मिल सकता था उसका आप नाहक त्याग किए दे रहे हैं। आप यदि यह समझते हों कि मुझे कभी दुःख नहीं मिलेगा तो वह हो नहीं

सकता। खेल-खेल में भी अनर्थ हो जाता है, खेल खेलनेवाले को भी कष्ट उठाना पड़ता है। मुझे तो विश्वास है कि एक समय वह अवश्य आनेवाला है जब आप भी मेरे दुःख से दुखी होंगे। जीते-जी न सही तो मरने पर हो सही। पर यदि आप अनुकूलता प्रदर्शित करें तो इस प्रकार के सुख में मेरा भी सुख मिल जाएगा। अन्यथा आपके सुख और मेरे दुःख में संघर्ष होता रहेगा। मेरा दुःख जीतेगा और आप व्यर्थ ही कष्ट में पड़ेंगे। एक ही० = मेरा संकल्प भी दूसरा नहीं एक ही है, क्योंकि आप मेरे जीवन-प्राण हैं। आपकी अनुकूलता ही मेरे जीवन-प्राण की अनुकूलता है। एक टेक छोड़कर दूसरी पर आचरण करना दूर की बात है। एक के अतिरिक्त दूसरी का ज्ञान भी नहीं है। आपको जो अच्छा लगे वही मुझे भी अच्छा लगता है। मेरी अपनी स्वतंत्र अभिरुचि का पर्यवसान आपकी ही अभिरुचि में हो गया है। उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है। ऐसो० = मैं तो विवश हूँ। मुझपर अपनी कुछ नहीं चलती। आपही का वश, आपही का शासन, मुझपर भी चलता है। मैं अवश्य देखना चाहती हूँ। पर यदि आप अपना मुँह छिपाते ही फिरते हैं और मेरी ओर पीठ ही कर रखी है तो मैं पीठ को ही मुख मानकर आचरण करूँगी। मैंने तो प्रतिज्ञा कर ली है कि आपकी सारी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियों में केवल एक ही वृत्ति अनुकूलता की रहेगी। मेरे लिए आपकी प्रतिकूलता का अस्तित्व भी निरर्थक है। जिस विरही में यह मनोवृत्ति हो जाए कि वह विमुखता को भी सुमुखता में परिणत कर ले उसके लिए प्रिय की विमुखता किस काम की रह गई। विमुखता का प्रभाव विमुख होना या कुछ चिढ़ना हो तब तो। यहाँ तो विमुख होने का प्रश्न है ही नहीं। फिर आपकी विमुखता किस प्रयोजन के लिए है। अपनी ओर से आप 'मियाँ-मिट्ठू' बन लें कि मैंने पराङ्मुखता दिखाई पर यहाँ तो उसे भी सुमुखता ही मानकर आचरण करने का नियम है।

पाठांतर—पै क्यों न-दहैगो।

(छप्पय)

महो दूध सम गनै हंस बक भेद न जानै।
कोकिल-काक न ज्ञान काँच मनि एक प्रमानै।
चंदन-ढाक समान राँगु-रूपो सम तोलै।

बिन बिबेक गुन-दोष मूढ़-कबि ब्यौरि न बोलै ।
प्रेम नेम हित-चतुरई, जे न बिचारत नेकु मन ।
सपनेहूँ न बिलंबिये छिन तिन ढिग आनंदघन ।।१००।।

प्रकरण—यहाँ नीति की, सिद्धान्त की, बात कही जा रही है। जगत् द्वंद्वात्मक है, उसमें दो प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। इनमें से जो दोनो को एक ही समझता हो वह अन्यत्र चाहे जो समझा जाए व्यावाहारिक जगत् में उसका महत्त्व वैसा नहीं हो सकता ।

चूर्णिका—मही = (मथित) मट्ठा । बक = बगुला । एक = एक-सा, समान । प्रमानें = समझे । ढाक = पलाश (गंधहीन)। राँग = राँगा । रूपौ = चाँदी को । सम = समान । तोलै = अर्थात् जाँच से निश्चित करे । बिन = बिना विचार किए । मूढ़ = मूर्ख । कबि = पंडित । ब्यौरि = विवेचन करके । नेम = नियम । हित = वह प्रीति जो प्रिय के स्वार्थ का ही ध्यान रखे; अपने स्वार्थ का परित्याग कर दे । चतुरई = चतुराई; अपने स्वार्थ पर ही ध्यान देने की वृत्ति । नेकु = थोड़ा भी । बिलंबिये = न ठहरे, न रुके । ढिग=पास ।

तिलक—जो मट्ठे और दूध को समान समझते हैं, जो हंस और बगुले का भेद नहीं जानते, जिन्हें कोकिल और कौए के अंतर का ज्ञान नहीं है, जो काँच और मणि को समान मानते हैं, जो सुगंधित चंदन और निर्गंध पलाश को समान और राँगा तथा चाँदी को सदृश निश्चित करते है, जो बिना विचार किए गुण तथा दोष और मूर्ख तथा पंडित को पृथक्-पृथक् निर्णय करके नहीं बता पाते, जो प्रेम और नियम, हित (सरलता) और चतुरता (कुटिलता) के भेद-भाव का कुछ भी विचार नहीं करते, उनके पास एक क्षण के लिए भी नहीं रुकना चाहिए ।

व्याख्या—मही० = मट्ठे के कई प्रकार होते हैं । मथित, उदस्वित्, तक्र, छच्छिका । द्विगुणाम्बुश्वेतरसमर्द्धोदकमुदस्वितम् । तक्रं त्रिभागभिन्नाम्बु केवलं मथितं स्मृतम् ।।—धन्वंतरि । तक्रं ह्युदस्विन्मथितं पादाधाम्बु निर्जलम् ।। —अमरकोश । जिसमें से मथने के अनंतर नैनू (नवनीत = मक्खन) निकाल लिया जाय वह 'मट्ठा' 'मही' है । 'दूध' में नवनीत अंतःप्रविष्ट रहता है । इस प्रकार 'मही' सारहीन होता है और दुग्ध सारवान्, दोनो एक दूसरे के विपरीत

होते हैं। यों वैद्यक में 'मट्ठा' ग्राही होता है और दूध सारक। दोनो का वर्ण मिलता है, अतः बाहरी रूप पर ही जिसकी दृष्टि रहती है वह भीतरी तत्त्व नहीं जानता और दोनो के बाहरी रूप से ही दोनो को बिना ध्यान दिए एक मानता है। यों मान सकते हैं कि यह एक प्रकार का 'पानी' ही है और 'दूध' में पानीय अंश के अतिरिक्त और भी कुछ है। नीर और क्षीर विवेक हंस करता है। बगुला अपनी शांत निश्चल मुद्रा से धोखा उत्पन्न करके नीर में से मछली को निकालकर खाता है। हंस दुग्ध और पानी के मेल में से केवल दुग्ध लेता है और बगला भी पानी में मिली मछली लेता है। दोनो में इस प्रकार एकता होती है, रंग भी दोनो का उजला होता है। एक विवेकी है, दूसरा अविवेकी। ऊपरी रंग और व्यवहार से एकता मानने में भारी भूल हो जा सकती है। कोकिल० = कोकिल का रंग श्याम होता है और काक का रंग भी श्याम होता है। पर कोकिल की वाणी कर्णप्रिय होती है और काक की कर्णकटु। दोनो का केवल बाहरी रंग देखकर यदि दोनो को एक मान लिया जाय तो औचित्य नहीं। 'काक' सर्वभक्षी होता है—'सर्वभक्षीति वायसः;' 'कोकिल' का भक्ष्य उसकी भाँति निषिद्ध नहीं होता। काँच साधारण शीशा और मणि महार्घ रत्न। दोनो देखने में एक से। यदि केवल बाहरी रूप पर ही विचार किया जाए तो दोनो एक से लगेंगे। पर उनके मूल्य में महान् अंतर कोई पारखी कोई जौहरी ही समझ सकता है कि काँच क्या है और मणि क्या है। चंदन = चंदन में दो गुण होते हैं—सुगंध और शीतलता। ढाक या पलाश में न सुगंध होती है न शीतलता। 'निर्गंधा इव किंशुकाः' प्रसिद्ध है। वैद्यक में पलाश गरम कहा गया है। दोनो एक दूसरे के विरुद्ध हुए। पर चंदन और पलाश की लकड़ी मिलती-जुलती होती है। दोनो को देखकर केवल रंग से कोई बिना विचारे एक ही कह दे सकता है। इसी प्रकार राँगा और चाँदी में भी रंग-रूप मिलता है राँगे के सिक्के चाँदी के सिक्कों के स्थान पर बहुत से चलाए जाते हैं। प्रायः देहाती दोनो का ठीक-ठीक भेद नहीं कर पाते। चाँदी में राँगे को मिलाकर 'सूबर' (मिश्रित धातु) भी बना देते हैं। शुद्ध चाँदी में प्रायः ठग सुनार राँगे का मेल देकर सूबर बनाकर ग्राहक को ठग लेते हैं। राँगा सस्ता और चाँदी महँगी होती है। 'तोलै' किया भी इन दोनो के साथ सार्थक

है। तौल का कार्य इनके संबंध में बहुत अधिक पड़ता है। 'मही-दूध' के साथ 'गनै' क्रिया, जिसका अर्थ 'गुनै' है, विचार करे। अथवा मही औ दूध के बहुत से प्रकार-भेद हैं इसलिए 'गिनना' का प्रयोग है। 'हंस-बक' में ज्ञान का या विवेक का विषय होने से 'जानै' क्रिया प्रयुक्त है। 'कोकिल-काक' में बोध का प्रसंग होने से 'ज्ञान' शब्द रखा है। 'काँच-मनि' में प्रमाण या मान; मूल्य की परख की स्थिति होने से 'प्रमानै' क्रिया है। मूर्ख और पंडित के प्रसंग में विवेचन की स्थिति होने से 'ब्यौरि' का व्यवहार है। 'प्रेम-नेम' और 'हित-चतुरई' के लिए 'विचार' का व्यवहार है, सैद्धांतिक विषय होने के कारण। आचार और विचार दो ही साधन में मुख्य होते हैं। आचार का संबंध 'प्रेम-नेम' से और विचार का संबंध 'हित-चतुरई' से है। बिन० = 'विवेक' दो वस्तुओं में पार्थक्य का बोध करानेवाली वृत्ति को कहते हैं। गुण और दोष इतने विपरीत धर्म हैं कि साधारण से साधारण विवेक से भी दोनो का अंतर स्पष्ट हो जाता है। पर जो इसमें भी भेद न कर पाता हो वह सचमुच न जाने क्या मान सकता है। 'मूढ़' वह जो मोह में हो, अज्ञान जिसमें हो, 'कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढ' को मूढ़ कहते हैं। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'-ईश्वर को कवि कहते हैं, 'मनीषी' को कवि कहते हैं। यहाँ 'मनीषी' अर्थात् ज्ञानी के अर्थ में 'कवि' का व्यवहार है। अज्ञानयुक्त और ज्ञानयुक्त को एक ही समझना। प्रेम० = प्रेम में नियम नहीं होता, वह अनियम होता है। प्रेम या प्रीति दयारसार्द्र अंतःकरणवृत्ति को कहते हैं। नियम से चलनेवाले को निर्दय होना पड़ता है, प्रेम में दया होती है, आर्द्रता होती है, एक में सरसता और दूसरे में नीरसता होती है। 'हित' प्रेम की उच्च भूमि है। 'चतुराई' नेम की निम्न भूमि है। जो इनके पार्थक्य को मन में जानते ही नहीं। अन्य का पार्थक्य मन में आता है, पर विवेचन ठीक नहीं होता। यहाँ पार्थक्य अंतःकरण में आता ही नहीं। सपनेहूँ० = प्रत्यक्ष इनके निकट रहने से तो बहुत बड़ी हानि है। स्वप्न में भी इनसे हानि है। स्वप्न में भला क्या हानि होगी। इनका स्वप्न भी प्रभाव डालता है। स्वप्न सद्‌वृत्ति हो तो उसका उतना प्रभाव नहीं पड़ता, पर असद्‌वृत्ति स्वप्न में भी प्रभाव डालती है। प्रभाव की अधिकता के लिए एक क्षण कहा है। एक क्षण का प्रभाव भी यहाँ क्षणिक न होकर स्थायी होने लगता है। देर तक रहने से अधिकाधिक

प्रभाव पड़ने की संभावना है। यदि 'आनंदघन' रहना है तो इनका संसर्ग-त्याग होना श्रेयस्कर है। इनके संपर्क से 'निरानंद' की ही स्थिति हो सकती है।

पाठांतर—बक–बग। सम–सँग।



